श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सुख यहाँ (उत्तरार्ध)

(विपत्ति में हमारा सच्चा मित्र)

"कहाँ तो धन है, कहाँ विषय चोर है, कहाँ मित्र है, कहाँ शत्रु है, कहाँ चतुराई है। जबकि मेरे तन्मूलक आशा ही नहीं है, तब मैं तो अपने में अपने अर्थ अपने आप सुखी होऊँ ।।"

प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द महाराज'

प्रकाशक

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)
पिन-२५०००१

चतुर्थ संस्करण : ११०० सन् १९९४ मूल्य : ३५/-

सम्पादकीय

आदरणीय सत्धर्म खोजी बन्धुवर !

सुख यहां के एक व दो भाग का तृतीय संस्करण छपने के बाद तुरन्त ही यह तीसरा-चौथा भाग का तृतीय संस्करण आपके स्वाध्याय हेतु प्रस्तुत है।

परम पूज्य गुरुवर्य्य सहजानन्द जी महाराज ज्ञान ध्यान तप मे लीन परमवीतरागी सन्त थे, वे कुशल शिक्षक भी थे, उन्हें महामहोपाध्याय कहना ही सार्थक है। उनको टायर पर चलने वाले वाहनों की सवारी का त्याग था। जब-जब बाहर जाना होता था उन्हें स्टेशन पर छोड़ने के लिये उनके भक्तों की भीड़ भी साथ चलती थी। यदि गाड़ी में देर होती थी तो प्लेटफार्म पर ही पढ़ाई का काम शुरु हो जाता था।

'अच्छा तो खोलो गुणस्थान का नक्शा' कैसे वे शब्द थे क्या पता था ऐसा महान् क्षयोपशम ज्ञानी, जिन धर्म का मर्मी इतनी अल्प आयु में काल-कवलित हो जायेगा और लाखों, करोड़ों स्वाध्याय प्रेमियों को अनाथ व अबोध छोड़ जायेगा। श्रुतकेवल सदृश आपका ज्ञान युग-युग में जयवन्त होउ। निरन्तर जिनवाणी लिखते-लिखते जैसा सम्यक् मरण आपका हुआ हमारा भी हो।

आपने ६३ वर्ष की अल्प आयु में जो कुछ हमें दिया है वह हमसे कई भवों में भी पूर्ण न हो सकेगा। समस्थान सूत्र के ७ भाग में जिनवाणी में सारे आंकड़े दिये हैं, फिर भी वे उनकी भाषा में अपूर्ण ही हैं। कहां से कलैक्शन किया, कैसे किया, अपनी समझ से बाहर है। नमूना देखिये— समस्थान सूत्र षष्ट स्कन्ध २९वां अध्याय।

'मानव से मतलब उस मनुष्य से नहीं जो अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को ऐन्द्रियिक साधनों के बटोरने में खोता रहता है, किन्तु उस मुमुक्षु, संसार से भीरू, सच्चे अर्थों में मानव कहलाने वाले विवेकी व्यक्ति से है जो संसार से विमुख हो शान्ति सलिल से समन्वित अध्यात्म समुद्र में गोते लगाता है और उसमें से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप रत्नों को खोज निकालने की चेष्टा करता है।

ये ही रत्न रत्नत्रय कहलाते हैं। मुमुक्षु मुक्ति-मन्दिर के पथ पर इनके सहारे बढ़ता है और अन्त में अपने मंजिले-मकसूद (अन्तिम ध्येय) को हासिल कर लेता है। इस रत्नत्रय की प्राप्ति में उनतीस बातें सहायक होती हैं। इन्हीं को अंग या साधन कहते हैं। अंगों के नाम इस प्रकार हैं:—

सम्यग्दर्शन के आठ अंग अलग-अलग इस प्रकार हैं:—

(१) निःशंकित अंग (२) निःकांक्षित अंग (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ़ दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण अंग (७) वात्सल्य अंग (८) प्रभावना अंग।

सम्यग्ज्ञान सम्बन्धी आठ अंगों के नाम इस प्रकार हैं:—

(९) शब्द शुद्धि (१०) अर्थ शुद्धि (११) उभय (शब्दार्थ) शुद्धि (१२) काल अंग (१३) विनय अंग (१४) उपधान अंग (१५) बहुमान अंग (१६) अनिह्नव अंग।

सम्यक् चारित्र सम्बन्धी तेरह अंगों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१७) मनोगुप्ति (१८) वचनगुप्ति (१९) कायगुप्ति (२०) ईर्या समिति (२१) भाषा समिति (२२) ऐषणा समिति (२३) आदान निक्षेपक समिति (२४) प्रतिष्ठापना समिति (२५) अहिंसा महाव्रत (२६) सत्य महाव्रत (२७) अचौर्य महाव्रत (२८) ब्रह्मचर्य महाव्रत (२९) परिग्रह महाव्रत।

इस क्षायोपशमिक भाव को षटखण्डागम् में गुण कहां है। अतः हे नाथ ! आप तो सत् द्रव्य हैं आपकी पर्याय में पूर्ण परमात्म स्वरूप की स्थापना करके मेरा शत-शत वन्दन।

हे भव्य जीवो ! आप इस सत् साहित्य का मनन चिन्तन करके इस भव में प्राप्त करने योग्य समयक्त्व को प्राप्त करके शीघ्र अति शीघ्र जन्म-मरण के घोर दुखों से छुटकारा पावें।

सान्तौल हाऊस, ठटेरवाड़ा,
मेरठ शहर।

सम्पादक
डॉ० नानकचन्द जैन 'समरस' MDH

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री १०५ क्षु० गुरुवर्य्य मनोहरजी वर्णी

सहजानन्द महाराज

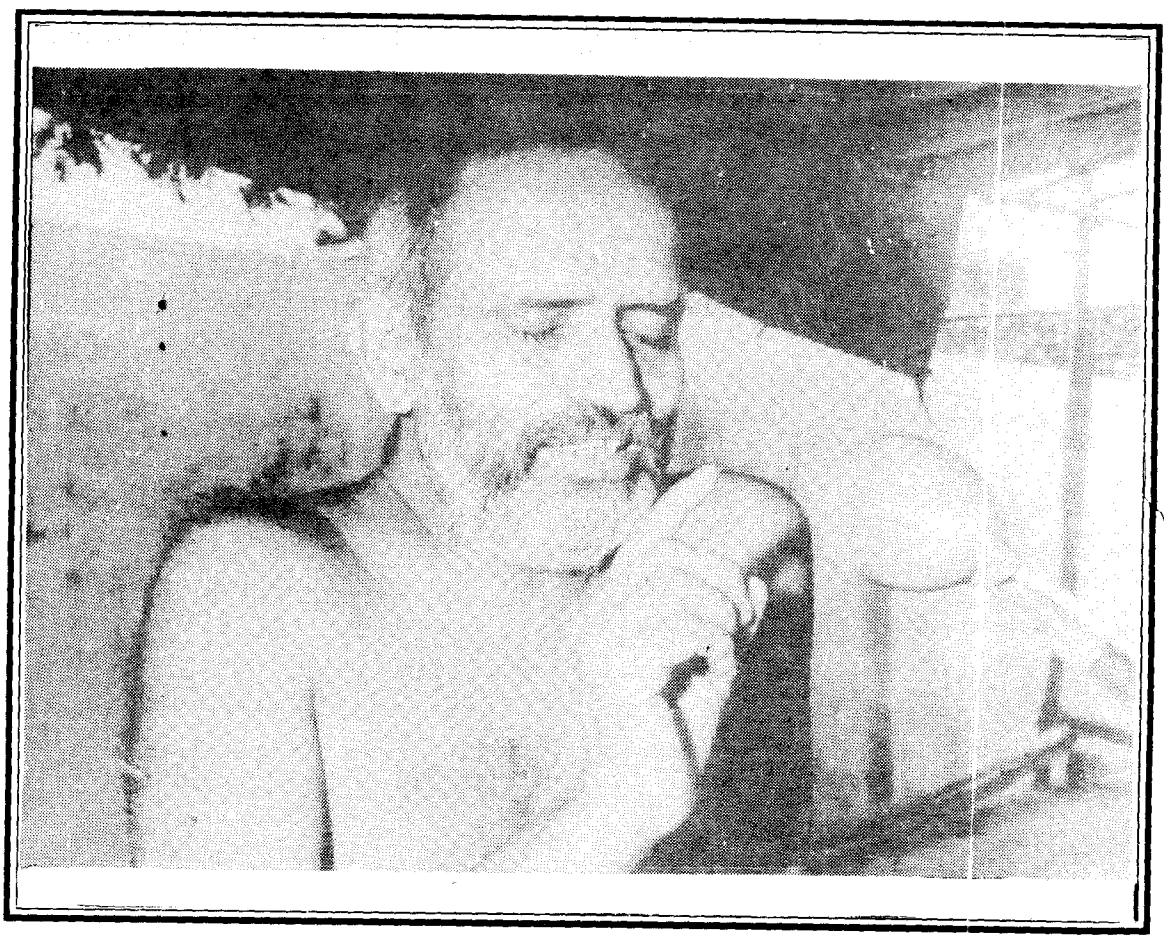

जन्म स्थान–दुमदुमा (जिला टीकमगढ़), बुन्देलखण्ड (म० प्र०)
जन्म तिथि–कार्तिक कृष्णा दशमी ब्रह्ममुहूर्त सं० १९७२, सन् १९१५
साहित्य निर्माण–१९४२ से १९७८ तक, ग्रन्थ संख्या लगभग ५००
शरीरत्याग काल–३० मार्च, सन् १९७८ त्यागी भवन सदर मेरठ।

सुख यहां

क्या—कहाँ पृष्ठ

चतुर्थ अधिकार—नैराश्य (आशा का त्याग) प्ररूपक अधिकार

१. ज्ञान और सुख अन्य स्थान में नहीं है, मैं ही ज्ञान हूं, मैं ही सुख हूं। १

२. मैं अजन्मा व अमर हूं अतः जीने की क्या आशा करूं। जीने की आशा का त्याग कर सुखी होऊं। ३

३. मैं अदृश्य और ज्ञायकस्वरूप हूं, इस असार पृथ्वी पर क्या कीर्ति चाहूं। कीर्ति की आशा के त्याग होने पर ही स्वतन्त्रता है अतः कीर्ति की आशा त्याग कर अपने में अपने आप सुखी होऊं। ५

४. बन्धन रहित मुझ आत्मा के विषयों की आशा बन्धन है। उसके त्याग होने पर ही स्वतन्त्रता व सुख है। ७

५. आशा का त्याग ही मेरा बन्धु, मित्र, रक्षक, गुरु, पिता है, उस ही का शरण सच्चा है। ९

६. जिस आत्मा के आशा के अभाव या मोक्ष में भी आशा का अभाव है उसकी लोक में क्या तुलना हो सकती है। ११

७. जिनकी तृष्णा नष्ट हो गई है उनके कोई भी पदार्थ न तो क्लेश देने वाले हैं न सुख देने वाले हैं, इसलिये पदार्थ हो या न हो मैं आशा रहित हुआ स्वयं सुखी होऊं। १३

८. तृष्णालु आत्मा के सदा आकुलता रहती है अर्थ हो चाहे न हो अतः बुद्धि का सार यही है कि जो इच्छा न होवे। १५

९. क्या किसी भी प्राणी का काम पूर्ण हो पाया। नहीं हुआ तो फिर नियम से सर्व आशा को त्यागकर मैं सुखी होऊं। १७

१०. निवृत्ति में एकपना है तथा वह निश्चय से शान्ति मार्ग है। १९

११. लोभ से पाप उत्पन्न होता है, उससे क्लेश होता है, अतः तृष्णावान सदा आकुलित रहता है किन्तु मेरा स्वभाव तृष्णा रहित है अतः मैं वीततृष्ण होऊं। २३

१२. तृष्णा बंधन व संसार है तथा तृष्णा रहितपना ही मुक्ति व स्वतन्त्रता है। २६

१३. तृष्णा होने पर अथवा न होने पर दोनों अवस्थाओं में वस्तुओं का वियोग व्यर्थ है। २८

१४. मेरा पुण्य, काम व धन से कुछ भी पूरा नहीं पड़ता, अतः मैं उनको त्यागकर सुखी होऊं। २९

१५. मैं अनेक भावों में सांसारिक विभूतियों को प्राप्त कर भी सन्तुष्ट नहीं हुआ किन्तु मेरा अनर्थ ही हुआ। ३२

१६. दिखने वाला यह सब पुण्य व पाप का फल है किन्तु चैतन्य चमत्कार आत्मा की अलौकिक विभूति अदृश्य है। ३३

१७. मेरी जन्म-जन्म में पार्जित यश व सम्पत्ति आज नहीं है, अतः विपत्ति का कारण यश सम्पत्ति मुझसे दूर ही रहो। ३५

१८. निज आत्मा की चिन्ता भी चिन्ता है व सहज आनन्द की बाधिका है। ३८

१९. धन, विषय, मित्र, शत्रु, चतुराई ये सब नहीं है, यदि मेरे तन्मूलक आशा ही नहीं है। ४४

२०. भोगों से विरक्ति निर्वाण तथा उनमें गृद्धता बन्ध है। वह निर्वाण मेरे ही आधीन है। ४७

२१. भोग व मोक्ष को न चाहने वाले इच्छा रहित पुरुष दुर्लभ हैं। निश्चय से इच्छा रहित आत्मा ही आनन्दमय है। ४९

२२. ज्ञान में लीन आत्मा के धर्म अर्थ, काम, मोक्ष, जन्म-मरण आदि में कहीं भी चिन्ता नहीं है, अतः ज्ञान-स्वरूप निज आत्मा में स्वयं सुखी होऊं। ५२

क्या — कहाँ	पृष्ठ
२३. सम्पत्ति व कीर्ति के होने पर भी उनके त्याग के बिना सुख नहीं होता, अतः त्यागमय निज आत्मा में सुखी होऊं ।	५५
२४. मोक्ष व भोग की इच्छा करने वाला शुभ व अशुभ का आलंबन करे किन्तु सर्व इच्छा रहित अपने में ही विश्राम करता है ।	५७
२५. मैं आत्मा से देह आदि पर द्रव्यों को पृथक करके केवल ज्ञान में ही ठहरूं तथा भोग यश की इच्छा को नष्ट करूं ।	५९
२६. यह (क्षयोपशमिक) ज्ञान व दर्शन मेरा स्वाभाविक ज्ञान दर्शन नहीं है । मेरे (स्वभाव) में तो अन्तर्जल्प भी नहीं है ।	६०
२७. यश व वैभव तो अशान्ति रूपी अग्नि का ईंधन ही है, अतः समस्त आशा को छोड़कर मैं सुखी होऊं ।	६२
२८. दुःख का कारण आशा ही है मैं किसे चाहूं ? वास्तव में मेरा कोई भी पदार्थ नहीं है ।	६२
२९. बाहर-बाहर भ्रमण करना व्यर्थ है क्योंकि यह प्रकट ज्ञान ही तत्व है, सार है, इसके अतिरिक्त अन्य मेरा कुछ सहाय नहीं है ।	६५
३०. अन्य वस्तु नहीं किन्तु आत्मा का एकत्व ही अमृत है ।	६७
३१. राग और द्वेष के त्याग होने पर कर्म मेरा कार्य करेगा तथा उनका त्याग केवल ज्ञानमात्र रहना ही है ।	६९
३२. जब पदार्थ के सद्भाव होने पर भी राग हेय है तो उसके अभाव में किया गया राग क्या हेय नहीं है ? यदि पदार्थ के अभाव में भी राग हो तो खेद की बात है ।	७१
३३. शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थ की चिन्ता ही पाप का उदय है ।	७२
३४. मोही आत्मा पर की आशा में जीवित रहता है किन्तु बुद्धिमान स्व की स्वतन्त्रता को समझता है । निश्चय से स्वातन्त्र्य के बिना सुख नहीं ।	७४
३५. परमात्मा की भक्ति में भी आ गया हुआ ध्यान स्व का ही तो भाव है, अतः सिद्ध है कि स्व ही स्व के लिये शरण है ।	७६
३६. अन्य जीवों को अपने अनुकूल करने से क्या ? निश्चय से अपने को ही अपने अनुकूल करने में सत्य सुख है ।	७७
३७. सहज ज्ञान में कहीं भी हानि नहीं है किन्तु क्योंकि वह दशा अभी नहीं है, अतः चिन्ता के निरोध द्वारा अपने से ही सुखी होऊं ।	८०
३८. निश्चय से सर्व का त्याग ही सुख है किन्तु मैं सर्व संग्रह करता हूं तब क्या दुःख के उपाय से सुख हो जायेगा ।	८१
३९. परपदार्थों के संग्रह में लीन आत्मा बद्ध है और निज आत्मा में स्थित मुक्त है । स्वस्थ आत्मा के अग्राह्य का अग्रहण व ग्राह्य का ग्रहण स्वमेव है ।	८३
४०. सुख के लिये परपदार्थ की प्रतीक्षा करना ही सुख की हत्या है ।	८५
४१. जहां पर आशा और प्रतीक्षा नहीं है वह ही उत्तम त्याग है । वह परपदार्थ के अलक्ष्य में है तथा वह अलक्ष्य स्व में स्थित रहने में है ।	८६
४२. भोग व योग में शान्ति नहीं है, परन्तु सर्व इच्छाहीन आत्मा ही शान्ति का आधार है ।	८८
४३. मुझ पर कृपा करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है, मैं ही अपने पर कृपा करने में समर्थ हूं ।	९०
४४. सुख आशा का अभाव ही है तथा दुःख मात्र आशा ही है । स्व में दृष्टि होने से कोई आशा नहीं होती ।	९२

क्या—कहाँ

पृष्ठ

४५. आशा सरित इन्द्र भी दुःखी है तथा नष्ट हो गई है आशा जिसकी ऐसा निष्परिग्रही साधु सुखी है। ९४

४६. जब आशा नष्ट हुई तब सिद्धि ही है, क्योंकि उस समय अभिलाषा के योग्य कुछ भी नहीं है। ९५

४७. जब तक किसी भी पदार्थ में मूर्च्छा है तब तक निःशल्यता नहीं है तथा मूर्च्छा निज आत्मा में रहने में नहीं है। ९७

४८. प्राणियों को शरीर और भोगों के सम्बन्ध से ही दुःख होता है इसलिये मैं किसके संयोग को चाहूं। ९८

पांचवाँ अधिकार—स्वास्थ्य प्ररूपक अधिकार

१. निज आत्मा में उपयोग द्वारा स्थित रहने वाला आत्मा स्वस्थ है। निश्चय से सुख स्वास्थ्य (स्व में स्थित) परिणाम में है राग में नहीं। १००

२. इच्छा से चिन्ता व चिन्ता से क्लेश होता है, परन्तु जिसकी इच्छा नष्ट हो गई है ऐसा आत्मा सुख का सागर है। १०१

३. स्वास्थ्य स्वयं सुख स्वरूप है और वह आकिञ्चन्य दृष्टि से प्राप्त होता है। १०५

४. जिस समय जो करने में आवे, आवे तो भी वह मेरे द्वारा नहीं किया गया है, क्योंकि मैं तो ज्ञप्तिमात्र कार्य करने में समर्थ हूं। १०८

५. शास्त्रों को पढ़कर भी सबको भूले बिना स्वास्थ्य नहीं होता, अतः मैं सर्व कल्पनाओं को छोड़कर अपने में अपने लिये स्वय सुखी होऊं। ११०

६. जो नेत्र खोलने व बन्द होने तक के कार्य को व्यर्थ जानकर प्रवृत्ति में आलसी हो जाता है वही स्वस्थ व सुखी है। ११२

७. यदि साक्षात् परमात्मा भी उपदेश देवे तो भी स्वास्थ्य भाव के बिना कल्याण नहीं होता क्योंकि अपने सुख-दुःख का मैं स्वयं जिम्मेदार हूं। ११५

८. यह समस्त विश्व भी सुख के अंशमात्र का भी कारण नहीं है, क्योंकि सुख, ज्ञान और त्याग का फल है। ११८

९. एकाकी निज आत्मा पर ही दृष्टि होओ क्योंकि अद्वैत में विभ्रम, जन्म, मृत्यु, विपत्ति कुछ नहीं है। १२३

१०. मैं जिस किसी भी अवस्था में होऊं उसी अवस्था में यत्नपूर्वक अपने सत्य स्वरूप का आग्रह करके शान्त होता हुआ सुखी होऊं। १२८

११. कोई भी काल व देश हो निश्चय से पर के गुणों से मेरी कोई पूर्ति नहीं होती क्योंकि मेरा स्वास्थ्य शुद्ध निज आत्मा में वृत्ति है। १३४

१२. चैतन्यमात्र मुझ आत्मा के कहां शास्त्र, कहां चर्चा, कहां ज्ञान, कहां कल्पना है तो मैं अपने से बाहर क्यों दौड़ूं। १३५

१३. चैतन्यमात्र मुझ आत्मा के भोग, तृप्ति, तृष्णा, बन्धन, अज्ञान, विपत्ति कहां है। १३८

१४. दुःख आ पड़ने पर भी ज्ञान से मेरा उपयोग च्युत न होवे इस हेतु से काय क्लेश में भी स्व में स्थित रहना ही मेरा उद्देश्य है। १३९

१५. निज आत्मा की ज्ञप्ति के बिना ध्यान नहीं क्योंकि शुद्धात्मा (परमात्मा) की उपासना भी निज आत्मा की उपासनामय है। १४०

१६. यहां सर्वत्र जानना रहो परन्तु स्व में स्व की बुद्धि से स्व का दर्शन होये तथा उसी उपाय से स्व का आचरण होओ। १४३

१७. संसार में सोये हुये व पागल की दशाएँ भ्रमरूप कही जाती हैं परन्तु वास्तव में निज आत्मा से च्युति होने पर सब ही दशाएँ भ्रमरूप हैं। १४८

क्या—कहाँ	पृष्ठ
१८. अव्रती व्रतों में प्रवृत्ति में प्रयत्न करे किन्तु व्रती व्रतों में ही सन्तुष्ट न हो क्योंकि व्रत पालन का प्रयोजन ज्ञानभाव में स्थित होना है।	१५२
१९. व्रत व अव्रत भाव से पुण्य व पाप होते, मोक्ष दोनों ही भावों से शून्य अवस्था है तथा वह शून्यता ज्ञानमात्र निज आत्मा में वृत्ति है।	१५५
२०. आत्म चर्चा को सुनते बोलते भी ज्ञान भावना के बिना मुक्ति नहीं होती।	१५७
२१. वास्तव में मन वचन काय की प्रवृत्तियों के ग्रहण मे संसार है, अतः उन प्रवृत्तियों से पृथक ज्ञान में रमण कर सुखी होऊं।	१५९
२२. मैं ज्ञानमय शिवस्वरूप आत्मा को ही बोलूं, चाहूं, पूछूं व इस ही में विहार करूं।	१६१
२३. भिन्न पदार्थ में अपनेपन की बुद्धि स्व से च्युत हुआ मैं बन्धन को प्राप्त होता हूं, अतः परपदार्थ से च्युत हो मैं आत्मा में ही अपनेपन की बुद्धि से शान्त होऊं।	१६६
२४. स्व में स्थित आत्मा को देखने वाले मुझे उस समय राग द्वेष ही नहीं है फिर कहां दुःख, कहां शंका व कहां शल्य ?	१७१
२५. भ्रम से मन क्षुब्ध होता है उससे व्यग्रता होती है। भ्रम के दूर होने पर व्यग्रता नहीं होती।	१७४
२६. जो मुझमें है उसे क्या छोड़ सकूं तथा जो मुझमें नहीं निश्चय से उसे क्या ला सकूं अतः मैं तो जानता ही रहूं।	१७७
२७. जीव व अजीव के भिन्न-भिन्न रूप से ज्ञान होने पर परपदार्थ से निवृत्ति होती है, उससे स्व में स्थिति होती है, उस ही से शान्ति है।	१८१
२८. परपदार्थ के उपयोग से अलग होने वाली क्षोभरहित अवस्था के कारण स्व में स्थित रहने वाले पुरुष के सहज आनन्द विराजमान है। वास्तव में अपने एकत्व स्वरूप में नियत होना ही स्वास्थ्य है।	१८४
२९. अनुभव अभ्यास व अध्ययन से निज और पर में यथार्थ भेद करने वाला आत्मा मोक्ष सुख को जानने वाला होता है।	१८६
३०. अन्य का उपकार करने वाला भी यदि स्व के लक्ष्य से रहित है तो परोपकार में भी दुःखी ही होता है इसलिये स्व का लक्ष्य न छूटे।	१८९
३१. द्वन्द्व, जन्म व मरण रहित शान्त, अद्वैत, ज्ञानमय, ममता रहित निज आत्मा में स्थित स्थिर होकर सुखी होऊं।	१९३
३२. ज्ञान स्वभावी मुझ निज आत्मा के ज्ञात होने पर सहज ही सर्व ज्ञात हो जाता है तथा उस ज्ञान स्वभाव में स्थिति होने पर सुख ही है।	१९५
३३. कल्पना रूप चंचल तरंगों से मुक्त हुआ शान्त पुरुष स्वयं सुखी है।	२००
३४. यह सुख है यह दुःख है ऐसी कल्पना निश्चय से अज्ञानी के ही होती है।	२०४
३५. मनुष्यत्व, कुल, बुद्धि, बल, सत्संगति, उपदेश, व्रत ये सब निज आत्मा में स्थिति के लिए ही हैं अतः मैं अपने में स्थित होऊं।	२०८
३६. रागी प्राणी की मृत्यु जन्म के लिये होती है किन्तु वीतराग आत्मा की मृत्यु मुक्ति के लिये होती है।	२०९
३७. जिस दिन तत्व का बोध हो वास्तव में वही नूतन दिन है, वर्ष का नया दिन नहीं तथा वह बोध निज आत्मा की वृत्ति में ही है।	२११
३८. जो स्वयं बुद्धि या वासना के बिना करने में आता है उसमें विपत्ति नहीं है किन्तु करने की वासना व प्रयत्न बुद्धि में दुख ही है।	२१२
३९. मनुष्य संयम से धीर, गंभीर व शल्य रहित होता हुआ सुखी होता है।	२१४

क्या—कहाँ पृष्ठ

४०. जो बुद्धिमान कषायों से जितना दूर है वह उतना ही धीर व सुखी है। २१७

४१. राग द्वेष के उदय में यदि मैं वह गया तो मैंने अपने ऊपर क्या दया की ? २२१

४२. यह चेष्टा क्या बंध करने वाली नहीं है ? निश्चय से अचेष्टित भाव में रहकर मैं अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊं। २२३

४३. दुःख, द्वन्द्व, सन्तोष, विपत्ति, तृष्णा ये सब अनर्थ अन्य पदार्थ के संयोग से होते हैं। निश्चय से एक पदार्थ में कुछ भी अनिष्ट नहीं है। २२५

४४. कषाय व विषयों के त्याग में अन्तरंग व बहिरंग दोनों प्रकार का स्वास्थ्य है क्योंकि वास्तव में ज्ञानमात्र स्थिति रहना ही कषाय त्याग है। २२६

४५. पर जीवों से अपने को शरण मानना विनाश और उनसे अपने को अशरण मानना सुख है। वास्तव में अपने लिए आप ही शरण है। २२७

४६. अन्य पदार्थ में आत्मबुद्धि होनी ही दुःख का कारण है पर पदार्थ दुःख के कारण नहीं है, क्योंकि पर तो पर ही है। २३३

४७. अपने आप का लक्ष्य होना एक महान् दुर्ग है उस स्वलक्ष्य दुर्ग में रहने वाले के कोई बाधा नहीं है। २३७

४८. अपने आप पर लक्ष्य होना अमृत समुद्र है उसमें अवग्राहन करने वाले के संताप नहीं होता। २३८

४९. पाप के उदय में हानि नहीं है किन्तु निज आत्मा के पापमय होने में हानि है। २३८

५०. पुण्य के उदय में मेरा लाभ नहीं है किन्तु निजात्मा के पुण्यमय होने पर लाभ है तथा वह पुण्य निजात्मा में रहना ही तो है। २३९

५१. जो मैंने पहले चेष्टा की वह अपने कषाय से होने वाली चेष्टा है, कषाय रहित भाव तो स्व में रहना ही है। २४०

५२. जितनी भी मन बचन काय सम्बन्धी की हुई चेष्टा है वह इच्छा ही तो है अर्थात् इच्छा का व्यक्त स्वरूप है उससे दुःख होता है। २४२

५३. जिस प्रकार स्वप्न में देखा हुआ दृश्य जागने पर भ्रमरूप प्रतीत होता है उसी प्रकार सर्वदा सर्व चेष्टा भ्रमरूप समझना चाहिये। २४३

छठा साम्य—प्ररूपक अधिकार

१. सर्व पदार्थ सर्व प्रकार सभी से भिन्न हैं, उन पदार्थों में करने योग्य कार्य है ही क्या ? ये सब स्वयं अपने में रहे मैं स्वयं अपने में रहूं। २४७

२. ये सब प्राणी अपनी कषाय से चेष्टा कर रहे हैं, मेरे चाहने वाले कोई नहीं है, इसलिये मैं किनमें हर्ष व किनमे शोक करूं ? २४७

३. जो दिखने योग्य है वे जानते नहीं तथा जो जानने वाले हैं वे स्वभाव से विकल्प शून्य हैं, अतः मैं किससे बोलूं। २४८

४. ये सब स्तुति करने वाले क्षणिक हैं। मेरी स्तुति होती है ऐसा मानने वाला भी क्षणिक है। २४८

५. स्तुति जिस घटना के आश्रय से की जाती है वह घटना भी क्षण-भंगुर है, स्तुति का शब्द भी क्षण-भंगुर है, फिर मेरी न घटना है न शब्द है। २४८

६. काल अनन्त, लोक असंख्यात प्रदेशी व जीव अनन्त हैं फिर कब-कब तक कहां-कहां पर कौन-कौन प्राणी स्तुति करेंगे, अतः प्रशंसा के विकल्प को छोड़कर सुखी होऊं। २४९

७. अपने गुणों में परिणमन करते रहने वाले समस्त प्राणी अपने लिए अपनी क्रिया को करते हैं, भ्रम से विमोहित होकर मैं अपने आपको क्यों घातूं ? २४

क्या—कहाँ	पृष्ठ
८. पुण्य, पाप, सुख-दुःख, चेष्टा, वचन, कल्पना, सब विपत्तियां पर निमित्त बिना नहीं होती, अतः मैं परदृष्टि को छोड़ूं ।	२५०
९. सम्पत्ति अथवा विपत्ति कुछ भी हो मैं तो ज्ञानमात्र हूं सम्पत्ति और विपत्ति ये दोनों मेरी नहीं हैं फिर क्यों इनमें तोष व रोष करूं ।	२५०
१०. अपकीर्ति अथवा कीर्ति कुछ भी हो मैं ज्ञानमात्र हूं वे दोनों मेरे नहीं हैं फिर मैं यश में क्या तोष तथा अपयश में क्या रोष करूं ?	२५२
११. जीवन-मरण कुछ भी हो मैं तो ज्ञानमात्र हूं वे दोनों मेरे नही हैं फिर जीवन में क्या तोष करूं व मरण में क्या रोष करूं ?	२५३
१२. माया में (क्षणिक पर्याय में) रहने वाले लोग मुझ पर खुश हों अथवा रुष्ट, मुझ ज्ञानशील आत्मा की क्या हानि है ?	२५५
१३. ज्ञान में लीन पुरुष ज्ञानी व माया में लीन अज्ञानी है, अज्ञानी की निन्दा करने वाला होता है फिर अज्ञानी पुरुष के वचन में क्या रोष करूं ?	२५७
१४. लोग स्तुति व निन्दा दृश्यमूर्ति की ही करते हैं, इस अमूर्त चैतन्यमय मुझ आत्मा की नहीं । मुझ गुप्त ब्रह्मस्वरूप आत्मा की न निन्दा है न स्तुति है ।	२५८
१५. प्रशंसा से मेरा कोई लाभ तथा निन्दा से कोई हानि नहीं है, मैं तो केवल विकल्प से ही अपने को बर्बाद कर रहा हूं ।	२५९
१६ मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान के सिवाय अन्य क्या करता हूं तो अब यहां क्या छोड़ूं क्या ग्रहण करूं ?	२६१
१७. भ्रमरहित ज्ञानी की संसार ढोने वाले मूढ़ के साथ समानता नहीं है। निश्चय से परपदार्थ की वांछा से रहित पुरुष सदा शान्त रहता है ।	२६३
१८. निश्चय से भ्रम के कारण राग द्वेषों में उपयोग रहने से यह राग द्वेष ही संसार है, अतः भ्रमरहित होता हुआ मैं शुद्ध शान्त आत्मा को जानूं व सुखी होऊं ।	२६४
१९. यह सर्व अन्तरंग व बाह्य जगत विनाशीक है वहां क्या हित है ? जानने के सिवाय अन्य कर्तव्य व्यर्थ है ।	२६६
२०. मैं अपने तत्व हूं, पर पदार्थ उन उन परपदार्थों के तत्व हैं फिर उनके संयोग व वियोग में क्यों हर्ष व खेद करूं ।	२६७
२१. मैं ज्ञान के द्वारा ज्ञानमात्र ही रहता हूं । मुझमें होने वाले अन्य गुणों तक का भी मैं साक्षात्कार करने वाला हूं, अतः मुझ आत्मा के क्षोभ नहीं ।	२६८
२२. आत्मा ज्ञान की चेष्टा से चेष्टारहित हो जाता है तथा निश्चेष्ट अवस्था में कृतकृत्यपना है ।	२३९
२३. ध्यान, स्तुति व यात्रा में मन वचन काय का खेद होता है किन्तु निर्विकल्प अवस्था में खेद कहां । अतः निर्विकल्प स्वरूप निज आत्मा में निज के द्वारा सुखी होऊं ।	२७१
२४. विषयों का चाहने वाला रक्त तथा उनका द्वेषी विरक्त है परन्तु साक्षी पुरुष न तो रक्त है न विरक्त	२७२
२५. निश्चय से किसका सुख-दुःख स्तुति निन्दा करने को कौन समर्थ है, फिर निज उपयोग से च्युत होने का परिश्रम क्यों करूं ।	२७३
२६. सुख और दुःख दोनों में ही आकुलता का अनुभव है, कोई अन्तर नहीं ।	२७५
२७. मनुष्य व स्त्री के सुरूप व कुरूप में क्या भेद है । उन चारों में अविवेकता समान है और वह सब आकुलता का ही तो कारण है ।	२७७
२८. क्षोभ व जड़ता को उत्पन्न करने वाली होने से सम्पत्ति व विपत्ति में क्या अन्तर है ।	२८१

क्या—कहां	पृष्ठ
२९. उपकार व अनुपकार दोनों कषाय की चेष्टायें हैं और पाप-पुण्य के फल समान ही तो हैं, मेरा तत्व तो ज्ञप्तिरूप अवस्था ही है।	२८१
३०. सब जीव अनन्त गुण सहित हैं स्तुति में किसी का पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता, अतः मैं अब उस परिश्रम को भी छोड़कर अपने में सुखी होऊं।	२८२
३१. मेरा प्रयोजन मुझसे अन्य कुछ नहीं है और उस प्रयोजन की सिद्धि भी अन्य से नहीं है, अतः मैं अपने में ही रहकर सुखी होऊं।	२८२
३२. वर्तमान में सिद्धों के भी पूर्व में औपाधिक भाव थे, अतः मैं किसकी क्या और कैसे निन्दा करूं।	२८३
३३. अन्य पुरुष की निन्दा से निर्मलता नहीं रहती बल्कि मालिन्य व शल्य ही बढ़ता है।	२८३
३४. प्रशंसा करने वाला पुरुष मुझमें क्षोभ करके भाग गया, उससे मेरा क्या हित है।	२८४
३५. निन्दा करने वाले ने मेरा क्या हर लिया। वह तो मुझे सावधान ही कर गया।	२८५
३६. ज्ञप्ति (जानना) ही मेरी क्रिया है, अतः मुझे प्रवृत्ति व निवृत्ति में क्यों आग्रह हो।	२८६
३७. मोह के होने पर पर्याय का ही मान अपमान होता है। पर्याय से भिन्न दृष्टि वाले आत्मा के क्षोभ नहीं होता।	२८७
३८. मैं परजीवों को शिक्षा देता हूं तथा परजीव मुझे शिक्षा देते हैं, यह मोह की ही चेष्टा है निश्चय से अन्य पदार्थ से अन्य पदार्थ में गुण नहीं आता।	२८८
३९. अपने योग्य द्रव्य क्षेत्र भाव की प्राप्ति होने पर शुद्धावस्था होती है, इसलिये अन्य भाव के विकल्प ही न हों।	२८९
४०. हित आत्मा का निर्मल परिणाम है, अतः मैं निर्मल स्वभाव रूप अपने में सुखी होऊं।	२९२
४१. आत्मस्वरूप को जानने वाला कैसे शत्रु मित्र हो सकता और आत्मा को न जानने वाला किसका मित्र-शत्रु होगा। निश्चय से मैं ही अपना मित्र व शत्रु हूं।	२९२
४२. अपने एकत्व स्वभाव की प्राप्ति का उपाय निश्चय से मेरी समता परिणाम है, इसके अतिरिक्त अन्य उपाय कभी भी न है, न हुआ, न होगा।	२९३
४३. साम्य भाव निर्मल विज्ञान है, साम्य भाव राग द्वेष से रहित परिणाम है।	२९५
४४. साम्यभाव मुनीन्द्रों के द्वारा भी पूजनीय और सर्व में उत्तम सार स्वरूप पद है।	२९६
४५. मान-अपमान, कीर्ति-अकीर्ति, सुख-दुःख में समानता देखने वाले के व्यग्रता नहीं है।	२९७
४६. प्रशंसा, निन्दा, विपत्ति सम्पत्ति ये सब आकुलता ही हैं, ज्ञानमात्र निज आत्मा में द्वन्द्वना का अभाव ही है।	२९८
४७. अन्य पदार्थ की परिणति से बाधा नहीं है, बाधा स्वयं के विकल्प से होती है।	२९९
४८. अन्य पुरुष की निन्दा अपनी प्रसिद्धि की इच्छा से उत्पन्न होती है, अतः नियम से निन्दा करने वाला निन्द्य ही है।	३०१
४९. सर्वजीव स्वभाव कर समान है, समान में ही मैत्री होती है तथा लोक में मैत्री से शान्ति मानी जाती है। निश्चय से शान्ति का मूल साम्यभाव में है।	३०२
५०. इष्ट पदार्थ के संयोग में यदि हर्ष न हो तो इष्ट के न रहने पर खेद भी न होगा।	३०३
५१. आत्मा के स्वरूप में अन्य किसी भी पदार्थ का सम्बन्ध ही नहीं है फिर वियोग की कथा ही क्या। अतः क्या हर्ष क्या खेद करूं।	३०५
५२. पदार्थ के बुद्धि के अनुसार कल्पना किये जाने पर सुख शान्ति का अभाव है तथा पदार्थ के अनुसार कल्पना किये जाने पर सुख शान्ति का मार्ग है।	३०६

क्रमांक	क्या—कहाँ	पृष्ठ
५३.	राग और मोह के होने पर हृदय में समता का अभाव हो जाता है, अतः मैं राग व मोह को छोड़ूं।	३०७
५४.	जिस समता परिणाम के होने पर आशायें नष्ट हो जाती हैं वह साम्य भाव सदा रहो।	३०८
५५.	श्रद्धा, चरित्र, आगमाभ्यास, ज्ञान तब सत्य है, जब समता परिणाम हो।	३०९

सप्तम वैराग्य—प्ररूपक अधिकार

१.	इस संसार में दृश्यमान सब पदार्थ विनाशीक है और निश्चय से पृथक-पृथक ही अपने में हैं और दुःख का निमित हैं अतः निन्द्य व हेय हैं।	३११
२.	मेरा कोई भी शरण न हुआ और न कोई होगा।	३१२
३.	मैं कभी भी किसी का शरण न हुआ और न हो सकूंगा।	३१४
४.	बन्धु, मित्र, पुत्र, स्त्री, नौकर, शिष्य, प्रशंसक किन्हीं से भी मेरा हित नहीं हो सकता।	३१६
५.	जो कोई भी राग आदि के दिखाने वाले हैं वे मरण होने पर साथ नहीं जावेंगे फिर किनके लिये खोटा करूं।	३१८
६-	जैसे यहां रहने वाले मुझ आत्मा को पहले भव में हुए अर्थ कुछ भी नहीं हैं उसी प्रकार अगले भव में मुझको ये पदार्थ कुछ भी नहीं होंगे।	३२०
७-	नगर में निवास दूर रहो, लोकैष राग वालों का संग दूर रहो, प्रशंसा करने वाले दूर होओ।	३२१
८-	उन सब बाह्य पदार्थों में मेरा सुख, सत्व और हित कुछ भी नहीं है।	३२४
९-	दुःख-सुख, विपत्ति-सम्पत्ति आदि वह सब कल्पना मात्र ही हैं, मैं उस भिन्न और खेद के निमित्त की क्यों कल्पना करूं।	३२५
१०-	पर के निमित्त से होने वाले सुखाभास को व परपदार्थ की परिणति को पाने के लिए मैं व्यर्थ क्यों क्लिष्ट होऊं।	३२६
११-	भोग आत्मा से च्युत होने के निमित्त व उनका अनुभव अशान्ति रूप है।	३२८
१२-	पदार्थों के स्वयं ही जुदे रहने पर हेय क्या है और भिन्न होने पर उपादेय क्या है।	३३०
१३-	इस संसार में न तो कुछ इष्ट है, न कुछ अनिष्ट है, किन्तु भ्रम होने पर क्लेश देने वाली कल्पना ही मात्र होती है।	३३२
१४-	भ्रम से भोग के परिश्रम से दुखों को भोगकर जगत बरबाद हुआ।	३३३
१५-	व्रत में भी अहंपना होना अज्ञान है जिसके यह है वह योगी ज्ञानी नहीं है।	३३५
१६-	यह दिखने वाला समस्त लोक, अर्थ मोह रूपी नींद में स्वप्न है।	३३७
१७-	अपने से बाह्य स्थान में कहीं कुछ भी हित नहीं है फिर क्या सोचूं, क्या सुनूं, क्या जानूं और देखूं।	३३८
१८-	देह हो उससे क्या लाभ व न हो उससे कोई हानि है परन्तु ज्ञान दृष्टि हो।	३३९
१९-	मेरे द्वन्द्व, संग व परिग्रह नहीं है, ये सब मुझसे पृथक हैं।	३४०
२०-	सर्व में सार यह ही है कि जो सर्व कार्यों से निवृत्त होऊं।	३४२
२१-	पुण्य अर्थ व भोग के सम्बन्ध अनर्थ की परम्परायें हैं।	३४३
२२-	जीवन, मरण, लोक व उनमें लीनता क्या है सब माया स्वरूप है।	३४४
२३-	सर्व चिन्तन, वचन व चेष्टाओं से क्या लाभ है उनमें हित कुछ भी नहीं है।	३४५
२४-	चैतन्य स्वरूप मुझ आत्मा में शरीर, प्राण, इन्द्रियां, राग आदि नहीं है।	३४६

क्या—कहाँ	पृष्ठ
१- इन्द्रियों का भोग क्षेम करने वाला नहीं है मैं स्वयं क्षेमकर हूं।	३४७
६- दृश्यमान पदार्थ अगम्य हैं और विश्वास के योग्य नहीं है जबकि मैं ज्ञानमात्र हूं, अतः कहां रमूं व कहां विश्वास करूं।	३४८
७- अपने स्वरूप में सर्वथा भिन्न परपदार्थों में क्या त्याग व ग्रहण होना।	३४९
८- दृश्य तो जड़ है व अन्य चेतन सो अदृश्य है सो किसमें रोष करूं व तोष करूं।	३५०
९- प्राणी वृक्ष पर पक्षियों की तरह एक स्थान पर आते फिर कुछ क्षणों में अपने-अपने कर्म के अनुसार अन्यत्र चले जाते।	३५२
१०- मेरा एकांत में निवास होओ, संयोग से मेरे कोई लाभ नहीं है।	३५३
११- मैंने बारम्बार तो भोग भोगे और छोड़े उन झूटे भोगों को क्या चाहूं।	३५४
१२- मैं भोगों को भोगकर फिर छोड़ूं यह भाव छल सहित है, अतः मैं सदा निवृत्ति की भावना करता हूं।	३५५
१३- आयु के क्षय और ब्याज के संचय में कारणभूत समय व्यतीत होने की इच्छा नियम से तृष्ण होती है, अतः मैं अपना विनाश करने वाली तृष्णा को छोड़कर सुखी होऊं।	३५७
१४- जैसे पर-जीवों को आपत्ति में पड़ा हुआ देखता हूं उसी प्रकार यदि अपने को समझूं तो आपत्ति से मुक्त होकर अपनी आत्मा का लक्ष्य लूं।	३५८
१५- पदार्थ अपने-अपने उपादान से पैदा होते हैं अथवा वे पैदा हों या न हों उनसे मेरा कोई हित नहीं है।	३५९
१६- मैं सुख में दुःख में एक अकेला ही था, अकेला ही हूं, अकेला ही होऊंगा।	३६१
१७- विषयों में प्रवृत्ति खेद से होती है, भोगने के काल में व बाद में भी खेद होता है, अतः भोग सब खेदमय हैं।	३६३
१८- प्रशंसा करने वाले मुझे नहीं देखते और मुझे देखने वाले आत्मा व्यक्ति के लक्ष्य से परे हैं, अतः मैं किसमें आदर का लक्ष्य बनाऊं।	३६४
१९- स्व से अभिन्न अपवित्र शरीर का आदर क्या आत्मा को कुछ लाभकर हो सकता है फिर शरीर के आदर से क्या! निश्चय से निजात्मा का आदर ही सच्चा आदर है।	३६७
२०- निश्चय से आत्मा का नाम के अक्षरों से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर नाम की प्रसिद्धि से आत्मा की क्या प्रतिष्ठा है।	३६८
२१- मैं किसी भी एक दशा रूप नहीं हूं अनादि अनिधन हूं तब मेरी लोक व्यवहार में क्या रुचि हो।	३७१
२२- यह दृश्यमान जगत राग रूपी आग के लिए ईंधन है, फिर मैं ईंधन बटोकर आग में क्यों गिरूं।	३७४
२३- निश्चय से मृत्यु के लिए क्या कोई तैयार रहता है, वह तो अकस्मात कभी भी आ जाती है, अतः मैं सत तत्व की दृष्टि कर सुखी होऊं।	३७७
२४- मैं क्यों जानने के लिए भी श्रम करूं, वे तो स्वयं ही प्रतिभासित होते हैं।	३७८
२५- भोग भोगने में नहीं आता, वह तो केवल बुद्धि में स्थित होता हुआ पाप का कारण होता है।	३७९
२६- जिस कल्पना के द्वारा मन वचन काय की चेष्टा से परे रहने वाला अर्थ प्राप्त हुआ जब वह कल्पना भी मेरी नहीं है तो अन्य पदार्थ क्या हो सकते हैं, अतः अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।	३७९

ॐ

सुख यहाँ तृतीय भाग

(सहजानद गीता प्रवचन)

प्रवक्ता--अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

+ + +

ज्ञानं सुखं न चान्यत्र ज्ञोऽहं ज्ञानमहं सुखम् ।
सर्वाशामहितां त्यक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।४-१।।

ज्ञान और सुख अन्य कुछ चीज नहीं है। मैं ही ज्ञान हूँ और मैं ही सुख हूँ। हम अपने बाहर क्या ढूंढना चाहते हैं ? जगतके जीव बाहरमें क्या ढूँढ़ा करते हैं सो बतलावो। सुख और ज्ञानसे बढ़कर क्या ढूँढ़ते हो ? किसीकी जानकारी कररहे हो ? अब क्या होना चाहिए हम कथा और उपन्यासकी पुस्तकें पढ़ते है, तो हम ज्ञान अन्य जगह ढूंढ़ते हैं और सुख अन्य जगह ढूँढ़ते हैं। उपन्यास पढ़ते हैं तो यही इच्छा रहती है कि अभी आगे और पढ़ लें। अब आगे क्या है यह और जान लें। और भी समझनेकी, जाननेकी चेष्टायें करते हैं। सुख प्राप्त करनेके लिए विवाह करते हैं, संतान उत्पन्न करते हैं, धन कमाते हैं, महल बनवाते हैं, सभा सोसायटी करते हैं, राज्य बनाते हैं ये सब किसलिए करते हैं ? सुखके लिए, तो जितने भी यत्न बाहरमें करते हैं वे सुखके लिए करते हैं। पर अध्यात्मयोगी ऋषिजन बतलाते है कि सुख अन्यत्र न मिलेगा। किसी अन्य जगह सुख नहीं है, सुख कहाँ मिलेगा और मिलेगा कैसे ? सुख कोई अलग चीज थोड़े ही है। हमें दुःखमय विकल्पोंसे हटानेकी जरूरत है, सुख रूप तो हम स्वयं हैं। जीवोंका और स्वरूप क्या है सो बतलावो।

इस शरीरमें क्या मिलता है ? अरे शरीरके भीतर देखो माँस लगा है। वह माँस तो

जीव नहीं है। हड्डी, वीर्य, मल मूत्र इत्यादि वे भी कोई जीवकी चीज नहीं। जीव क्या है? उसमें कौनसा तत्त्व है? इसके अन्दर विचारों तो वहाँ आँखसे देखनेमें कुछ नहीं मिलेगा। जो ज्ञानरूप परिणति है, वह आनन्दरूप परिणति है तथा जो राग द्वेषरूप परिणति है वह दुःखरूप परिणति है। जो एक विलक्षण चैतन्यस्वरूप है उसका नाम जीव है। यह आत्मा तो ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण है। ज्ञान और आनन्द बाहर कहाँ ढूंढ़ता है? जिसको यह मर्म ज्ञात हो गया कि मैं ज्ञानमात्र हूं, आनन्दरूप हूं, तो ऐसा जिसे विश्वास हो गया, ऐसा जिसको परिचय हो गया वह ही योगी कहलाता है, वह ही ज्ञानी कहलाता है, वह ही साधु कहलाता है।

ज्ञान और सुख ये अन्यत्र नहीं है। इस ही रूप मैं हूँ। अन्य जगह मेरा ज्ञान नहीं। फिर आशा कैसी लगी है? अच्छा बगलाओ—आपका ज्ञान और आनन्द किसी दूसरी जगह है क्या? किसी चीजको बतलाओ। मेरी कोई चीज इस मुझसे बाहर हो तो बतलाओ? जो बाहर हो वह हमारा नहीं और जो हमारा है वह हमसे दूर नहीं। ये दिखाने वाली चीजें तो कुछभी हमारी नहीं हैं, जिस घरमें बसना रहता है ऐसा घर द्वार वगैरा ये भी बाहर ही तो है, जिस कुटुम्बमें हम रहते हैं वह भी हमसे बाहर ही तो है। अरे ज्ञान और आनन्द जो तुम्हारी चीज है उसको ही प्राप्त करो। यह तो तुमसे बाहर नहीं है। तब फिर बाहर की कौनसी चीजोंको देखकर तुम स्वहितकी आशा करते हो? यह कैसा उन्माद है? बतलाओ तो। आप कहेंगे कि भोजन करते हैं तो सुख मिलता है। भोजन करनेसे अगर सुख मिलता है तो एक बार भोजन कर लें और सुख मिल जाय तो फिर दुबारा भूख क्यों लगती भैया! भूख लगनेका रोग ही फिर न रहे, क्षुधाका साधन तो शरीर है वह ही न रहे, केवल आत्मतत्त्व रह जाय वहाँ ही पूर्णानन्द है, वहाँ ही योगी जन सदा रहा करते हैं।

भैया, बाहरी पदार्थोंमें किसकी आशा रखते हो? किसीसे कुछ मिलता भी नहीं है। जो कुछ हमें मिल रहा है वह हमारे अन्दरसे मिल रहा है। विषय भोग, भोगकर जो कुछ भी हमें मिलता है सो आकुलताएँ ही मिलती रहती हैं। विषयोंमें सुख नहीं मिलता है। बड़े पुरुष होते हैं वे विषयोंके भोगे बिना ही विषयोंका त्याग करके अपने आप ही सुखका अनुभव करते हैं, मगर जो महापुरुष हैं वे ब्रह्मचर्यसे सुखका अनुभव करते हैं। और जो पशुवत् होते हैं वे अपने विषयोंमें सुखको पाना चाहते हैं। जो निम्न श्रेणीके मनुष्य होते हैं वे विषय कामनाओंसे ही सुखका अनुभव करते हैं वहाँ ख्याल बनानेसे ही उन्हें काल्पनिक सुख उत्पन्न होता है किन्तु विषयोंमें सुख होता नहीं है।

भैया, सुख स्वरूप हम स्वयं हैं, इस लिएसारी अहित आशाओंको छोड़कर सारी

अकल्याण करने वाली आशाओंको छोड़कर मैं अ'नन्दस्वरूपको देखूं। अपने अ नन्दस्वरूप को देखनेसे ही आनन्द मिलेगा, दूसरी जगह आनन्द नहीं मिलेगा। यह प्रभुकी शांत मुद्रा-मय मूर्ति दुनिया भरमें यह बतला रही है कि विकल्प न करो, इसी प्रकार ज्ञानानुभव करो इसीमें हित है, कोई विकल्प न करो। अपने आत्मामें समाधि लगावो, ऐसा उपदेश यह प्रभुकी मूर्ति देती है। यहाँ कोई स्थान अपने आने जाने योग्य नहीं इससे बद्ध आसनसे बैठे रहो। यहाँ कुछ काम करनेको नहीं है सो हाथपर हाथ रखकर समाधि लगा लो। दुनिया में कौनसी ऐसी चीज है जो देखनेके लायक है? कोई भी तो नहीं है। इसलिए नेत्रोंको बंद कर लो। भगवानकी मूर्तिसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम यह भावना करे व यत्न करें कि बाह्यपदार्थोंसे जितना हट सकें, हटें। विकल्पोंसे निवृत्ति लेकर रहें तो उसमें भला है। सो मैं अब अब बाह्यपदार्थोंकी आशाको त्यागकर अपने आप सुखी होऊँ।

ज्ञायकोऽजोऽमरोहं कौ जीविताशां करोमि किम्।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्। ४–२॥

देखो मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, इसलिये तो हमारे और प्रभुके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। जो प्रभुका स्वरूप है वही हमारा और आपका स्वरूप है। अन्तर पड़ गया है तो केवल एक दृष्टिका अन्तर पड़ गया है। मैं शुद्ध पवित्र आनन्दमय अपने स्वरूपको देखूं और जो राग द्वेष बाधक हैं उनसे अलग रहूँ, इस वृत्तिसे मेरा रागद्वेष छूट जाये तो हमारी प्रभुता प्रकट है। जैसे कोई पत्थर है, मान लो संगमरमर हो, यह इच्छा है कि उसमें बाहुबलि स्वामीकी मूर्ति बने। बाहुबनि स्वामीकी मूर्तिका नक्शा लिया। किसी कारीगर से कहा जाय कि देखो भैया, बाहुबलि स्वामीका ऐसा नक्शा बनाना है।, मूर्ति बनानी है। खूब दिल भर करके फोटोको देखकर कारीगर कहेगा कि अच्छा बन जायगी। अब बतलावो कारीगर उस पत्थरसे कैसे बाहुबलि स्वामीकी मूर्ति बनायेगा? बाहरसे कुछ चीजें नहीं लायेगा। बाहरसे कुछ लेकर मूर्ति नहीं बनायेगा। उस मूर्तिको उसने ध्यान लगाकर देख लिया है। उसपत्थरमें, वह है, जहाँ है। अब केवल ढकने वाले पत्थरोंको निकालना है। मिट्टी लगाकर मूर्तिको तैयार नहीं करना है वह मूर्ति जिसरूपमें निकलेगी वह तो पत्थर के अन्दर है। अब कारीगर तो छेनी हथोड़ीसे आवरक पत्थरोंको काटकर अलग करेगा। कारीगरको मूर्ति बनानेमें कुछ चीजोंको मिलाना नहीं है। केवल मूर्तिके ढकने वाले पत्थरों को छेनी हथौड़ी आदिसे हटाना है। मूर्ति बनानेके लिए कुछ लानेका काम नहीं है। लाना क्या है? वह तो मूर्ति खुद ही है। केवल ढकने वाले पत्थरोंको हटानेका काम है।

इसी तरह यदि ज्ञान करना है तो मोहका हटाना मेरा काम है। अपनेमें ये जो राग द्वेष आदि विकार, अज्ञानता, ईर्ष्या आदि विकार आ जाते हैं उनको हटाना है। इन सब विकारोंको हटानेके लिए ऐसा विश्वास हो जाय कि मैं भगवानके समान हू। ये विकार परभाव हैं, हटाये जा सकते हैं। कहते हैं कि प्रभु घट-घटमें विराजमान है। प्रभु अलगसे कोई जीव नहीं. स्वयं ही जीवमें प्रभुता है। वह स्वयं प्रभु समान है। उसका आवरण करने वाले जो रागादिभाव हैं, उनको यह करना चाहता है, इसमेंभगवान व्यक्त नहीं हो पाता, यदि और कुछ अपनेमें दृष्टि करे तो उसमें अपनी दयाका भाव प्रकट होगा। तो उसे प्रकट करनेके लिए लाना कुछ नहीं है। केवल हटाना ही हटाना है। रागादिभाव हटाना है। भैया रागसे अगर लाभ मिलता है तो रखो और अगर न मिलता हो तो हटावो। राग मिटानेकी चीज है कि पकड़नेकी चीज है ? राग तो मिटानेकी चीज है।

जैसे कोई आदमी एक तो अपराध करे और दूसरे सीनाजोर बने तो यह डबल अपराध बना। एक तो राग करता है यह है अपराध, और दूसरे रागकी पकड़ कर रहा है यह है महा अपराध। तो डबल अपराध कर रहे हैं। तो यहभावना रखो कि बाहरी पदार्थों से प्रीति छूटे, राग करनेकी मोह करनेकी भावना छूटे। वैराग्यकी भावना आवे, तभी शांति व संतोष होगा। बिना राग द्वेष मोह आदि परिणामोंके त्यागे वैराग्यकी भावना नहीं आती है। अगर राग द्वेष मोहमें फंसे रहे तो क्या ऐसा जीवन कोई जीवन है अरे प्रभु की भक्ति आए, अपने निज प्रभुके दर्शन होवें तो उससे कषायें छूटेंगी। बस यही सत्य जीवन है।

यहाँ तो लोग मंदिरमें प्रभुके दर्शन करने जाते हैं तो भगवानसे विनय करते हैं कि हे भगवान हमें पुत्र दो, हमें सुखी करो। अरे ये तो भगवानके दर्शन नहीं करते हैं। ये तो बिल्कुल उल्टा बिगाड़ करते हैं।

भैया, भगवान्के दर्शन तो इसलिए करना चाहिये कि हम प्रभुसे प्रार्थना करें कि हे नाथ मैं आशावोंका त्यागूं। हाय, लेना नहीं, देना नहीं, व्यर्थ मेंही विकल्प बनाये हुए हैं। राग कर रहे हैं। द्वेष कर रहे हैं। हे नाथ ! ये राग द्वेष मिटें ऐसी भावना प्रभुदर्शन समय होना चाहिए। और अगर ऐसी भावना न हो तो बिल्कुल उल्टा काम है। जैसे किसी धनीके पास जायें, और कहें किहमें ज्ञान दे दो तो उल्टा ही तो है और अगर किसी ज्ञानी पंडितके पास जायें और कहें कि धन दे दो तो यह उल्टा ही तो है। अरे यहां साधु पंडित ज्ञानीके पास तो नाश्ताको भी कुछ नहीं है। यदि धनीके पास जावो तो वहाँ ज्ञान न मिलेगा। जो जैसी चीज है उसे वैसा माने तो भला है। है और कुछ, और माने

और कुछ, यह तो ठीक नहीं है। प्रभु राग द्वेष रहित है, सारे विश्व का जाननहार है, पुत्र मित्र इत्यादि उसके पास नहीं है। प्रभुके तो ध्यानमें ही ऐसा पुण्य बनता है कि सब सम्पदा स्वयमेव मिलती रहती है। उस प्रभुके पास अन्य कुछ नहीं है। वह प्रभु तो ज्ञान मात्र है।

प्रभुके स्वरूपको निरखकर यदि यह भाव करें कि हे प्रभो तेरे ही जैसा तो मेरा स्वरूप है। मेरा यह स्वरूप प्रकट हो और ये राग द्वेष मोह इत्यादि भाव न हों तो कुछ मिलेगा। अगर राग द्वेष मोह इत्यादिका भाव न हों तो यही ज्ञान है, यही आनन्दकी बात है। माँगनेसे पुत्र इत्यादि नहीं मिलते हैं जो भगवान से माँगता है उसके ही पुत्र हों यह कोई जरूरी नहीं। जो नहीं मांगते हैं उनके दर्जनों बच्चे बच्चियां हो जाते हैं। तो ये होना है तो होते हैं और अगर नहीं होना है तो नहीं होते हैं। भगवानसे मांगनेसे कुछ नहीं होना है। भगवानसे यदि शांतिका मार्ग मांगें तो कुछ मिल जायगा। सो भगवानके दर्शन करके यह भाव बने कि हे प्रभो यह विषयोंकी इच्छा, राग द्वेषका परिणाम, यह कषायोंका भाव, ये सब मेरे समाप्त हों। कब ये समाप्त होगे, ऐसी भावना करना चाहिए तभी इस प्रभुके दर्शन होंगे। तो यहाँ कहते हैं कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, अमर हूँ मेरा जन्म नहीं होता। मैं अमर हूं, मेरा मरण नहीं होता। फिर इस पृथ्वीमें जीनेकी क्या आशा बनाऊं ? देखो यहाँ मरणकी बात सुनकर सब घबड़ाते हैं। अब जिन्दा रहेंगे कि नहीं ? मेरा यदि यह भाव बने कि मैं तो सत् हूं, मेरा क्या बिगड़ता ? मैं एक जगह छोड़कर दूसरी जगह पहुंच गया विनाश तो नहीं है। यदि ऐसी भावना हो तो दुःख कब है ? मैं तो अजर हूं, अमर हूं। तो फिर जीनेकी आशा क्या करूं ? स्वतंत्र हूं। इस कारण सब आशावोंको त्याग कर मैं अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

अदृश्यो ज्ञायकौहं कां कीर्तिमिच्छानि काविह।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।४–३।।

जिन प्राणियोंके मन लग जाता है उन प्राणियोंके सबसे बड़ा रोग यह लग जाता है कि वह कीर्ति और यशकी चाह करने लगता है। और जिसके मन नहीं है ऐसे प्राणीको तो मात्र विषयोंकी ही बात लगी रहती है किन्तु जिसके मन होता है उन जीवोंको कीर्ति या यशकी चाह हो जाती है। तो भाई कीर्तिको कौन चाहता है ? हम तो अदृश्य हैं। मैं दूसरोंके द्वारा देखनेमें नहीं आ सकता जब हमें दूसरे देख ही नहीं सकते तो कीर्ति कौन चाहे ? जिनको हम कीर्ति दिखाना चाहते हैं वे हमे कुछ देते तो नहीं। फिर किसको दिखाना चाहिये ? तुम तो अदृश्य हो। अपने आपको विचारो कि मैं तो अदृश्य हूं और केवल

ज्ञानस्वरूप हूं इसलिए यह मैं अदृश्य और ज्ञानस्वरूप इस लोकमें किस कीर्तिको चाहूं ?

भैया, कीर्तिके सम्बन्धमें साहित्यिक लोग यह कहते हैं कि कीर्ति तो आज तक कुमारी ही रह रही है क्योंकि इस कीर्तिको कोई बर नहीं सका। इसका पति नहीं बन सका। जिसको कीर्तिकी चाह है उसे कीर्ति नहीं मिलती और जिसको कीर्ति चाहती है उसको कीर्तिकी चाह नहीं। अतः कीर्तिकी शादी हो ही नहीं सकी। अब तो कीर्ति कुमारी ही रह गयी। जो कीर्ति चाहते हैं उन्हें कीर्ति नहीं मिलती और जिनकी कीर्ति छायी हुई है उनको कीर्तिकी चाह नहीं। सबसे बड़ी कीर्ति भगवानकी छायी हुई है देखो भगवानकी उपासना करते हैं, प्रभुका नाम लेते हैं, प्रभुका गुणानुवाद करते हैं। यह तो कीर्तिका एक माप है। सबसे बड़ी कीर्ति तो भगवानकी यह है कि हर एकके मुखसे भगवानका नाम निकलता है। तो कीर्ति भगवानकी जैसी कहाँ हो सकती है। पर भगवान कीर्तिको नहीं चाहते हैं वे तो वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं। उन्हें कीर्तिकी चाह ही नहीं। अरे जो कीर्तिको चाहता वह स्वयं अशुद्ध है। तो अशुद्ध न होना हो तो कीर्तिको न चाहो।

अपने स्वरूपमें ही दृष्टि दो कि मैं शुद्ध हूं, ज्ञानस्वरूप हूं। इस लोकमें कीर्तिको क्या चाहूं ? यहाँ नामके लिए मरना कीर्तिके लिए मरना निपट अज्ञान है। अब किसीको वश करना हो या किसीसे काम लेना हो तो उसकी बड़ी सुगम औषधि यह है कि उसकी प्रशंसा कर दो। जो काम डाँटकर नहीं ले सकते हो वह काम प्रशंसा करके ले सकते हो। कोई बच्चा बड़ा शरारती है, उसको दण्ड देकर सारी शरारत मिटाना कठिन है। उसकी प्रशंसा करने वाले शब्द बोल दो। तू तो राजा है, तू बड़ा भला है। तुझे ऐसा न करना चाहिये। तो ऐसा कहनेसे वह शरारत छोड़ देगा। किसी मनुष्यको कितना ही डाँट डपटकर काम लेना चाहो तो वह बात बनना कठिन है। बस उसकी प्रशंसा कर दो, कुछ गुणानुवाद गा दो जितना चाहो काम ले सकते हो, हाय इस कीर्तिके पीछे पड़कर लोग बरबाद हो रहे हैं, अपने चैतन्यप्राणका घात कर रहे हैं।

गुरु जी सुनाते थे कि टीकमगढ़में एक सुनारिन थी। वह अपने पतिसे बोली कि हमें ३० तोलेके बखौरे बनवा दो। बहुत दिनोंसे लड़ाई चल रही थी। सुनारने क्या किया कि किसी तरह कर्जा ले करके ३० तोलेके बखौरे बनवा दिये। बखौरे तो पहिन लिये, पर देशमें रिवाज था मोटी धोति पहननेका। मोटी धोती पहिननेके कारण हाथ पैर ढके रहते थे। सो किसीने उस स्त्रीसे यह न कहा कि ये बखौरे बड़े अच्छे बने हुए हैं। उसको मन ही मन बड़ा गुस्सा आया कि बड़ा हठ करके तो यह गहना बनवाया था, पर किसीने न पूछा। उसके मनमें बड़ी तेजीसे गुस्सा बढ़ा। सो उसने अपने झौंपड़ीमें आग लगा दी। जब घरमें आग

लग गयी तब घबड़ायी । अब तो वह हाथ पसार-पसारकर लोगोंको आवाज देकर बुलाने लगी कि अरे दौड़ो, झौंपड़ी जली जा रही है । बहुतसे लोग आने लगे । स्त्री उनसे कहती-अरे वह रस्सी पड़ी , वह कुंआ है, पानी खींचकर ले आवो । झौंपड़ी जली जा रही है । इतनेमें एक स्त्रीने हाथमें बखौरा पहिने देखा । उस स्त्रीने कहा–जीजी, यह बखौरा कब बनवाया था ? यह तो बड़ा सलोना है । वह स्त्री बोली–अरी राँड, अगर पहिले ही इतनी बात बोल देती तो घरमें मैं आग क्यों लगाती ?

भैया, सारा जगत इज्जतके पीछे मर रहा है । किसको इज्जत दिखाना चाहते हो ? किसको अपनी महत्ता दिखाना चाहते हो । तुम तो अदृश्य हो । तुमको कोई जानता ही नहीं । तुम तो ज्ञानस्वरूप हो । अपने आपको विचारो कि मैं तो अदृश्य हूं, ज्ञानमात्र हूं । इस लोकमें मैं क्या कीर्ति चाहूं ? यदि कीर्तिकी चाहका त्याग हो जाय तो वास्तवमें आजादी मिले । कीर्तिकी चाह रहे तो आजादी खतम हो जाती है क्योंकि कीर्ति चाहोगे तो उसे परके अनुकूल यत्न करना ही पड़ेगा । इसलिए इस कीर्तिकी चाहके त्यागमें ही स्वतंत्रता है और इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है । स्वतंत्रता ही एक महान सुख है । सो स्वतंत्र ज्ञानघन आनन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर अपनेमें आप सुखी होऊं ।

ज्ञायकस्याप्यवद्धस्य विषयाशैव बन्धनम् ।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।४–४।।

देखो यह जीव ज्ञानमात्र है, अमूर्त है । किसी पदार्थसे बंध नहीं सकता । इसका किसीसे संयोग नहीं है, बन्धन भी नहीं है । लोगोंने इसकी जो अपने आपको आशा लगा रखी हैं––यह विषयोंकी आशा बन्धन बन गयी है । जैसे आप यहाँ बैठ गये हैं तो पुत्रों से बंधे नहीं, स्त्रीसे बंधे नहीं, धन वैभवसे बंधे नहीं, पर इन पदार्थोंकी ओर आपकी रुचि है, आशा है तो आप स्वयं बँध गये । अब आप इनको छोड़कर कहीं जा नहीं सकते । क्या हमें किसीने बाँध रखा है ? क्या किसी ने जकड़ रखा है ? अरे किसीने कुछ नहीं किया, केवल ख्याल बना लिया है कि ये मेरे इष्ट हैं, ये मेरे अनिष्ट हैं, ऐसे व्यर्थके ख्याल बना लेनेसे ही वे पराधीन हो जाते हैं ।

विषयोंकी आशा ही एक बन्धन है । जो फंसता है वह विषयोंकी आशासे ही फंसता है । गृहस्थीका बन्धन कहाँ है ? आशा ही केवल बन्धनका आधार है । इसलिये वास्तविक बन्धन आशा है । बाहरी चीज बन्धन नहीं है । सो विषयोंकी आशा ही इस जीवका बंधन है । आशाका बन्धन छूटे तो स्वतंत्रता मिले, नहीं तो स्वतंत्रता न मिलेगी । आशाके पीछे हो

सबका कष्ट भोगना पड़ता है। कितना भी अटूट परिश्रम करो, ये जितने भी क्लेश हैं, नटखट हैं, नृत्य हैं वे सब इसी आशा पर ही अवलम्बित हैं। आशा मिटे तो सारे क्लेश खत्म। विषयोंकी आशाका त्याग हो तो आजादी है अन्यथा आजादी नहीं है। यह वास्तविक स्वतंत्रताकी बात यहाँ कही जा रही है। यह जीवोंकी स्वतंत्रताकी बात चल रही है। जब यह जीव परकी आशा न रखे तब यह जीव स्वतंत्र कहलाता है। आशा रखी तो बस बन्धनमें बंध गया। तो बंधन आशा ही है। अन्य कोई बन्धन नहीं। सो इस आशा का परित्याग होने में ही वास्तविक स्वतंत्रता मिलती है।

त्यागसे ही आजादी होती है, ग्रहणसे आजादी नहीं होती। पदार्थोंके संग्रहसे स्वतंत्रता नहीं मिलती, किन्तु उनकी आशाके त्यागमें ही स्वतंत्रता मिलती है। अभी आप सब तो गृहस्थीमें हैं, परिवारमें हैं, बच्चोंमें हैं। बहुतसी बातें करनी पड़ती हैं। धन कमाना, रसोई बनाना चार आदमियोंकी बात पूछना इत्यादि सारी बातें करनी पड़ती हैं। यह सब करते हुये भी यदि भीतरमें सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपकी खबर रहे और स्वतंत्र-स्वतंत्र सारे पदार्थ हैं ऐसी प्रतीति रहे तो कुछ झगड़ा न रहे, क्योंकि सम्यग्ज्ञान जग गया। अन्य पदार्थोंको स्वतंत्र-स्वतंत्र देखनेसे उनकी आशाका त्याग होता है। जहाँ किसीको अपना माना वहाँ आशा करोगे और जहाँ अपना न माना वहाँ आशाका क्या काम ? सो वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध हो तो वहाँ आशा नहीं ठहरती। सम्यग्ज्ञान करके उन विषयों की आशाका त्याग करके ही स्वतंत्रता प्राप्त होगी।

भगवान रामचन्द्रजी के परिवारके पुराने पुरुखोंमें से एक वज्रभानु भी हुए थे, जिनकी शादीके बाद उनका मोह स्त्रीसे हो गया था। जब स्त्रीका भाई लिवानेके लिये आया तो वज्रभानु भी अपनी स्त्रीके साथ ससुराल चल दिया। रास्तेमें एक जंगल पड़ा। जंगल में एक मुनिराज शांत मुद्रामें बैठे नजर आये। वज्रभानु उन मुनिराजको देखकर मनमें सोचने लगा कि देखो यह युवक मुनिराज सब ओरके विकल्पोंसे हटकर अपनेमें ही ध्यान लगाये हैं और कितने सुखी नजर आ रहे हैं और यह मैं पापी स्त्रीका १० दिनका वियोग नहीं सह सकता। मैं साथ ही जा रहा हूँ। कुछ और विवेक जगा। टकटकी लगाकर देखने लगा। मनमें आया कि मुझे भी ऐसा होना चाहिये। व्यर्थमें लगावमें कोई सार नहीं है। उस समय उसका साला उदयसुन्दर उससे मजाक करता है—क्या तुम भी त्यागी बनोगे ? वह जानता था कि मोही त्याग कहाँ कर सकता है ? वज्रभानुने कहा कि अगर मैं मुनि बन गया तो क्या तुम भी मुनि बन जावोगे ? उसका तो मन था ही। वह मुनि बन गया। वज्रभानु को देखकर उदयसुन्दरको भी वैराग्य हो गया। दोनोंको विरक्त देखकर स्त्रीका भी मन पलट

गया। वह भी साध्वी, आर्यिका हो गयी। अब तीनों स्वतन्त्र हो गये, तीनों जुदा हो गये।

एक जगह रहे तो क्या, विहार करें तो क्या, साधु तो स्वतन्त्र ही होते हैं। जब तक स्नेह है तब तक बन्धन है। मोह समाप्त हो, विषयोंकी आशा न रहे तो वहाँ खेद नहीं है। विषयोंकी आशाका त्याग होने पर ही स्वतंत्रता प्रकट होती है। सो आशाको त्यागकर अपनेमें अपने आप स्वयं आनन्दमग्न होऊं। भैया ! किसीसे कुछ आशा न करो। सभी पर हैं, सभी अपने आपमें ही अपने काम करते हैं। उनसे मुझे कुछ नहीं मिलता है। मैं तो अपने ख्यालों में ही मस्त हूँ और वे अपने ख्यालोंमें मस्त हैं। किसीको कोई दूसरा कुछ आदान-प्रदान नहीं करता। फिर किसकी आशा करें ? इस आशाको त्यागकर हम वास्तविक आनन्द लें।

आशात्यागो हि मे बन्धुर्मित्रं त्राता गुरुः पिता।
तस्यैव शरणं सत्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-५॥

आपका असली बन्धु कौन है ? क्या सहोदर पुत्र आपका बन्धु है ? वह भी वास्तविक आपका बन्धु नहीं है। वह भी एक पृथक् जीव है, आप भी एक पृथक् जीव हैं। इस दुनियामें सब भिन्न-भिन्न होते हैं। बड़ी उम्र हो जानेपर अलग ही हो जाते हैं, और अलग नहीं होते तो इन्कमटैक्स कम लगे इस गरजसे होना पड़ता है। फिर उनका आपसमें मन भी नहीं लगता, क्योंकि जहाँ उनकी शादी हुई वे अपनी स्त्रीसे प्रीति रखते हैं। स्त्री से बातचीत होने लगती है, पिता भाईसे प्रेम नहीं रह जाता है। वे अलग हो जाते हैं और फिर आजके साझे में भाईको भाई नहीं सुहाता। वे यदि अपने भाई से स्नेह भी करते तो भी उनका कुछ नहीं करते। पुण्य का उदय है तो भाई सेवक बना हुआ है। कोई किसी को कुछ देता नहीं है, और कोई किसीका मित्र नहीं है। बन्धु तो मेरा आशात्याग ही है और आशात्याग ही मेरा मित्र है। मित्र उसे कहते हैं जो विपत्तियोंसे बचाये। विपदाओं से बचाने वाला तो यह आशात्याग ही है।

आशाका गड्ढा एक ऐसा गड्ढा है कि इस आशा में कितना ही परिग्रह डालते जाओ, ज्यों-ज्यों संचय करते जाओगे त्यों-त्यों आशाका गड्ढा चौड़ा होता चला जायगा, बढ़ता जायगा। यहाँ तो इस पृथ्वीका कितना ही बड़ा गड्ढा हो, कूड़ा-करकट डालें तो वह भर जाता है, इसी प्रकार कितना ही धन संचय कर लें, पर आशा उससे अधिक ही बढ़ती जायगी ऐसी गंदी यह आशा है। आशा करने वाला विपदाओंमें ही पड़ा रहता है। उसको बचाने वाला कौन है ? उसको बचाने वाला केवल आशाका त्याग है।

मेरा वास्तविक मित्र आशाका त्याग है और रक्षक भी आशाका त्याग है। जो आशा करता है उसे अन्य जीवोंका आश्रय लेना पड़ता है और इस आश्रयसे ही विपदायें आती हैं।

यदि उन आशाओं का त्याग कर दो तो विपदायें दूर हो जायेंगी। आशाका त्याग करना यही वास्तविक रक्षक है। हमारा गुरु कौन है ? जो मुझे हितमें लगावे, सच्चे मार्गमें पहुँचावे, वह हमारा गुरु है। जब तक आशा है तभी तक खोटा परिणाम है। यदि आशाका त्याग होता है तो इससे दृष्टि निर्मल होती है। आशाका त्याग होनेसे ही सच्चा हित मिल जाता है। इसलिये मेरा गुरु भी आशाका त्याग है। मेरा पिता कौन है ? पिता कहते ही उसे हैं जो पालन-पोषण करे, विपत्तियों से हटावे, प्रगति की ओर ले जाये। तो मेरा पिता कौन है ? शरीर वाले पिता की बात नहीं कह रहा हूं। इस शरीर की अन्तर आत्माका जो प्रभु है उसे कह रहा हूं कि जो पिता है वह कौन है ? वह पिता भी आशा का त्याग है। यदि आशा का त्याग हो तो आत्मबल बढ़ता है, आत्मा की प्रगति होती है, कर्मों का क्षय होता है, जगत् के बन्धन छूटते हैं। आशाके त्याग में ही समस्त सुख निहित हैं। आशा के त्याग का ही प्रकरण चल रहा है।

भैया ! सभा में एक सेठजी बैठे थे, संन्यासी भी बैठा था। संन्यासी कह रहा था कि त्याग करनेसे जीव संसारसे पार हो जाता है। दो एक दिन बादमें संन्यासी किसी दूसरे गाँव जा रहा था। मान लो बिहारीसे बंधा ग्राम जा रहा था। बीचमें एक नदी मिली। नदी पार करनेके लिए नाविकने संन्यासीसे कहा कि एक आना लेंगे। संन्यासीके पास तो कुछ था नहीं। संन्यासीने कहा कि अब तो हम इसी पार रहेंगे। किसी पार सही, पार ही तो है। उस पार नहीं जायेंगे। एक सेठ भी बंधा जा रहा था। तो उस सेठने एक आना संन्यासीका और एक आना अपना दिया। अब तो नावसे वे दोनों नदी पार हो गये। सेठने कहा—संन्यासी महाराज ! आप तो कहते थे कि जो त्याग करता है वह इस संसारको पार कर जाता है, यहाँ तो आप एक छोटीसी नदी भी पार न कर सके। संन्यासीने कहा—भाई, यह त्यागका ही तो परिणाम है कि इस पार आ गये। दो आनेका त्याग किया इसीसे इस पार आ गये।

त्याग करने से हानि कुछ नहीं बल्कि वृद्धि होती है। धन घटता है पापोंसे से ऐबोंसे। त्याग से धन बढ़ता है। वह तो जितना भाग्य में है वह आता ही है सब प्रकार की आशावों का त्याग हो तो अपना ज्ञान स्वरूप ही अपनी शरण है ऐसा त्याग हो और अपने आपके स्वरूप को देखो। अपने आप के स्वरूप में निवास हो, किसी पर की आशा न बने, यही ज्ञान ही आत्मा का सच्चा ज्ञान है। अपने प्रभु का स्मरण रहें तो सुख प्राप्त करने का उपाय प्राप्त हो सकता है।

नैराश्येपिहि नैराश्यं तस्य का तुलना भुवि ।
अतो नैरोश्यमालम्ब्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।४–६।।

जगत्के अन्य जितने भी पदार्थ हैं बे सब स्वतंत्र हैं, जुदा हैं। सबका स्वरूप न्यारा न्यार है। ज्तिने भी जीव हैं वे सब अपने-अपने स्वरूपमें हैं और जितने दिखने वाले पौद्गलिक पदार्थ हैं वे सब भी अपने-अपनेमें स्वतंत्र है। स्वतंत्रके मायने यह हैं कि सब अपनी-अपनी स्वरूप सत्तासे हैं। वे सब कोई किसी दूसरेकी सत्तासे नहीं हैं। इसी कारण मैं कुछ विचारता हूँ तो उस विचारके कारण आपमें कुछ बात पैदा नहीं होती। आप कुछ सोचते हैं, करते हैं, उसके कारण अन्यमें कोई बात पैदा नहीं होती। हम अपना ही काम करने वाले हैं, आप अपना ही काम करने वाले हैं। जगत्के सारे जीव अपना-अपना काम किया करते हैं। यही एवज है कि एक जीवका स्वामी दूसरा जीव नहीं है। किसी पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। जब ऐसा है तब किसकी आशा रखना कि हमें इससे लाभ मिलेगा। आशा करना व्यर्थ है।

भैया, कभी आशाके अनुसार कोई काम बन गया तो यह न सोचो कि हमने ऐसी आशा की थी इससे काम बन गया। बाहरमें तो जब जिसका जो होता है होता ही है। वहाँ हमारा किसीसे मेल खा जाय यह दूसरी बात है। हमने आशा की, इसलिये यह काम बना यह बात बिल्कुल गलत है। हम तो वहां केवल अपना विचार ही बना सके, विकल्प और ख्याल ही कर सके, इसके सिवाय बाहरमें कुछ नहीं किया। जो मोही जीव है, अहंकारसे पूर्ण वासनाएं बनाए हुए हैं कि यह मेरा मकान है, यह मेरा घर है, यह मेरी दुकान है, यह मेरा कुटुम्ब है। ये मेरे परोपकार करने वाले हैं। आशाएं रखना ही अज्ञान है। यही जीवका मोह है। ज्ञानी जीव तो यह विश्वास रखता है कि मैं तो अपना ज्ञानस्वरूप कर सकता हूँ और इससे अधिक अगर बिगड़ गया तो राग द्वेष कर लिया, अपनेको सता लिया, अपनेको ही कर लिया। जैसा बन पाया वैसा कर लिया। मैं दूसरोंका कुछ नहीं कर सकता और इसी तरहसे दूसरे मेरा कुछ नहीं कर सकते। ऐसा ज्ञान जब जागता है तो परपदार्थोंकी आशा छूट जाती है।

तब वास्तविक ज्ञान क्या है? आशा न रखना। आशा कर करके ही दुःखी हो रहे हैं। लोगोंने बचपनसे लेकर अब तक कितनी ही आशाएं नहीं की, पर हे आशा! बतला तू अब तक किसीकी हो सकी? नहीं हो सकी। री आशा, तेरे लिए क्या-क्या काम नहीं किया? कहां-कहां नहीं घूमा? कौन-कौनसी चीजोंमें निगाह नहीं दौड़ाई? सब कुछ कर डाला, बता अब तक राजी हुई कि नहीं? राजी हो गई तो ठीक है, नहीं हुई तो तू जा, जो कुछ

होना है होगा, तू जा। उसे आशाका क्या काम जिसने ज्ञानको पहिचान लिया। इन आशाओंने ही इस जीवको भटका रखा है। आशा न करे तो इसीके मायने वैराग्य है। ज्ञानी जीव तो आशासे सदा दूर रहता है। इस पृथ्वो पर उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती है जो नैराश्यकी भी आशा नहीं करता। सबसे महान् वह है जो किसी की आशा नहीं रखता। सो भैया, आशामें तो अब तक बहे, उससे कोई लाभ नहीं हुआ। अब मैं आशासे हटकर अपने भीतरके ज्ञानस्वरूपको देखूँ जो सबसे निराला है, स्वयं आनन्दमय है, ऐसी बातमें तो प्रभुके दर्शन होते हैं। मैंने अगर आशाका आलम्बन न लिया तो इस उपाय में आनन्दका मार्ग मिल सकता है। आशा करके तो आनन्द नहीं मिलेगा।

एक कथानक आता है पुराणमें कि एक पुरुष श्रावकोंके यहाँ छाछ पीने गया। छाछ पीकर उसने मुंह पर हाथ फेरा तो थोड़ासा मक्खन मूँछोंमें लग गया। उसने सोचा कि अगर ५-७ घरोंमें जाकर छाछ पीऊँ तो कुछ लाभ हो सकता है। अब तो ५-७ श्रावकोंके यहां छाछ पीकर मक्खन जोड़ने लगा। २-३ माहमें उसने काफी घी तैयार कर लिया। जहाँ भी वह छाछ पीने जाता, हाथमें उसके एक कटोरी रहती थी, उसीमें मूँछमें लगा हुआ मक्खन इकट्ठा कर ले। पीछे डबलेमें इकट्ठा कर ले। इस तरहसे लगभग एक सेर या डेढ़ सेर घी तैयार कर लिया। माघका महीन था। जाड़ेके दिन थे। एक झौंपड़ीमें रहता था। छींके पर मक्खन रखा था। वह नीचे आग ताप रहा था। तापते-तापते ही उसे आशाने घेर लिया। सोचा—करीब डेढ़ सेर घी तैयार कर लिया है, कल बाजारमें उसे ४-५ रु० में बेचूँगा। उतने रुपयेमें खोम्चाकी चीज ले आऊँगा। दो दिनमें ही १०-१५ रुपया कमा लेंगे। एक बकरी ले लेंगे। दूध घी बेचकर गाय ले लेंगे। फिर गाय, बैल आदि ले लेंगे, फिर एक जमींदारी खरीदेंगे, फिर धनी हो जायेंगे, फिर शादी कर लेंगे। मेरे बच्चे होंगे। कोई बच्चा आकर बुलायेगा कि पिताजी चलो माँ ने तुम्हें भोजन करनेके लिए बुलाया है तो मैं खानेके लिए न जाऊँगा। मना कर दूँगा कि अभी नहीं जाता। लड़का फिर आयेगा और कहेगा कि चलो मां ने रोटी खानेके लिए बुलाया है तो मैं कहूँगा कि हट बे, मैं अभी नहीं जाऊँगा। फिर लड़का खानेके लिए बुलाया है तो मैं कहूँगा कि हट बे गधे, कितनी बार कह दिया कि मैं अभी नहीं जाऊँगा। ऐसा कहते हुए जब उसने झटकेसे पैर फटकारा तो छींके पर टंगे हुए घी के डबले पर लात पड़ गयी। अब तो डबला फूट गया और मक्खन जल गया। अब बाहर आकर वह चिल्लाता है कि हाय मेरी जमीदारी खत्म हो गई, मेरे गाय, बैल, भैंस आदि खत्म हो गये। मेरे लड़के बच्चे सब खत्म हो गये। जब बाहरके लोगोंने यह सुना तो सोचा कि अभी कल तक तो यह भीख माँगता था, मांगकर छाछ पीता था, आज इसकी

जमींदारी कहांसे आ गयी ? गाय, बैल, भैंस, लड़के बच्चे इत्यादि कहांसे आ गये ? लोगोंने उससे पूछा तो सारी कल्पनाकी बातें उसने बता दीं। इतने में एक सेठ बोला—अरे केवल ऐसा सोचा ही तो था। अब क्यों दुःखी होते हो ? एक चतुर आदमी ने कहा—सेठ जी ! यही हालत आपकी भी है। जब आपका इस ससारमें कुछ नहीं है तब आप कैसे मानते हो कि ये मेरे हैं। अरे जो कुछ तुम्हारे पास है वह तुम्हारा कुछ नहीं है। केवल ख्याल ही तो बना लेते हो कि यह हमारी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन-वैभव है। अरे वे सब पदार्थ जुदे-जुदे हैं। केवल ख्याल बना लेनेसे, केवल कल्पनाएं कर लेनेसे वे आपके तो नहीं हो जाते।

भैया ! यह ख्याल भी अज्ञानसे बनता है, मोह ममतासे बनता है। जब ऐसा ख्याल बन जाता है तो आशाएं बन जाती हैं। आशाएं बन जानेसे दुःख होते हैं। जगत्के ये सब जीव एक आशाके ही रोगी हैं। आशा न होती तो इस जगत्में दुःख ही क्यों रहता ? भैया अपने प्रभु के स्वरूपकी ओर झुको, जितना भी हो सके आशाओंसे दूर रहो। सुख धन बढ़ानेसे नहीं होता है। सुख तो अपने भीतर की बात है सुख बाहरसे नहीं आता। आशा जिसने छोड़ दी वह सुखी है और जो आशामें लगा है वह दुःखी है। सो भैया ! आशाओंको त्यागो, अपने स्वरूपको देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

वीततृष्णस्य केऽप्यर्थाः क्लेशदाः सुखदा नहि।
ततोऽर्थाः स्युर्नबास्ताशः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-७॥

जिसके तृष्णा लगी है उसको जो कुछ मिलता है वह सब क्लेशोंका ही देने वाला है। जिसके तृष्णा न रहे तो पासमें कोई भी पदार्थ हो उसको क्लेश नहीं होता अथवा जिसके तृष्णा लगी है उसके पास कुछ न हो तब भी क्लेश भोगता है। तो यह देखते हैं कि ये सब पदार्थ क्लेशोंके ही कारण हैं। देखो जितना संग मिल गया, घरपरिवार में उतनी ही जान आफतमें रहती है कि नहीं ? अपनी-अपनी बात देख लो। एक दो अकेले हैं तो उनकी जान फंसावमें नहीं है, मगर अकेले दुकेलेमें भी तृष्णा रखे तो दुःख ही मिलते रहते हैं। जिसके तृष्णा नहीं है वह सुखी है और जिसके तृष्णा लगी हुई है वह दुःखी है। तृष्णा करना एक अज्ञान है।

यहां कोई चीज हमारी आपकी नहीं है। इस शरीरके अन्दर जो जीव है उस पर दृष्टि दो तो सब अलग है कि नहीं ? अलग है। घरसे, वैभवसे, परिवारसे यह जीव न्यारा है कि नहीं ? जो इस देहके अन्दर विराजमान है, जो देखने जाननेका ही काम करता है, जो नाना प्रकारके विकल्प विचार किया करता है वह जीव सब पदार्थोंसे न्यारा है कि नहीं ?

सबसे यह जीव न्यारा है। कैसे न्यारा है ? जिस दिन मृत्यु हो जाती है। सबकुछ छोड़कर यहांसे जाना पड़ता है कि नहीं ? उस समय क्या यह मिन्नत चल जायेगी कि मेंने बहुत तो कमाया, हजार रुपया साथमें भेजदो। बहुत-बहुत हमने पुत्रोंसे से प्रेम किया, बड़े लाड़ प्यार से उन्हें पाला, चलो बेटा कोई हमारे साथ, तू तो हमारा लाडला पुत्र है। जायेगा क्या ? कोई नहीं जायेगा। सबको छोड़कर ही जाना होगा क्योंकि कोई भी चीज तुम्हारी नहीं है। जो चीज तुम्हारी है वह तो तुम साथ ले जावोगे और जो चीजें अपनी नहीं हैं उनको साथ कैसे ले जाया जा सकता है ? यह देह आपकी है ? आप इसे साथमें ले जायेंगे क्या ? नहीं।

सो भैया, यह निश्चय रखो कि यह शरीर तक तो मेरा है नही, ये धन परिवार इत्यादि तो क्या साथ जायेंगे ? आपका जो धर्म, आपने जो संस्कार बनाये हैं वे आपके साथ जायेंगे। अपनी ज्ञान ज्योति के निकट जो राग द्वेष हैं उनको अलग हटाकर शुद्ध ज्ञाता दृष्टा रहनेका जो संस्कार बनाया है वही साथ जायेगा और बुरे काम किए, बुरे परिणाम किए वह दुर्वासना भी साथ जायेगी। जैसे दूसरोंको सताया, हिंसा किया, विवेक कुछ नहीं किया, देवी देवताओंके आगे किसी जीवको मार डाला। मारा, एक पाप तो यह किया और इससे मेरे कुटुम्बके लोग खुश रहेंगे ऐसा विचार किया तो एक पाप यह किया। कितना बताऊं ? देवी-देवताओंके नाम पर किसी जीवकी बलि कर दो तो कितना बड़ा पाप है ? उसको बता नहीं सकते। महान् पाप हैं। ऐसा अज्ञानी पापी तो जन्म-जन्ममें अटपट योनियोंमें पैदा होता है और बार-बार दूसरे जीवोंके द्वारा मारा जाता है। ऐसा उसका पाप है और फिर देवी-देवतावों का देह वैक्रियक है। वे देवी-देवता तो किसी जीवको मारना नहीं चाहते। मांस तो उनका भोजन ही नहीं, उनके तो कंठ से अमृत झरता है। पहिले आप उन देवी-देवताओंको देखते हैं, फिर भगवान्को देखते हैं तो मानो भगवान् उन देवी-देवताओंसे छोटे हो गये। सो ऐसा अविवेक न करें।

भैया ! गहराईसे इस बातको सोचो कि जो बुरा संस्कार बनता है वह मरनेपर साथ जाता है कि नहीं ? जाता है। मगर रुलानेके लिए साथ जाता है। यह धर्म साथ जाता है तो केवल सुखके लिए जाता है। पाप तो दुःख के लिए जाता है और धर्म सुखके लिए जाता है। यहाँकी सब चीजें जो-जो मिलती हैं वे कुछ भी साथ नहीं जाती हैं। यह धन आपने नहीं कमाया है, यहतो योंही मिलगया। पूर्वजन्ममें अच्छा परिणाम किया था उस समय बद्ध पुण्यके उदयसे आपको सब कुछ मिल गया है, इसे आपने कमाया नहीं है। आपने तो परिणाम किया था, यह तो यों ही मिल गया है और यों ही चला जायेगा। जिसको कहते हैं मुफ्तमें मिला और मुफ्तमें ही चला जायेगा। सब मान, गम, धन,

वैभव इनको आप करते हैं क्या ? क्या आपके करनेसे मिल गये ? ये तो यों ही मिलते और यों ही बिछुड़ते रहते हैं। ये मुफ्तमें ही मिल गये और मुफ्तमें ही चले जायेंगे। आपके साथ अंतमें क्या रहेगा ? घर-द्वार तो रहेगा नहीं। क्या रहेगा ? केवल पाप जो इसके कारण परिणाम बुरे करने पड़े, वे पाप ही साथ जायेंगे।

एक चोर एक राजाके अश्वशालामें चोरी करने गया, वहां एक बड़ा बढ़िया घोड़ा था। उसको ले लिया, सोचाकि पशुवोंके बाजारमें लेजाकर बेच दूंगा। बाजार लेगया, खड़ा कर दिया। अब ग्राहक आये बोले—घोड़ा कितने में दोगे ? था तो ३०० रु० का, पर कोई यह न जाने कि घोड़ा चोरीका है इसलिए शानमें आकर बोला कि इसका मूल्य ९००) रु० है। अब कौन खरीदे ? दसों ग्राहक इसी तरह निकल गये। एक ग्यारहवां ग्राहक जो बूढ़ा चोर था आया। वह बचपनसे ही चोरी करता था। उसने पूछा कि इसका मूल्य क्या है ? बोला ९००) रुपये। अब तो उसने पहिचान लिया कि यह घोड़ा चोरीका है। चोर चोरीकी चीजको परख लेता है। बोला—इसमें कौनसी तारीफ है कि इसका मूल्य ९००) रुपये है ? कहा—देख लो, इसकी चाल बहुत बढ़िया है। उस बूढ़े चोरके पास एक मिट्टी का हुक्का था वह तो उसको पकड़ा दिया और आप चाल देखने घोड़े पर चढ़ गया। चाल देखनेके लिए चला। घोड़े पर बैठकर वह उसे उड़ा ले गया। अब थोड़ी देरके बादमें वही पुराने ग्राहक आते हैं, पूछते हैं कि क्या घोड़ा बिक गया ? घोड़े वालेने कहा—हां भाई घोड़ा बिक गया। बोले—भाई कितनेमें बिक गया ? बोला—जितनेमें लाये थे उतने में बिक गया। पूछा कि मुनाफा क्या मिला ? बोला—मुनाफा मिला एक दो आनेका मिट्टीका हुक्का।

सो ऐसी ही बात हम आप सबको है। जो-जो मिलता है सब मुफ्त मिलता है। इसमें आत्माकी कमाई कुछ नहीं। जीव तो उनको छूता भी नहीं है। जीवसे तो सब चीजें न्यारी हैं। ये सब मुफ्त में ही मिली हैं और मुफ्तमें ही मिटेंगी। आप लोगोंने देखा होगा कि दसों बीसों व्यक्तियोंने जो कुछ भी मुफ्त में प्राप्त कर लिया होगा, छोड़ करके चले ही गये होंगे। धन, स्त्री, पुत्र आदिके पीछे जो मोह किया, तृष्णा किया, वह पाप साथ रहता है। चीजें कोई भी साथ न रहेंगी। सब निकल भागेंगी। मगर तेरे परिणाम ही तेरे साथ रहेंगे। सो भैया ! आशाको छोड़ो। इस आशाने तो इन प्राणियों को बहकावेमें डाल दिया है। इस आशासे दूर रहो तो इस हालतमें सुखी रहोगे और यदि इस आशाको ही चिपकाये रहे तो हर हालतमें दुःखी रहोगे। इन आशावोंको दूर कर अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होवो।

सतृष्णस्य सदाकुल्यमर्थाः सन्तु न सन्तु वा।
धीसारं न भवेदिच्छा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-८॥

देखो भैया ! ये पदार्थ हों या न हों, पर यदि पदार्थोंमें तृष्णा रही तो आकुलताएं ही हैं और यदि तृष्णा न रहे तो निराकुलता है। सारा दारमदार तृष्णा पर ही है। तृष्णा है तो दुःख है और तृष्णा नहीं है तो दुःख नहीं है। देहातोंमें तो लोग खेती करके और ऊंची-नीची जमीन पर सोकर आनन्द लेते हैं, पर शहरोंमें, नगरों में बड़े आदमियोंको देखा होगा कि सब कुछ उनके पास है, मोटर चल रही है, फर्म चल रही है, मिल चल रहा है, हजारों आदमी काम कर रहे हैं, फिर भी सुखसे नहीं सो पाते हैं। प्रायः देखनेमें मिलता है कि वे लोग तीन-चार घंटे मुश्किलसे सोते हैं। और सोतेमें भी कुछ न कुछ बड़बड़ाते हैं। किसान तो रात-भर सोते हैं। अनाज उपज जाय इतना ही मात्र वे सोचते और सुखी रहते हैं। वे सादा भोजन करते और मस्त होकर गाते रहते हैं।

सादा भोजन करके अपने हित का यत्न करो। तृष्णा न रहे तो सुख है। कोई देहाती ही कहीं शहरमें जाकर गुलाबजामुन चख आयेतो उसके उसका स्वाद लग गया। यदि स्वाद लग गया तो फिर दुःख ही होगा और अगर सीधे-सीधे चल रहे हैं तो जो कुछ खाते हैं उसी में मस्त रहते हैं। जो लखपति है, करोड़पति है तृष्णा करके ही अपने को बरबाद किया करते हैं। अरे, इस तृष्णा पर लात मारो। यदि संतोषमय जीवन बिताओगे तो आनन्द मिलेगा। यदि तृष्णावोंसे युक्त जीवन रहा तो आनन्द न मिलेगा।

देखो भाई और जीवोंकी अपेक्षा हम और आपने कितनी बुद्धि पायी कितना ऊंचा दिमाग पाया, कितने अच्छे विचार पाये, कितना अच्छा ज्ञान पाया, कितनी अच्छी सद्बुद्धि पायी ? फिर भी अपने जीवनको अगर सफल न बना सके तो मनुष्य-जन्म पाना व्यर्थ है। वह जीवन पशुवोंके ही समान हैं। यदि अपने जीवनको सफल न कर सके तो कभी शांति न मिलेगी। अगर इच्छाएं ही उत्पन्न किया करते हैं। इन इच्छावोंकी पूर्ति हो जाने पर वे भी गम नहीं खाते हैं। वे निरन्तर इच्छाएं ही उत्पन्न किया करते हैं तो इच्छावों के कारण ही उन्हें क्लेश मिलत हैं। तो भैया, इन इच्छावों को अपने ज्ञान से ही मिटा दो। भोगोंसे तो इच्छाएं न मिटेंगी। भोगोंसे तो दुःख ही रहेगा। जब तेज इच्छाएं होंगी तभी भोग होगा। भोग होनेसे ही अधिक इच्छाएं बढ़ेंगी। अरे इच्छावोंकी ओर जायेंगे तो इसका फल दुःख ही है। अगर इच्छाओंको बाहर कर दें तो दुःख दूर हो जायें। इच्छावों को दूर करनेका उपाय है कि वस्तुओंका सही स्वरूप समझ ले कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। किसीमें कुछ नहीं मिलता। मैं तो ज्ञानका भण्डार हूं। अगर यों प्रभुकी भक्ति हो तो क्लेश मिट जायेंगे, इच्छायें मिट जायेंगी। इन इच्छाओं को दूर करनेका दूसरा उपाय नहीं है।

पूर्ण वस्यापि कृत्यं किं चिकीर्ष्येऽद्वन्द्वता कदा ।
न चे त्यक्त्वा हि सर्वाशां स्यां क्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–९॥

किसी ने कोई काम किया तो वह जीव जैसा कामको करेगा वैसी ही उत्कंठा रहेगी । उन कामोंके कदाचित् हो जाने पर भी कुछ और करनेकी, अभिलाषा जगती है । इस कारण यह बात जब ठीक रही कि किसीका काम पूर्ण हो गया हो तो भी उसे शांति नहीं मिलती । इससे ही यह साबित है कि काम पूरा किसीसे नहीं होता और मोह अवस्था में काम किसी भी हालत में पूरा हो ही नहीं सकता ।

एक किंवदन्ती है कि एक बार नारदजी सैर करनेके लिए नर्क गए । वहाँ उनको खड़े होने तककी भी जगह न थी । इतने जीव नर्कमें भरे थे कि उनकी भीड़की वजहसे खड़े होने तककी जगह न मिली । जैसेकि कभी जेलमें खड़े रहने तककी गली नहीं मिलती है वैसे ही नारदको वहां पर खड़े होने तक को जगह न मिली । वहां से वे भागे और ऊर्ध्वलोक की सैर करने गये । स्वर्ग को सैर करने गये । वहां पर बैकुण्ठमें देखाकि अकेले विष्णुजी महाराज बैठे हैं । नारद बोले हे भगवान् विष्णु आप बड़े हो पक्षपाती हैं । नर्क में तो सारेके सारे जीव भेज दिये और यह सारा बैकुण्ठ खाली पड़ा है । विष्णुजी बोले हम पक्षपाती नहीं हैं । यहां कोई आता ही नहीं है । यदि कोई आता हो तो इजाजत है तुम्हें कि उसे ले आओ । वह खुश होकर मृत्युलोक आये और सोचने लगेकि किसे लिवा ले जायें । मार्गमें कोई बूढ़ा आदमी मिला, सोचा कि अब तो यह मरना ही चाहता है, इसे ही लिवा जायें । नारदने उस बूढ़े आदमीसे कहा कि चलो तुम्हें हम स्वर्ग ले चलें । सब लोग जानते हैं कि मरे बिना कोई स्वर्ग नहीं जाता । वह बूढ़ा बोला कि अरे मैं ही तुम्हें मिला मरनेके लिये ? मैं नहीं जाऊंगा, किसी दूसरेको जाकर लिवा लो । दो चार बूढ़ों को टटोला पर सबने जवाब देदिया, बूढ़ोंसे नारद निराश हो गये । एक जवानसे कहा कि चलो तुम्हें स्वर्ग ले चलें । जवानकी बात जानते ही हो । जवान बोला कि अभी लड़की की शादी पड़ी है, दुकान खोलनी है, सारा बन्दोबस्त करना है, तो जवानों ने भी इसी तरह मना कर दिया ।

सोचाकि अब किससे कहें ? अच्छा चलो अब बच्चोंके पास चलें । शायद बच्चोंमें से कोई तैयार हो जाय । एक मंदिरके चबूतरे पर १८-१९ वर्ष का बच्चा तिलक लगाये बैठा था । नारद बोले बेटा ! चलो तुम्हें बैकुण्ठ ले चलें । वह बैकुण्ठ जानेको तैयार हो गया । नारदने कहाकि वहां चलनेके लिए सारे झंझट त्यागने होंगे । वह बोलाकि नारद जी हमारी सगाई होरही है, कल बारात जायेगी । नाते रिश्तेदार भी ज्यादा आरहे हैं ।

तो आप कृपा करके ४-५ वर्ष गम खा जाइए, फिर आना तो चलेंगे। उसका विवाह भी हो गया। ५ वर्षके बादमें नारदजी आये, बोले बेटा अब चलो। बोला—महाराज, अभी एक साल हुआ बच्चा हुआ है, तनिक खिला ही लें। अभी तक एक साल तक शर्मके मारे मैं छू ही नहीं सका। अब आप ५ वर्ष गम खावें, फिर आना तब चलेंगे। ५ वर्ष बीत गए। फिर नारद आये, बोले बेटा चलो। बोला महाराज लड़केको पढ़ा लें, योग्य कर लें, यह कम से कम अपने पैरोंके बल खड़ा तो हो जाय। आपसे निवेदन है कि आप २० वर्षके बाद जरूर आना। अब २० वर्षके बादमें फिर नारद आये बोले—बेटा चलो। बोला—महाराज लड़केकी सगाई हो गई। अब अपने नातीको तो देख लें। कृपा करके आप १०-१५ वर्षके बादमें जरूर आना। १०-१५ वर्ष बीत गए। नारद आए, बोले—चलो बेटा, अब चलो। बोला—महाराज, मुश्किलसे धन कमाया, लाखों की सम्पत्ति जोड़ी, मगर दुर्भाग्यसे पुत्र कुपूत निकल निकल गया और नाती उससे भी अधिक कुपूत निकला। अगर मैं चलूं तो सारी सम्पत्ति बरबाद हो जायेगी। लो महाराज कृपा करके आप अगले भवमें जरूर आना। अब तो वह मर गया और मरकर उस घरकी कोठरीमें सांप हुआ जिसमें वह सम्पदा गाड़ता था। अब वहां भी नारद पहुँचे, कहा—चलो बेटा दूसरा भव भी आ गया, अब तो चलो। तब वह सांप फन उठाकर कहता है—महाराज, यहां पर धन गड़ा हुआ है, यदि मैं इसकी रक्षा नहीं करता तो सारी सम्पदा बरबाद हो हो जायेगी। वहांसे नारद जी विष्णु भगवान्के पास आए। बोले—महाराज, मेरी ही गलती थी, जो मैंने कहा था कि आप किसीको नहीं बुलाते। मैंने बहुत कोशिश की, बूढ़े, जवान, बच्चे सबसे कहा, मगर कोई यहां आनेके लिए तैयार नहीं हुआ।

किसीका कोई काम नहीं पूरा होता, किसीकी कोई बात नहीं पूरी होती, किसीका बच्चोंमें मोह है, कोई कहता है कि ५ साल बाद जायेंगे, ५ साल भी हो जाते हैं, जी न भी पूरा हो जाता है, किन्तु विषयोंसे कोई मुख नहीं मोड़ता। इस तरह से कोई यहां आनेके लिए तैयार नहीं होता है। भला बतावो किसीका काम भी पूरा होता है क्या? करनेको कुछ न कुछ पड़ा ही। अब यह इच्छा है, अब यह इच्छा है, इस तरहसे काम पूरे हो ही नहीं पाते हैं। जिन्दगी अगर इच्छाओंसे ही बितादी तो ऐसा मनुष्यभव पाना व्यर्थ रहा। अब करनेकी बात क्या है कि अपनी इच्छावों को त्यागकर अपने स्वरूपको देखो, अपने भगवान् में चित्त लगावो, अपने आनन्दमय प्रभुकी भक्तिमें ही रहो और अपने में अपने आप सुखी हो। किसी अन्यसे सुखकी आशा रखना व्यर्थ है।

प्रवृत्तावेव नानात्वं निवृत्तावेकरूपता ।
शांतिमार्गे निवृत्तिर्हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वनम् ॥४-१०॥

देखो करना और हटाना—ये दोनों बातें दुनियाके अन्दर है। करना तो होता है नाना तरहका और हटाना होता हैं एक तरहका। हटनेके कई प्रकार नहीं हैं, पर करनेके कई प्रकार हैं। कोई काम करनेको पड़ा हो और करे तो कोई किसी यत्नसे, कोई किसी यत्नसे, नाना प्रकारसे करता है और कुछ न करना याने जो विश्रामकी हालत है वह केवल एक प्रकारकी है। सो प्रवृत्तिके नानारूप हैं और निवृत्तिका केवल एक ही रूप है। करना तो नाना तरहसे है, पर आलस्य न होना, सब कार्योंसे विरक्त होना, सबके एक ही किस्मका है। अभी साधुवोंमें जो नाना भेष होंगे, कोई साधु जटाधारो, कोई साधु डंडा लिए हुए, कोई भस्म लगाये हुए, कोई तिलक लगाये हुए, कोई अन्य प्रकार का है, सो ये जो नाना रूप बन गये हैं, नाना रूप साधुपनेके बन गये हैं, सो भैया। प्रवृत्ति में साधुता नहीं है। साधुता का तो केवल एक काम है—निवृत्ति करना। निवृत्तिको ही साधुता कहते हैं।

घरसे प्रेम न रहे, घर से हट गये, धन-वैभवसे हट गये, कई प्रकारके खाने-पीने से हट गये, किसी किसीका तो यह खाना-पीना भी छूट जाता है। बहुतसे कपड़े मंजूर न हों तो छोड़ दिए, कोई-कोई बिल्कुल ही छोड़ देता है। इस प्रकारसे निवृत्ति लेना यह तो साधुका काम है पर कोई दूसरी चीज लपेटना, छल करना साधुका काम नहीं है। इसलिए साधुके भेष नाना नहीं होते। राग न झलकता हो, प्रवृत्ति न हो, दूसरी चीजों का हटाना ही बना रहे तो उसे साधुता कहते हैं। तो भैया, प्रवृत्तिके नाना रूप हैं, किन्तु निवृत्तिका एक रूप है। अब यह देख लो कि दंद-फंदमें शान्ति मिलती है या सबसे हटकर रहने में शांति मिलती है।

भगवान्का स्वरूप क्या है ? भगवान्का स्वरूप है केवल ज्ञानानन्दमय रहना, सबसे जुदा रहना। देखो भैया, केवल भगवान्के एक बिस्वास पर ही नहीं रहोगे तो जगह-जगह ठोकर खावोगे। देहातोंमें देखो, एक गांवसे दूसरे गांवमें जावो मानलो सतगवांसे लड़वारो जावो तो रास्तेमें कमसे कम १५-१६ चबूतरे मिलेंगे। कोई दूल्हा ले जायें तो १७ जगह सिर पटकेंगे और दुःखी होते रहेंगे। एक भगवान पर ही विश्वास हो तो वह एक भगवान का आलम्बन सारे संकटोंसे बचायेगा। यों ही ये जो १५-१६ रास्तेमें मिले, यह फलां बाबा हैं, ये फलां देवी हैं इत्यादि ये कुछ नहीं, और हों तो वे सब उस भगवानके हो सेवक हैं। उन सैंकड़ों देवी-देवताओं पर ही विश्वास माना तो ये तो उस भगवानसे भी बड़े हो गये तुम्हारो निगाह में, कोई किसी नामका देव है, कोई किसी नामका देव है। बतलावो से सब

उस भगवान्से बड़े हैं क्या ? अरे ये हैं ही कुछ नहीं । तुम्हारी कल्पना है और हों भी कोई व्यन्तर तो वे सब भगवान्के ही सेवक हैं । भगवान्से जिसकी प्रीति है, रुचि है वह निःशंक है, निर्भय है । विश्वास आपका एकहो, दूसरा नरहे । किसी बातमें आप अडिग न रहें तो कुछ सिद्धि ही नहीं है । कहा करते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों बन्धु कहीं चले जा रहे थे । रास्ते में एक नदी मिली । रास्तेमें नदी तैरकर जाना था । सो मुसलमानका एकही विश्वास था । अल्लाह-अल्लाह करते वहतो पारहो गया । अब हिन्दू भाई नदीमें थोड़ा आगे बढ़ा, बोला—हे विष्णु भगवान् ! रक्षा करो, और थोड़ा आगे बढ़कर बोला–हे ब्रह्माजी रक्षा करो । विष्णुजी आ रहे थे, पर जब सुना कि ब्रह्मा को पुकार रहा है तो वापस लौट गये । फिर थोड़ा आगे बढ़ा, बोला—हे भैरवजी ! रक्षा करो, ब्रह्माजी ने यह सोचा कि यह हमें चाहता नहीं, यह तो भैरवको पुकार रहा है वह भी लौट गये । इसी तरह से बीसों देवी देवताओं को पुकारा, कोई न आये और लौट गये । इस तरहसे वह हिन्दू भाई नदी में बह गया, कहींका कहीं चला गया । एकका विश्वास नहीं है तो यही परिणाम होता है । भैया, एक ही का विश्वास करो । ज्ञान-स्वरूप एकके सिवाय दूसरा भगवान् कैसे हो सकता है ?

अपना स्वरूप नजरमें आना चाहिए तो भगवान्का भी स्वरूप समझमें आयेगा । एकही जगह चित्त डालना है । अपना भगवान् ही रक्षा कर देगा । परिवारकी जो जीव चिंता करते हैं वे मूढ़ हैं । उनके साथ कर्म है कि नहीं । अरे उनके साथ कर्म तो कहो उससे भी बढ़कर हैं तभी तो अपने बालकोंसे ही वे मोह बनाये रहते हैं । उन बालकोंको ही गोद में लेकर खिलाते-पिलाते । बाम्बे बगैरा से उनके खेलने कूदनेका सामान मंगाते । रात-दिन बुरी तरहसे उन बालकोंके पीछे परेशान रहा करते हैं, बच्चों के पीछे तकलीफ उठाया करते हैं । अब यह बतलाओ कि आपका भाग्य अच्छा है कि आपके लड़कोंका भाग्य अच्छा है । अरे वे तो उन बच्चोंकी नौकरी कर रहे हैं । सेवा सुश्रूषा कर रहे हैं । इसमें तो उन बच्चोंका भाग्य ही अच्छा है । उनके ही पुण्य का उदय है जिससे उन बच्चोंके पीछे ही वे चिन्ता किया करते हैं, विकल्प किया करते हैं । बच्चे जैसे आप भी थे, पर अब वह पुण्य उठता गया । इन बच्चोंमें भी कुछ बड़े होने पर पुण्य न रहे तो ऐबकी बातें आ जातो हैं और सारा पुण्य खत्म हो जाता है ।

सो भैया, यथार्थ अपने आपको सोचो । जो जीव हैं वे सब अपना-अपना उदय लिए हुए हैं । उनके अनुसार ही उनका जीना, मरना, सुखी-दुःखी होना निर्भर है । हम उनके मरने जीनेमें, सुखी-दुःखी होनेमें हाथ नहीं बटाते हैं । और अन्य कोई भी देवी देवता हमारे

उनके सुख दुःख का कर्ता हर्ता नहीं है। फिर क्यों वे देवी देवतावों में ही अपना सर रगड़ते हैं पचासों प्रकार की उन देवी देवतावों से ही अपनी आशा रखते हैं। क्या वे उन देवी देवतावों में ही मस्तक रगड़ने से सुखी हो जायेंगे ? भरोसा केवल एक का रखो। इस शुद्ध चैतन्य प्रभु का स्वरूप ही अपने आप में बसा हो। परमात्मा का भरोसा रखो। बाकी तो सब अज्ञान की बातें हैं। अपने आप को संभालो, अपने आप में निवृत्तिक भावना लावो।

भैया आनन्दका मार्ग निवृत्तिमें ही है, रिटायर होनेमें है, जुदा होनेमें है। किन्तु प्रायः यहाँ हाल यह हो रहा है कि ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है त्यों-त्यों तृष्णा भी बढ़ती जाती है विरले ही लोग ऐसे होते हैं जो वृद्धावस्था तक ज्ञान की ओर लगे रहते हैं वे ही व्यक्ति ज्ञानमें लग जाते हैं जिन्होंने बचपनसे ही धर्मसाधना की हो। शरीर तो जीर्ण हो जाता है, पर तृष्णा जीर्ण नहीं होती। जो बूढ़े हो जाते हैं उनको बच्चे लोग बब्बा बोलत हैं। बब्बाका असली शब्द है बाबा। अरियाकर बोलते हैं तो जी को अलग कर देते हैं। असली शब्द है बाबाजी। बाबाजी के मायने पार होना अर्थात् आत्माका गृहजालसे हटकर मोक्षमार्ग के तट जाना। मगर वे बाबा जी न रहकर जावा जी रहते हैं, किन्तु उनको जावा जी कहा जाये तो नाराज होते हैं और अगर बाबा जी कहते हैं तो खुश होते हैं।

भैया, सब संकट प्रवृत्तिमें हैं। यह जितना ही गंदा दिमाग होता है उतना ही भ्रम रहता है। सो अगर दुःख मिटाना है तो अपने शुद्ध ज्ञानकी ओर आना चाहिए। शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रथम तो देव, शास्त्र, गुरुका सच्चा निर्णय तो कर लो। देव कौन हो सकेगा ? देवके मायने भगवान। शास्त्र कौन हो सकेगा ? शास्त्रके मायने भगवान बनने का उपाय और गुरु कौन हो सकेगा ? गुरुके मायने रास्ता बताने वाला, ज्ञान सिखाने वाला। हम ठीक-ठीक निर्णय कर लें कि देव कौन हो सकता है ? शास्त्र कौन हो सकता है ? और गुरु कौन हो सकता है ? जो कल्याणके लिए आदर्श हैं वे देव हैं और जिसमें देवत्वप्राप्ति का उपाय लिखा वह शास्त्र है। जो जीवोंके लिए कुछ सिखाते हैं, जो कल्याण का उपाय बताते हैं वे गुरु हैं। ऐसे देव, शास्त्र, गुरुके प्रति भक्ति जगे कि ऐसे ही रूपमें शान्ति है, ऐसा ही स्वरूप उत्कृष्ट है, इस ही स्वरूपमें कल्याण है, इसमें ही हमें लीन होना चाहिए।

जीवका स्वरूप विचारकर कल्याण भाव जगे वे देव हैं। जो पूर्ण ज्ञानमय है, पूर्ण आनन्दमय है वही तो देव है। ज्ञान और आनन्दास्वरूप वह भगवान है। हाथ पैर वालेको लेकर मत बोलो कि वह भगवान है। शरीरके अकारको देखकर मत कहो कि यह भगवान है। यह ज्ञानज्योति और आनन्दस्वरूप अपना भगवान है। ऐसा ही होनेका, रागद्वेष मिटाने का जिसमें वर्णन है वह शास्त्र है और जो हमें सिखाता है वह गुरु है। अब बतलावो जो

देवी देवता रास्तेमें बने हैं वे देव में शामिल हैं कि शास्त्रमें शामिल हैं कि गुरुमें शामिल हैं ? ये किसोमें भी तो शामिल नहीं हैं । लोग अपने हितकी बात नहीं सोचते । ये जगत् के प्राणी तो बिल्कुल बच्चासा बन रहे हैं ।

जैसे किसीने बच्चे से कहा कि कौवा तेरा कान ले गया तो वह बच्चा उस कौवेके पीछे दौड़ता है, चिल्लाता है । अरे कौवा मेरा कान ले गया । कोई आदमी बोला—अरे कहाँ दौड़ रहा है ? तो बच्चा बोलता है कि अभी बात मत करो, फुर्सत नहीं है मेरा कान कौवा लिए जा रहा है । तब वह आदमी बोला—अरे कौवा कहाँ तेरा कान ले गया ? तेरा कान तो लगा हुआ है । देखा तो कान लगे थे । उसने समझ लिया कि कान तो मेरे लगे हैं, कौवा नहीं ले गया है ।

इसी प्रकार जब जिन्होंने जिसको जैसा बहका दिया वह सत्य मान रहा है, उसीके पीछे चल रहा है, फिर दुःखी हो रहा है । हे सुखार्थियों, ऐसा विश्वास रखो कि भगवान वही है जो पूर्ण ज्ञानमय है, पूर्णानन्दमय है जिसमें कोई आकुलताएँ नहीं हैं, सदानन्दमय है, जिसका कुछ और काम करने का स्वभाव नहीं है । और जो कुछ अटपट खटपट न किया करे तो वही विश्वका ज्ञाता है । जो आत्मा सत्यानन्दसे पूर्ण रहता है वही भगवान है । बात कुछ कठिनसी लग रही होगी किन्तु कठिन है नहीं । तुम्हारी बात तुम्हें ही कही जा रही है । जैसा तुम्हारा स्वरूप है तैसा ही प्रभुका स्वरूप है । अपनी आत्माकी कीमत नापो, दीन हीन न समझो । तुम स्वयं चैतन्य प्रभु हो, प्रभु स्वरूप हो, अपनेको दीन हीन न समझो । तुममें ही वह शक्ति मौजूद है, तुममें ही वह तत्व मौजूद है कि जिसको निहारनेसे सारे पाप धुल जाते हैं और उत्कृष्ट प्रभुका रूप प्रकट हो जाता है । सो अपने भगवानको पहिचानो अर्थात् उस ज्ञान और आनन्दस्वरूपको अपना प्रभु समझो, उसका ही भरोसा रखो, उससे ही जीवन पार होगा ।

भैया, जो सन्मार्गकी ही बातें बतलाने वाले, धर्मका ही मार्ग दिखाने वाले हों उनकी उपासना करें और अपना सही स्वरूप नजरमें लावें । अपने सत्यस्वरूपकी उपासना करके, आराधना करके, भक्ति करके अपने अज्ञानको मिटावो तो सुख का मार्ग मिल सकता है । नहीं तो सुखका सही मार्ग नहीं मिल सकता ! मोहमें आकुलताएँ ही हैं तबाही हैं, बरबादी ही है, यही मोहका फल है । मनुष्यसे मिटकर चिड़िया बन गया तो उसमें मौज किया, सूकर बन गया तो उसमें मौज किया । जिस जगह जीव जाता है, जिसके संग में रहता है वह वहीं मोह करता है । उसीमें ही यह जीव फंसा है । अरे यह जीव तो प्रभुके समान है ।

सो अपना सत्य ज्ञान जगावो और व्यर्थके जो अशान्ति और क्लेश हैं उनको मिटावो यही सच्चा ज्ञान है।

लोभादधस्ततः क्लेशोऽतस्तृष्णालुः सदाकुलः।
वीततृष्णः स्वभावो मे स्या स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–११॥

लोभसे पाप होते हैं। लोभ एक ही किस्मका नहीं है, सैकड़ों किस्मका है। शरीरमें लोभ हो, धन में लोभ हो, समाजमें इज्जत चाहनेका लोभ हो, कितने ही प्रकारके लोभ होते हैं पर सब प्रकारके लोभोंसे पाप ही पैदा होते हैं। जीव अपना स्वभाव देखे तो यह पता पड़ेगा कि यह तो सबसे निराला, केवल ज्ञानस्वरूप है। इसका किसी भी पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सबसे बड़ा संकट इस जीवको है तो यह है कि परपदार्थोंमें अपना मन लगाये हैं। यह संकट मामूली नहीं है। इस जीवको यह एक बड़ा संकट है। कुछ प्रयोजन नहीं, परपदार्थ हैं, न कोई साथ आता है और न साथ जाता है फिर भी उसमें यह कल्पना हो कि यह मेरा है तो यह उसकी भूल है। बस ऐसा ख्याल हो जाना ही इस जीव पर बड़ा संकट है। पर मोही जीव इस संकट को संकट नहीं मानते और उसमें ही फूले हुवे फिरा करते हैं। सो कुछ ही समयमें इसका भी खोटा परिणाम निकलता है कि रोते-रोते मरना पड़ता है। सब पापोंकी जड़ लोभ है।

एक कथानक है कि कोई पंडित जी बनारससे पढ़कर घर आये। भावना तेज बढ़ी। पढ़ लिखकर आये तो अपनी स्त्रीसे बहुत बड़ी-बड़ी बातें करने लगे कि मैं बहुत बड़ा पंडित हूँ, काशीसे पढ़कर आया हूँ, मैं शास्त्री पास हूँ। तब स्त्री ने केवल एक प्रश्न पूछ लिया कि पापका बाप क्या है? अब पुस्तकों में उलट पुलट कर देखते हैं तो उसमें कहीं नहीं लिखा कि पापका बाप क्या है? बहुतसे ग्रन्थ देख डाले, न तो व्याकरणमें, न शास्त्रों में न दर्शनशास्त्रमें, कहीं भी पापका बाप लिखा हुआ ही न मिला। उसने मनमें सोचा कि हमारे गुरुने खूब पढ़ाया तो है पर एक चीज उसने छिपा ली है कि पाप का बाप नहीं बताया है। जैसे कोई लौकिक गुरु होता है वह अपने शिष्यों को सब कुछ बता देता है पर कुछ न कुछ कुञ्जीकी बात अपने बचावके लिए वह नहीं बताता है। ऐसा ही उसने सोचा कि सब कुछ तो गुरुने पढ़ा दिया पर एक चीज मुझे नहीं पढ़ाई, यह मेरे साथ बहुत बड़ा छल किया है। सोचा कि अब मैं गुरुके पास चलूं और उनसे उत्तर पूछूं। तो वह काशीको पैदल ही चल दिया। रास्तेमें ही एक जगह शाम हो गई। किसी तरहसे नगरके किनारे पहुँचे। नगरके किनारे एक बड़ा घर था, उसी घरके चबूतरे पर वह लेट गया।

जब सुबह हुआ तो उस घरकी मालकिन वेश्या नीचे उतरी। देखते ही पूछा, अरे

तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? बता दिया मैं शास्त्री हूँ, मैं अमुक हूँ । मेरी स्त्रीने यह प्रश्न किया कि पापका बाप कौन है ? तब मैं गुरुसे पूछने के लिए जा रहा हूँ । वेश्या बोली कि आप थक गये हैं, हमारा बड़ा अच्छा भाग्य है कि आप यहाँ आये हैं । कृपा करके आप भोजन करके चले जाना । उस पंडित ने कहा कि आप कौन हो ? वह बोली आपकी सेविका वेश्या हूँ । ब्राह्मण बोला कि अरे वेश्याका नाम सुनते ही पाप लग गया । फिर तो चबूतरे पर सोने का भी पाप लगा, भोजन तो होता ही कैसे ? वेश्या बोली–महाराज जहाँ सोये हो वह तो पत्थर हैं । वहाँ सोने से क्या पाप लगा ? और अगर आप को पाप लगा है तो आप ५ अशर्फियाँ ले लीजिए, सो आप अपना यज्ञ रचा लीजिए, प्रायश्चित हो जावेगा उस पंडितने पाँचों अशर्फियाँ ले लीं। वेश्या बोली –कृपा करके आप भोजन बना लीजिए, कहा– बहुत ठीक । भोजनका सामान वेश्याने धर दिया । अब तो सिगड़ी बाहर जलने लगी । वेश्या बोली–महाराज! आप जैसे बाहर बनाते तैसे ही अगर भीतर बना लें तो क्या हर्ज ? आखिर जैसे ईंट पत्थर यहाँ हैं तैसे ही वहाँ हैं । अगर कोई दोष लगता हो तो ये पाँच अशर्फियाँ रखी हैं इनसे प्रायश्चित कर लेना । सो भीतर चला गया । अब भीतर सिगड़ी जलने लगी । वेश्या बोली–महाराज! आप सब कृपा करते जा रहे हैं हमारे ऊपर, एक कृपा और कीजिए । आपके हाथमें और हमारे हाथमें कुछ फर्क है क्या ? फर्क तो नहीं है । आप जल रहे हैं आप तकलीफ न करें, मैं ही बनाए देती हूँ । यदि दोष लगता हो तो ये ५ अशर्फियाँ रखी हैं प्रायश्चित कर लेना । पंडित जी ने पाँच अशर्फियाँ वे भी ले लीं । वेश्या ने खाना बना दिया । अब वेश्या बोली–महाराज! आपने सब कृपा मुझपर की, अब आप करुणा करके इतनी और कृपा कीजिए कि अपने मुँहमें मुझसे ग्रास ले लीजिये तो मेरा जन्म कृतार्थ हो जायगा । यदि कुछ दोष लगता हो तो ये ५ अशर्फियाँ रखी हैं । पंडितजी ने कहा–ठीक है । अब तो वेश्याने मुँहमें ग्रास तो नहीं रखा, पर मुँह पर एक तमाचा मारा । बोली–मूर्ख पापका बाप पूछने तू बनारस जा रहा है । तो यही सीख ले । यह लोभ ही पाप का बाप है । लोभको पापका बाप बखाना ।

जितने झगड़े होते हैं उनकी जड़ लोभ है । इस लोभ के कारण मनुष्य बेमनुष्य हो जाता है । किसी भी प्रकार का लोभ हो, लोभ हो जानेसे संकटमें घिर जाता है सब संकटों का कारण तो यह लोभ है । लोभसे ही पाप होते हैं और पापोंसे ही घिर क्लेश होते हैं ?

एक आदमी बाजारमें गया और पूछा कि भाई नारियल क्या भाव है ? वह बोला– चार आनेमें एक । वह बोला दो आने लोगे ? दुकानदार बोला–भाई तुम्हें दो आने का लेना हो तो नागपुर चले जाओ । नागपुर वह गया वहाँ जाकर भाव पूछा । दुकानदार

बोला–दो आने का एक। बोला–नहीं चाहिए। एक आना लोगे ? बोला–भाई एक आने का लेना चाहो तो बम्बई चले जाओ। वह बम्बई गया। पूछा–नारियल का क्या दाम है ? बोला–एक आनेका एक। कहा–आधा आना लोगे। दूकानदारने कहा–भाई आधा आनेका लेना हो तो ये भी क्यों लगाओगे, पास ही में तो देहातमें पेड़ हैं, चढ़कर तो लेना। वह देहात चला गया, पेड़पर चढ़कर नारियल तोड़ने लगा। सो डाली तो हाथसे पकड़े रहा और पैर छूट गये, वह लटक गया। इतनेमें एक हाथी वाला निकला। वह हाथी वालेसे बोला–हमें उतार लो, हम तुम्हें ५०० रु० देंगे। वहाँ तो दो पैसे बचा रहे थे और अब यह हालत। हाथी वाला नीचे आकर पकड़ने लगा। हाथी पर खड़े होकर भी नहीं आया, कुछ ऊपर था। हाथी वाला उछलकर पकड़ने लगा। यह तो उछला और उसी समय हाथी कुछ खिसक गया। वह हाथी वाला भी ऊपर उसकी टाँगसे टंग गया। अब हाथी वाला उस दूसरे व्यक्तिसे कहता है कि भैया डालीसे हाथ नहीं छोड़ देना, हम तुमको ५०० रु० देंगे। अब एक ऊँट वाला निकला, ऊँट वालेसे दोनों बोले–भाई हम लोगों को उतार लो हम तुम्हें पाँच-पाँच सौ रुपये देंगे। अब ऊँट वाला नीचेसे आकर उनको उतारने लगा। कुछ ऊँचापड़ता था, वह भी ऊँचा पड़नेसे ऊपर टंग गया। ऊँट भी खिसक गया। ऊँट वाला ऊपर वालेसे कहता कि तुम छोड़ नहीं देना, हम तुम्हें ५०० रु० देंगे। अब एक घोड़े वाला निकला। तीनों बोले–हम सब पाँच-पाँच सौ रुपये देंगे, हमें उतार लो। वह भी उसी तरहसे पकड़ने उछला तो वह भी घोड़ेके खिसक जाने से ऊपर टंग गया। वह भी ऊपर वालेसे बोला कि भाई छोड़ना नहीं, हम तुम्हें ५०० रु० देंगे।

तो भैया! लोभसे देखो कितनी हैरानी हुई ? लोभका पाप बहुत बुरा होता है। देखा होगा लोगोंको कि बाजारमें सब्जी खरीदने गये, जरा अधिक सयानापन किया तो जरा सी बातमें कहते हैं, ठगे गये, खराब सब्जी ले आये, दाम भी खूब दे आये। होता है ना भैया! कभी ऐसा भी ? इस लोभका परिणाम केवल व्याकुलता होती है, क्लेश होता है सो भैया जो तृष्णा करने वाले जीव हैं वे सदा व्याकुल रहते हैं।

अब बताओ ऐसा उपाय कि जिससे तृष्णा न रहे। तृष्णा रहनेसे ही मोही बाहरी चीजोंको पकड़े रहता है। तृष्णा रही तो उसका गुजारा कैसे होगा ? रक्षा कैसे होगी ? तृष्णा न रहे तो सब ठीक हो जायेगा। ऐसा कोई उपाय दिखाओ कि जिसमें तृष्णा न रहे। वह उपाय अन्य कुछ नहीं है। यही उसका उपाय है कि अपना यथार्थस्वरूप जान लें। यदि अपने यथार्थस्वरूपको जान लें तो तृष्णा लोभ आदि मिट जायेंगे। ये जगत् जीव हम और आप इस मोह और तृष्णामें ही प्रसन्न हो रहे हैं अहंकार रख रहे हैं, तुम देख लो

कितने ज्यादा दुःखी हो रहे हैं ? कितनी बड़ी बुद्धिमानी है देख लो कि हम सब पाप को ही अधिक चाहते हैं। ऐसे बुद्धिमान भी होते जा रहे हैं और दुःखी भी होते जा रहे हैं।

खुद कैसे बड़े हैं ? खुद तो अपनेसे कितने दूर हो गये हैं ? खुद परको को तो देखते जा रहे हैं और अपने आपको नहीं देख रहे हैं। यही कारण है कि लोकमें भ्रमते फिरते हैं। ऐसी प्रवृत्तिसे शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति तो प्राप्त हो सकती है तब, जब जैसा साफ अपना यथार्थस्वरूप है वैसा ही अपना उपयोग बनावें। मैं कैसा हूँ ? मैं सबसे नयारा हूँ कि मिलाजुला हूँ ? मिला-जुला तो हूँ नहीं। कुछ भी तो एकसी बात नहीं देखी जाती है। हम यहाँ बैठे हैं, आप यहाँ बैठे हैं। हमारा विचार हममें चलता है, तुम्हारा विचार तुममें चलता है। हमारे सोचनेसे तुममें कुछ नहीं होता और तुम्हारे सोचनेमें हममें कुछ नहीं होता। सबकी अलग-अलग बात है। मैं सबसे न्यारा हूँ, ऐसा समझ लो न्यारा अपनेको। देह तकसे भी न्यारा अपनेको समझ लो। केवल ज्ञानस्वरूप यह मैं हूँ। इस मेरेका जगत् में किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह मैं खुद ही ख्याल बनाकर सम्बन्ध मानता हूँ और प्रसन्न होता हूँ।

मैं तो सबसे जुदा हूँ, ज्ञानानन्दमय हूँ, ऐसा परिचय हो जाय तो यह बात उसके घर ही कर जायेगी कि मेरा जगत्के अन्य पदार्थोंसे कुछ प्रयोजन ही नहीं। ये मेरा क्या कर देंगे ? कुछ भी तो ये मेरा न कर देंगे। ऐसी बात यदि घर कर जाय तो तृष्णा न हो सकेगी। लोभ भी वहाँ न हो सकेगा। मेरा स्वभाव तो तृष्णारहित है, ज्ञानस्वरूप है और झगड़ा काहे मच रहा है ? यह सारा झगड़ा अज्ञानसे मच रहा है। जैसे स्वप्नमें झगड़े मचाना केवल कल्पना करके है इसी तरह धर्मकी आँखों जागते हुए भी मोह आदिके स्वप्न मचाया करते हैं। मोह छोड़ो तो शान्ति का उपाय मिलेगा। यह मोह अशान्ति को बढ़ाता है इस मोह की अजब गति हो गयी है। मेरा स्वभाव तो तृष्णारहित है। ऐसे स्वभाव में रहकर मैं अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

तृष्णाबन्धश्च संसारोऽतार्ष्ण्यं मुक्तिः स्वतन्त्रता।
वीततृष्णः स्वभावो मे स्याँ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–१२॥

संसार और मुक्ति इन दो का स्वरूप इसमें कहा जा रहा है कि संसार तो ऐसा है कि इसमें तृष्णा होगी और बन्धन होगा और मुक्ति कैसी है कि तृष्णा कहीं न रहे, पूर्ण स्वतन्त्रता आ जाय। सत्य-स्वतन्त्रताका नाम ही मुक्ति है। बतलाइये कोई किसीके आधीन है क्या ? कोई भी किसीके आधीन नहीं है कोई किसी को पकड़े नहीं है सब जीव जुदा-जुदा बैठे हैं पर हो क्या गया कि सबने समझ लिया कि सबसे मिले हुए हैं। ऐसी तृष्णाका ही

बंधन पड़ा हुआ है। चीजें तो सब अलग-अलग हैं। यह सबसे न्यारा है, इस देहसे भी न्यारा है। अगर किसीसे कहा जाये कि सब बखेड़ाको छोड़कर चलो आत्मारामें भ्रमण करो तो कोई भी तैयार नहीं होगा। कोई भी इस बन्धनसे छूट नहीं सकता।

देखो भैया, किसीसे कोई रस्सी नहीं बंधी है, कोई किसीसे चिपटा नहीं है, कोई किसीको चिपकाये नहीं है, फिर भी कोई बन्धसे छूट नहीं सकता। कोई अपने स्वरूपाराम में जानेके लिये तैयार नहीं हो सकता। दूसरोंको ऐसा लगता है कि इसमें क्या दिक्कत है? मगर कहा जाय कि चौधरी जी, सिंधई जी आप चले जायें, तो सामने एक दिक्कत आ जावेगी सारी दिक्कत यह है जो तृष्णाका बन्धन पड़ा हुआ है, यह बन्धन भावात्मक है, यह द्वन्द्वात्मक बन्धन नहीं, केवल अपने अज्ञानसे उठा हुआ बन्धन है। यह बहुत विचित्र बन्धन है। रस्सी में रस्सीको बांध दिया जाये तो दो चीजें हैं, इसलिये बन्धन हो गया। मगर यहाँ इसको बन्धन ही नहीं है। यहाँ तो केवल ख्याल बनानेका बन्धन है। किसी दूसरी चीजने नहीं पकड़ा है। जिस घर में बच्चे हैं वे बच्चे बन्धन हैं कि नहीं हैं? घर में स्त्री बन्धन है कि नहीं है? नहीं। वे अपने अज्ञानसे मोही बन्धनमें बंध जाते हैं। अगर अपनेमें अज्ञान है तो कहीं भी जायें सब जगह बन्धन है, और अगर बंधन है तो सब जगह दुःख है। जहाँ पर दुःख है वहाँ पर पाप है। अतः मोहरूपी पापसे बचनेके लिये मोहका त्याग करो।

एक गाँवमें एक बेवकूफ नामका आदमी था। उस बेवकूफको सब लोग मूरखचंद कहने लगे। जो आ जाता वही पूछता, क्या आ गये मूरखचंद? क्या जावेंगे मूरखचंद? इन सबसे वह बहुत चिढ़ने लगा। गुस्से में आकर उसने गाँव छोड़ दिया। जो देखे वही उसे मूरखचंद कहने लगा। गाँव छोड़कर तीन चार मील पर एक कुवाँ था। उस कुवेंकी पाटपर वह पैर लटकाकर बैठ गया। कुवेंकी पाट जो मेंड़सी होती है, जिसे मुनाबरे बोलते हैं उसी पर वह बैठ गया। सो अब वहाँसे एक मुसाफिर निकला। उस व्यक्तिको जो कुवेंकी मुनाबरे पर बैठा था, देखकर बोला—अरे मूरखचंद तुम कहाँ बैठे हो? उस व्यक्तिने सोचा कि इस व्यक्तिको मैं जानता नहीं, फिर भी वह मेरा नाम जानता है, मुझे मूरखचंद कहता है। वह उसके गले लगकर पूछता है कि तुमने मेरा नाम मूरखचंद कैसे जाना? उसने कहा—भाई तुम खुद मूर्खपनेका काम करते हो, जो कुवेंकी पाट पर बैठे थे। सो तुम्हारा नाम तो स्पष्ट है।

सो भैया, जिसके जैसी मोहकी आदत पड़ गई है वह चाहे घर में रहे, चाहे जहाँ रहे वह मोह ही करेगा। सो जब तक ज्ञान के प्रकाकी बात भीतरकी आत्मामें स्वच्छ नहीं बना ली जायेगी तब तक इसको शान्ति नहीं मिल सकती। अब अपनी-अपनी सोचिए। जब मैं पैदा हुआ तबसे अब तक घर में रहा, और क्या-क्या बातें देखीं, कितनी बातें सोचीं,

अनेक कर्तव्य कर डाले, बच्चोंमें, पोतोंमें, भाइयोंमें ही रहे। बीसों तो ब्याह रचा डाले होंगे, दस-पाँच तीर्थ कर डाले होंगे, समाजके बड़े-बड़ काम कर डाल होंगे, सब कुछ कर डाला है, पर आजकी बात कहते हैं कि आत्माके भीतरकी रोकड़बहीमें कितनी रकम आयी है? सो बतलावो। भीतरमें देख लो क्या शान्ति मिली है? कुछ भी तो शान्ति नहीं मिली है। शान्ति तो उसको मिल जाती है जिसने अपने स्वरूपका ज्ञान कर लिया हो।

शान्ति तो केवल ज्ञान में है। जब ज्ञान होता है तब तृष्णायें नहीं रहती हैं, बन्धन नहीं रहता है। तृष्णायें और बन्धन न रहना बस यही स्वतन्त्रता है, इसका ही नाम मुक्ति है। भाई तृष्णारहित रहना तो आत्माका का स्वभाव ही है। आत्मा जो सहजस्वरूप है उसमें न तो क्रोध है, न मान, माया, लोभ है, किसी भी प्रकारका विकार नहीं है। उपाधि साथमें लगी, सो विकार लग गये। जैसे स्फटिकमणि स्वच्छ है, निर्मल है, हरा, पीला किसी भी रंगकी नहीं होती है, पर यदि कोई रंगीन कागज लगा दिया जाता है तो वह मणि भी उस रंगकी प्रतीत हो जाती है। इसी तरह हम बिल्कुल स्वच्छ हैं, ज्ञाता दृष्टा हैं, पर हमारे साथ जो उपलब्धियाँ लग गयी हैं, उनसे ही अनेक राग लग गये हैं। उन रागोंसे ही ख्याल बनाकर हम अनेक तर्क वितर्क किया करते हैं। तर्क वितर्क तो उपाधियोंसे आ गये। उपाधियोंसे युक्त अपने आपके स्वभावको देखो तो बेकार है। मैं तृष्णावोंसे रहित हूँ, तृष्णायें करना मेरा स्वभाव नहीं है। सो मैं तृष्णावों से रहित अपने स्वरूप में रमूं और समस्त दुःखों से दूर होऊँ।

ताज्यंऽताष्ण्यंऽपि वस्तूनां वियोगो नार्थकृत्ततः।
वीततृष्णः स्वभावो मे स्यां स्वस्मं स्वे सुखी स्वयम् ॥४-१३॥

चाहे पदार्थोंमें तृष्णा हो और चाहे न हो, दोनों ही हालतोंमें वस्तुवोंका संयोग वियोग फलदायी नहीं है, अर्थकारी नहीं है, जिसमें तृष्णा नहीं है वस्तु कहीं चली जाय, पदार्थ यहाँ के वहाँ हो जायें, नष्ट भ्रष्ट हो जायें पर ज्ञानीको कुछ भय व भ्रम नहीं है। संयोग वियोगका उस पर कोई असर नहीं है। अगर तृष्णा है तो पदार्थोंका संयोग वियोग होने पर उस तृष्णा वाले पर असर हो जायेगा, जिसको तृष्णा लगी है। वह पदार्थ मिटेगा तो उस पदार्थ ने कुछ असर नहीं किया, उससे असर नहीं आता। भीतर में जो तृष्णा है उसका असर आया करता है। किसी भी परवस्तुका संयोग वियोगका असर आत्मामें न आयेगा उस पदार्थको विषय करके आत्मामें ख्याल परिणमन उसी आत्माका हो जाता है। किसी प्रकारका भ्रम उसकी आत्मामें लग जाता है। परवस्तु ख्याल करने वाला हो स्वयं की परिणतिसे दुःखमें होगा। वह चाहे आनन्दमें हो, परवस्तुका असर उस जीव पर नहीं

है, पर जयोंही वह ख्याल बनाता है तो उस ख्याल बनानेका असर उस जीव पर है, इससे वह दुःखी रहता है।

दुनियामें देखो सैकड़ों आये और चले गये। दुनियाका ढंग तो देख लिया। इस पृथ्वी पर कैसे-कैसे वीर पैदा हुए इतिहासमें कौरव पांडवका जमाना देख लिया आप सबने श्रीरामका जमाना देख लिया, उसके बहुत पहिले चलो तो ऋषभदेवका जमाना देख लिया, जो महापुरुष हुए वे इस पृथ्वी पर कैसे-कैसे सद्व्यवहार कर गये या जो कुछ कर गये तो देख ही लिया। उनका कुछ भी तो अब नजर नहीं आता है। बहुत पहिलेकी बात तो देख ली, अब अपने घरके दादा, बाबा इत्यादिकी बातें देख लो। किसका कहाँ क्या रह गया? इस जगत्में कोई रहेगा नहीं। यहाँ तो आना जाना चलता ही रहता है।

भैया! एक वृक्षसे पत्ती गिरी तो गिरती हुई पत्ती वृक्षसे कहती है, 'पात गिरता यों कहे सुनो वृक्ष बनराय। अबके बिछुड़े कब मिले, दूर पड़ेंगे जाय॥' वह पत्ती कह रही है कि हे बनराज वृक्ष! अब आपसे मेरा बिछुड़ना हो गया है तो अब यह तो बताओ कि आप से बिछुड़ना हो रहा है, हम दूर पड़ जायेंगे, अब कब मिलना होगा? तब वृक्ष कहता है: 'तब वृक्ष यों बोलियो सुन पत्ता एक बात। या घर या ही रीत है इक आवत इक जात॥' एक आता है और एक चला जाता है। नई पत्तियाँ आ जाती हैं और पुरानी पत्तियाँ चली जाती हैं। यही इस जगतकी रीति है। जिस तरहसे जो घरमें बच्चा है वह जवान होगा, फिर बूढ़ा होगा, फिर खत्म होगा। इस जगत्में कोई ऐसी चीज नहीं है जो जमकर रह सके, मेरी होकर रह सके। सोचो जब कुछ नहीं है, फिर मोहमें फंसे रहें, रागमें फंसे रहें, यह मेरा फलां है, मेरा हितकारी है, यह मेरा कल्याणकारी है–ऐसी जो कल्पनाएं बना रखी हैं उनसे क्या लाभ होगा? यह मोही प्राणी इन कोरी कल्पनाओंमें ही रहकर परेशान होता है। शांतिका उपाय आत्मज्ञान है। आत्मज्ञानके बिना शांति नहीं हो सकती है।

पूर्यते पुण्यकामार्थैर्न किञ्चिन्मे ततो हि तान्।
त्यक्त्वात्मन्येव तिष्ठेयम् स्यां स्वरसे स्वे सुखी स्वयम् ॥४–१४॥

पुरुषार्थ चार होते हैं–(१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। सभी लोग जानते हैं। सब धर्मोंमें बताया गया है कि पुरुषार्थ चार होते हैं। इसमें से धर्म नाम तो पुण्य है। जीवों पर दया करना, परोपकार करना, सेवा करना, त्याग, वृत्ति, संयम आदि ग्रहण करना ये सब पुण्य कहलाते हैं। अर्थपुरुषार्थ नाम है धन कमानेका। व्यापार आरम्भ करना कहलाता है अर्थपुरुषार्थ। अपने कुटुम्बकी, देशकी खबर रखना, पालन करना और अपने खाने पीनेकी तथा अपने विषय इत्यादिके भी कार्य करना ये सब कार्य कामपुरुषार्थ

कहलाते हैं। कर्मोंसे छूटनेका उपाय करना ही मोक्षपुरुषार्थ है। इन चारोंमें से मोक्षपुरुषार्थसे ही इस आत्माका पूरा पड़ता है अर्थात् आत्माको इस मोक्षपुरुषार्थसे ही लाभ है। जो तीन पुरुषार्थ और हैं (१) पुण्य, (२) अर्थ और (३) काम, इन तीनों पुरुषार्थोंसे मेरा कुछ भी पूरा नहीं पड़ता। पुण्य किया तो देव हो गये, राजा महाराजा हो गये या धन सम्पदा मिल गयी। देव देवियां हो गये तो विषयोंके साधन ही तो मिले। जिन विषयोंमें रति करके पाप कमाये जायेंगे और उन पापोंके फलमें दुर्गतिको पाना होगा। यह पुण्यसे ही मिला।

मोक्षपुरुषार्थमें दृष्टि नहीं है तो पुण्यसे क्या मिला ? कुछ भी नहीं। उस पुण्यसे भी पूरा न पड़ेगा। कुछ वर्षोंके लिए, एक भवके लिए मोक्ष मान लिया और क्या होगा ? पुण्य से कुछ पूरा न पड़ेगा।

धन कमानेसे क्या पूरा पड़ेगा ? धन कमानेसे मान लो लाखोंकी सम्पदा जोड़ ली तो उस सम्पत्तिसे, उस सम्पदासे कुछ सुख सहायता मिल जाय, ऐसी बात तो नहीं है। धन से भी पूरा नहीं पड़ेगा। इस यत्नमें रहकर अन्तमें बीमार ही होते हैं, झंझट ही लगते हैं, परेशान ही होते हैं और कुछ समय बाद अकल्पित क्लेश ही होते हैं। कारण कि बड़ा यत्न करके लाखोंका धन कमाया, अब वह छूट रहा है। धनमें तो आरम्भसे लेकर अन्त तक दुःख ही दुःख हैं कहाँ धरें ? बैंकमें धरें तो उसकी भी शंका रहती है। अभी सरकारको जरूरत हो तो कहे कि बैंकोंका हिसाब किसीको नहीं देना है अथवा कुछ गड़बड़ हो जाय तो यों ही गये। अब कहाँ धरें ? लोगों को ब्याज इत्यादि पर रुपया उठानेमें विश्वास नहीं। यदि धन घरमें धरा रहे और घरसे ही कोई पुरुष जबरदस्ती ले जाय तो क्लेश होगा इस प्रकार धनकी रक्षा करनेमें भी तो क्लेश ही हैं। ऐसा भी नहीं है कि वह सम्पदा सदा तुम्हारे ही पास बनी रहे। क्या कभी मरण नहीं होगा ? अवश्य होगा, अचानक होगा। मरते समय वियोगका दुःख जरूर होगा, अचानक होगा। मरते सभय वियोगका दुःख जरूर होगा तो धनसे भी पूरा नहीं पड़ेगा।

क्या कामसे, विषयभोगोंसे पूरा पड़ेगा ? इन विषयोंसे भी पूरा न पड़ेग। इन विषयों से आत्मबल घटता है मोह और रागके प्रसंगोंसे आत्मा बरबाद होती है। मेरा पूरा पड़ना तो दूर रहा, उल्टा पतनकी ओर ये रागद्वेष मोह ले जाते हैं मुझे। तो इन कामोंसे भी पूरा नहीं पड़ेग। फिर क्या करें ? जिनसे मेरा उल्टा काम बिगड़ता है, लाभ कुछ नहीं मिलता है, उनको तो त्यागना ही अच्छा है। तो इनको कैसे त्यागा जाय ? विषयभोगों को त्याग दो, अपना ज्ञान संभालो, इन कामोंसे भी पूरा नहीं पड़ेगा।

देखो भैया, स्पर्शन इन्द्रियका विषय है कामसेवनका। कामसेवनसे मनुष्यको लाभ है

या नहीं? अरे इन विषयभोगोंसे लाभ नहीं है, इनसे तो शक्ति क्षीण होती है, उपयोग उलझ जाता है। एक मोही जीवको अपनी आत्मा सौंप देते हैं। कुछ लाभ मिलता है ? क्या इस रसनाइन्द्रियके विषयोंसे लाभ कुछ मिलता है क्या ? स्वादमें आकर पक्का खाना खावें मिठाई खावें, और-और भी चीजें, खावें इससे तृप्ति हो जायगी क्या ? स्वाध्याय, आत्मज्ञान अगर ठीक रहते हैं तो परमार्थ भोजन वही है। इसज्ञानभोजनसे ही तृप्ति होगी। स्वाध्याय नहीं करते, इसीसे दिल दुःखी रहता है। देहका भोजन तो हृष्ट पुष्ट रखने वाली चीजोंका करना चाहिए। रसीली चीजोंका भोजन करनेसे तो सब गड़बड़ हो जाता है, खोटे विकार होते हैं, आलस्य आने लगता है। इससे जीवका क्या पूरा पड़ता है ? घ्राणइन्द्रियके विषयकी बात देखो। व्यर्थके इत्र लोग लगा लेते हैं। अरे उससे सुगन्ध आ गई तो कौनसा स्वाद मिल गया ? पापबंध कितना किया, सुगन्ध भी तो तृष्णा होती, फिर नाक भी बेकार हो जाती। ऐसी ही आँखोंकी बात है। आंखोंसे देख लिया सुन्दर रूप, उससे तो कुछ मिल नहीं जाता। लाभ क्या होता है ? कुछ भी है तो नहीं। उल्टा पराधीन बन जाते हैं। ऐसी ही है कामकी बात, मनके विषयकी बात। इन कामोंके विषयसे पूरा नहीं पड़ेगा। तब तो इनको त्याग दो। ज्ञानस्वरूप ही अपनेमें देखो और विषयोंसे प्रीति छोड़ दो, यह तो हुआ विषयोंका त्याग।

अब रही धनकी बात, सो इस धनको तो पुण्यपर सौंप दो। धन आनेको होगा तो खुद आयगा, उसकी अधिक चाह मत करो। धन अधिक होनेपर देना तो पड़ेगा ही। इस धनके कमानेमें भी क्लेश करने पड़ते हैं धन संचित हो जाए तो उसकी रक्षा करनी कठिन है और फिर समयअ अनुसार सब देना पड़ेगा। जैसे आजकल जरूरत है तो किसीने १० लाख दिया, किसीने ५ लाख दिया सरकारको। सो भैया धन आता है दूसरोंको देनेके ही लिए। धन कुछ खा नहीं लिया जाता है। तो इस धनको पुण्यपर सौंप दो। धन आता हो तो आवे, न आता हो तो न आवे। जब पुण्यका उदय होगा तब धन जरूर आयेगा। धनके लिए कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है। किसीसे ईर्ष्या करना बेकार है कि यह तो लखपति है और मेरे पास कुछ नहीं है, यह मालोमाल बैठा है, ये तो व्यर्थकी बातें हैं। अरे धनसे आत्मामें कोई लाभ नहीं होता। सबकी अपने कामोंके अनुसार ही परिणति होती है। जिसका जैसा भाग्य है वैसे ही धन मिलता है। सबके भाग्यकी बात है भाग्य अपने परिणामसे बनता है और फिर वह धन दूसरोंके ही काममें आयगा।

धन मिला तो वे धनी पुरुष स्वयं ही उदार हो जाते हैं और वे बिना संकोचके दूसरों की रक्षा करते हैं। खैर, इस धनका विकल्प करनेसे क्या ? आता हो तो आवे और अगर न आता हो तो न आवे। इस धनसे जीव का कुछ पूरा न पड़ेगा। पुण्यके काम होते हैं तो

हों। अन्तरमें यह विश्वास रखो कि मेरा स्वरूप तो ज्ञाता दृष्टा रहनेका है और यही धर्म है, यही असलियत है। ज्ञातादृष्टा जो धर्म है वही मेरा पालन करेगा। उसकाही आश्रय लें। पुण्य होता हो तो हो, मगर पुण्यसे पूरा न पड़ेगा। ऐसी दृष्टि रखो। इस तरह इससे अपने को न्यारा करनेमें अपनी आत्मा दृढ़ हो जाती है। सो अपनी आत्माके उपयोगको दृढ़ करो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

भूतो भवेषु सम्पन्नो न तुष्टोऽभूदनर्थता।
मायनविनी किमाशासे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–१५॥

बतलाओ पदार्थोंके संगम करके कुछ संतुष्ट हुए ? कुछ संतुष्ट न हुए। अब तक इतनी उमर हो जाने पर भी यदि किसीसे पूछें कि अब तुम्हें संतोष हो गया क्या ? अब आगे सुखकी आवश्यकता तो नहीं रही ? तो कौनसा बता देगा कि तुष्ट हो गये हैं और उसे अब सुखकी आवश्यकता नहीं रही। कोई तुष्ट नहीं हुआ। नदियोंके भरनेसे समुद्र क्या कहेगा कि अब पानी मत लाओ ? अरे उसमें तो जितना पानी आयेगा उतना ही समुद्र महान् कहलायेगा। नदियोंके गिरनेसे समुद्र तुष्ट नहीं होता। जलती हुई अग्निमें तृण डाल देनेसे अग्नि तुष्ट नहीं हो जायगी। वह जितना ही ईंधन पाती जायगी उतना ही जलाती जायगी। अब उसे ईंधनकी जरूरत नहीं है ऐसा अग्नि कभी नहीं कहेगी। अग्निको ईंधन मिल जानेसे संतोष नहीं होता है।

इसी तरह विषयोंके साधन मिलनेसे क्या संतोष हो जायगा ? संतोष नहीं होगा। जो आजऐसा सोच रहे हैं कि मुझको इतना मिल जायगा तो फिर मुझे न चाहिए कुछ, तो मिल जाने पर क्या वे संतोषसे रहेंगे ? संतोषसे वे नहीं रह सकते हैं गुजारा तो सब परिस्थितियोंमें चलता ही है पर ऐश आराम की और-और बड़ी बातें चाहनेसे इनको सुख नहीं रहता है। जो वर्तमानमें धन मिला हुआ है उससे भी सुख नहीं रहता है क्योंकि यह चाह रहती है कि और मिले। इस भावनासे जो गाँठमें है उसका भी सुख भोग नहीं पाता है आगेके सोचनेसे वर्तमानमें भी सुख नहीं भोग सकता है। आपकी इच्छाएं तो अनादिसे ही बाधा डालने वाली हैं। इन भोगोंसे, कामसे अनर्थ ही तो होगा। फिर ये समस्त सम्पदाएं मायारूप हैं। आज यहाँ कल वहां ये मेरी निजकी चीजें नहीं है इन चीजोंका मैं क्या विश्वास करूं। इनका तो विश्वास ही करना व्यर्थ है। किसी किसी भी परपदार्थ की आशा न हो, क्योंकि ये परपदार्थ इतने जड़ हैं कि इनकी आशा जहाँ करी तो आत्मको कुछ भी नहीं मिलता है। सो इस मायामय सम्पदाकी मैं क्या आशा करूं ? उनकी आशा छोड़कर मैं अपनेमें अपने आप ही स्वयं सुखी होऊं।

यह सम्पदा शांतिका तो कारण नहीं है। जिसके पास सम्पदा है उसके खलबल मचा देती है। इसे कहते हैं निन्यानवेका फेर। जब कुछ नहीं है, १० रु० की ही पूंजी है तो ऐसा कुछ सोचो कि १० रु० में ही मेरा काम बने। रोज कुछ लोग खोम्चा ही फेर लेते हैं। १० रु० में खोम्चा हो ही जाता है। गाँव में फेरी लगा दिया तो गाँवमें सब खाने वाले हैं ही। जिसकी गाँठमें दाम हो खरीद ही लेगा। खरीद लेनेसे उस बेचने वाले का भी काम हो गया। गुजारेका काम चल गया। इस तरहसे जब आमदनी बढ़ती जाती है तो उसकी आशाभी बढ़ती जाती है। इसी तरह और भी बढ़ करके अगर कोई काम करता है तो आशा बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे यह असंतोष भी बढ़ता जाता है। यह माया मोह हो जाना बुद्धिके ही बिगाड़का कारण है। बिगाड़ करना धोखा देना इससे तो उसको कुछ फायदा नहीं। बाह्यकी चिंता छोड़कर अपने स्वरूपको देखो और अपने स्वरूपको देखकर सुखी होओ।

ण्यापुण्यफलं दृष्यमदृश्या चिच्चमत्कृतिः।
ततृष्णस्य स्वस्थस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–१६॥

लोक में जो कुछ देख रहे हैं वह सब पुण्य पापका फल है। जो जीव सुखी दुःखी देख रहे, जो व्यवहार देख रहे, जो जोव कुछ नजर आ रहे हैं ये सब पुण्य पापके फल हैं अर्थात् पुण्य भाव हो उसका फल है, पाप भाव हो उसका फल है। जो सत्य है वह तो पुण्य पापका ठाठ है, मगर जो वास्तविक ठाठ है, चैतन्यका जो चमत्कार है वह इन्द्रियगम्य नहीं। उसका अनुभव उस पुरुषको होता है जो तृष्णावोंसे दूर है और अपनी आत्माकी ओर झुका है उसे ही चैतन्य चमत्कारका अनुभव होता है, वही वास्तविक अपनी विभूति है। इन बाह्य संयोगोंके लिये जो ललचाते हैं, जो इससे अपना बड़प्पन मानते हैं यह उनका मात्र मोह है। उनको अपने नाथका पता नहीं है। इसलिये बाहरही बाहर सब कुछ खोजना चाहते हैं, पर यह सब हेय हैं। पुण्य और पाप जो भी परिणाम व फल हैं उनसे विधिवत आत्माका चैतन्यस्वरूप अनुभवमें होगा तो शाश्वत आनन्द प्राप्त होगा। पाप तो बहुत भयावह है ही पापके फलमें जो चीज मिलती है सब लोग जानते हैं कि सब दुःख देने वाले प्रसंगही मिलते हैं। पर पुण्यका जो भाव है और उसके परिणाममें जो कुछ संगत होता है वे भी संतोषकी चोजें नहीं हैं। पुण्यका फल क्या है? इन्द्रिय विषय। बाह्यमें कुछ इष्ट पदार्थ मान लिये जाते हैं जिनको देखकर हम अपना मौज मानते हैं। यह हुआ रौद्र ध्यान, यही तो पुण्यका फल है। ज्यादासे ज्यादा देव हो गये, राजा महाराजा हो गये, पर इन बातोंके हो जानेपर भी कुछ सारकी चीज मिलती है क्या? दुःख वहीका वही है।

तृष्णावोंके साधन हैं। देखलो यह पुण्यका फल है।

थोड़ा धन है तो मामूली उड़ान है और जब धन बढ़ जाता है तब तृष्णावोंकी उड़ान भी बढ़ जाती है। गरीब आदमी जो रोज-रोज मजदूरी करता है और गुजर करता है उस की उड़ान चलेगी तो सोचेगा कि सौ पचास रुपयेकी पूँजी होती तो कुछ चिंता न रहती, कुछ दिन मजदूरी न करनी पड़ती तो अच्छा गुजारा चलता। तो उस गरीब की उड़ान इतनी ही हो पाती है मगर जो लखपति हैं, करोड़पति हैं, जिनको सम्पत्ति मिली है उनकी इतनी ही उड़ान है क्या ? अरे वे कोई चीज बनवायेंगे। और-और भी जगह उनका बंधन होता है, वे फंसे रहते हैं, उनको झंझटें ही रहती हैं। यहाँ पुण्यका फल और पापका फल दोनों बराबर हैं। उनमें ही फंसकर वे मग्न हो जाते हैं। पापका फल तो विपत्ति है। सो विपत्तियोंमें प्रभुकी याद रह सकती है, भगवानका ख्याल हो जाता है, पर पुण्यके फलमें सम्पदा है, आराम मिल जाय तो उसमें ही मग्न हो जाते हैं और प्रभुको याद नहीं रहती है।

प्रभुकी यादमें जो शान्ति मिलती है वह किन्हीं भी परपदार्थोंके समागममें हैं ही नहीं और प्रभुको भूल गये तो वहाँ अशान्ति ही रहेगी। विषय सुख शान्तिको भोगे जाते हैं, पर उनसे होती है अशान्ति। वे भोजन करते हैं तो शान्तिसे करते हैं कि अशान्तिसे करते हैं ? अशान्तिसे। अशान्ति न हो तो भोजनका श्रम क्यों करें ? देखो भोगनेकी विधि भी अशान्ति पूर्वक है। तो क्या भोगोंसे कुछ शान्ति मिल जाती है ? अरे भोगोंके प्रसंगसे तो शान्ति होती ही नहीं। जब भोगोंमें लगे रहेंगे तब तो अशान्ति ही रहेगी। यहाँ भोग तो रोग है अथवा जब मनमें खेद है तभी भोगोंमें प्रवृत्ति है और मनमें शान्ति हो तो भोगोंमें प्रवृत्ति नहीं रहती। जैसे जिसके फोड़ा हो, घाव हो, फट गया हो, वह ही तो मलहम पट्टी करेगा। इसी तरह जिसके खेद है, भोगोंकी वाञ्छा है वही पुरुष भोगोंमें प्रवृत्ति करेगा और जो शान्त है, वह भोगोंमें प्रवृत्ति न करेगा।

स्नेह कौन करेगा ? जिसके कुछ वेदना है, भीतरमें तकलीफ है, कष्ट है, उसको भूलने के लिए, उसका निवारण करनेके लिये उसका इलाज स्नेह माना है कि मोह करे, राग करे, स्नेह करे, मगर यह प्रवृत्ति तो खेदके कारण होती है, आकुलतावोंके कारण होती है। तो यह जो कुछ ठाठ लोकमें है, जिसके कारण लोग इतराते हैं ये सब ठाठ हेय हैं। इनमें कोई सारकी चीज नहीं है। यहाँ चित्त फंसाने लायक कुछ नहीं है। चित्तमें बसने लायक तो आत्मा ही है, प्रभुका स्वरूप है, चैतन्यचमत्कार है, जो कि इन्द्रियोंसे गम्य नहीं है, किन्तु ज्ञान द्वारा सहजगम्य है।

सो भैया, कर्तव्य यह है कि इन ठाठोंसे मोह त्यागकर अपना जो साक्षात् प्रतिभास-

स्वरूप है, जो कि आनन्दमय है, उसमें ही रुचि करनी चाहिये। यह स्वरूप ही सार है, यह स्वरूप ही सर्वस्व है, यह स्वरूप ही हितरूप है, ऐसा लक्ष्य बनना चाहिये और उस आत्म-स्वरूपकी ओर झुकना चाहिए। इन बाहरी पदार्थोंमें कुछ अन्तर पड़ता है तो पड़े, इष्ट संयोग कम होता हो, होवे। उन पदार्थोंके आनेसे तो विकल्प ही बढ़ते हैं। ये विकल्प अर्थ कारी नहीं हैं, किन्तु अनर्थकारी हैं। ये विकार भी उपाधिके निमित्तसे आते हैं। इनसे मेरा कोई फायदा नहीं है। लाखोंकी सम्पत्ति बढ़नी होगी तो खुद बढ़ेगी, विकल्प करनेसे नहीं बढ़ेगी। मेरा केवल इतना ही काम रहे कि निजके स्वरूपको देखें। बाह्य चीजोंसे दृष्टि हटा लें। बाहरी पदार्थोंके लिये इतनी आकुलताएँ करना बिल्कुल व्यर्थ है, अनर्थकारी है। उन कल्पनावोंको त्यागकर, इन बाह्य समागमोंसे दूर रहकर अपने आपके स्वरूपमें रुचि करो, अविनाशी निजस्वरूपमें रुचि करो। मिटने वाली चीजसे प्रेम है तो यह खतरनाक है, खतरेसे भरा हुआ है। इसका परिणाम दुःख ही है।

इस विनश्वर सम्पदाके कमानेमें क्लेश, रक्षा करनेके समयमें क्लेश, रक्षा करते हुए जब नष्ट हो जाती है तब क्लेश होते हैं। यह जो सम्पदा है वह प्रारम्भ, मध्य और अंतमें सर्वत्र क्लेशका कारण बनती है। इसलिये इस सम्पदाका भीतरसे मोह छोड़ो अर्थात् सत्य ज्ञान बनाये रखो। सारे पदार्थ स्वतंत्र हैं, वे स्वयं अपने स्वरूपमें हैं इसलिये कोई पदार्थ किसी दूसरेको कुछ करता नहीं है। कोई पदार्थ किसी दूसरेका मालिक नहीं है। सारे पदार्थोंको स्वतंत्र देखा। स्वतंत्र देखनेका प्रयोजन है कि अपने आपमें स्थित होओ। आनन्द पानेका दूसरा उपाय नहीं है जगत्में कितने ही झंझट लग जाते हैं। शान्ति तो तब मिलेगी जब अपने आपके सहजस्वरूपमें दृष्टि होगी। इसलिये तृष्णावोंको छोड़कर अपने आपमें स्थित होवो।

वतते मेऽद्य कि सम्पज्जन्मजन्मार्जितं यशः।
दूरमास्तां विपन्मूलं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–१७॥

पूर्वजन्ममें पायी हुई सम्पदा आज कुछ है क्या ? पूर्वभवमें जो समागम मिला था वह आज है क्या ? किसी का पता है क्या ? पूर्वभवमें माता कौन थी ? पिता कौन था ? भाई कौन था ? बहिन कौन थी ? यह कुछ किसीको पता है क्या ? अथवा यह नहीं सही, कीड़े मकौड़े पूर्वभवमें थे तो कहाँ पर थे ? किस स्थान पर थे ? अपनेको कुछ पता नहीं। लोग मरनेपर श्राद्ध करते हैं। श्राद्धके मायने असौजके महीनेमें कृष्णपक्षमें पंडाके आगे जाकर कहते हैं कि आज इतना अनाज हमारे बापको पहुंचा दो, इतने कपड़े भेज दो। अरे देखो मरने पर वे श्राद्ध करते हैं। इससे तो अच्छा यह था कि बाप जब जिन्दा था तो सुखसे पानी तो पिला दिया करते। जब तक बापकी जिन्दगी रही तब तक तो बहुत-बहुत

गालियाँ दीं, समय पर खाना नहीं दिया, पानी नहीं पिलाया। अब बापके मर जानेपर श्राद्ध करते, तीर्थोंमें जाकर कहते कि इतना मेरा अनाज बापके पास भेज दीजिए, कपड़ा भेज दीजिये। यह सब व्यामोह ही तो छाया हुआ है कि जो मर यया है वह तो मर ही गाय, उसके लिए दूसरोंसे प्रार्थना करते हैं कि अनाज पहुँचा दो, कपड़ा पहुँचा दो। कोई क्या मरे हुए बापके पास कुछ भेज सकता है ? बहुतसे लोग कहते हैं कि दूध पीनेके लिये गायको भेज दो जिससे कि मरा हुआ बाप दूध वहाँ पीता रहे। अरे भाई जो मर गए हैं उनके पास दूध पीनेके लिए गाय भेजते हैं।

भैया, पूर्वजन्ममें जो कुछ समागम किया था आज वह नहीं है और आज जो कुछ समागम कर रहे हैं वह अगलेजन्ममें न रहेगा। जैसी सम्पदाको बात है तैसी ही कीर्ति और यशकी बात है। तो सोचो पूर्वजन्ममें कुछ अच्छा व्यवहार करके जो यश प्राप्त किया था वह कुछ आज है क्या ? इसी तरह इस जन्ममें जो कुछ यश प्राप्त कर लिया जाय, वह सब अगले भवमें न रहेगा। पहिली बात यह है कि ये सब असार चीजें हैं, अहित हैं। इन से मेरा कुछ हित नहीं है ! इनमें राग न करो। यह ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपमें लगावो। जब ऐसी स्थिति होगी तब संतोष प्राप्त होगा और जब यह ज्ञान राग द्वेष संयोगमें ही फंसा रहेगा, बाहरी पदार्थोंमें ही विचरता रहेगा तो इससे तो असंतोष ही प्राप्त होगा। उससे तुम्हारा हित नहीं है। अपना ज्ञान बाहरी पदार्थोंमें उलझाते रहे तो सुख दुःख मान मोह आदि ये ही सब बनते रहेंगे।

सो भैया, वह यश और सम्पदा सब विपदायें ही देती हैं। सम्पदा वालोंको ही अधिकतर विषयभाव आया करता है। अनेक प्रकारकी झंझटें उनके सिर पर आती हैं। अब देखिये चीन और भारतमें आजकल आक्रमणकी बात चल रही है, चीन और भारतके आक्रमणोंके कारण शहरोंके लखपति करोड़पति लोगोंके दिल काँप रहे हैं। तो भैया धनके पीछे हमेशा शंका बनी रहती है ना ? अभी कोई दूसरे ही चढ़ आयें तो दूसरोंके आ जाने पर यही सम्भावना रहती है कि अब तो मेरी सम्पत्ति गई। फिर साम्यवादी मुल्क चढ़ रहा है तो उससे अधिक संदेह रहता है। जब कि देहातोंमें लोगोंको युद्धकी बातें सुनकर दिल दहल जाता है। तो उन शहर वालोंको क्या कहना है ? युद्धके इन प्रसंगोंमें अधिकतर बात ऐसी है कि सम्पदा न रहेगी हाथ, किन्तु आत्मसाधनामें बाधा न आये, इसके लिए भी कई लोग दहलते हैं।

इस सम्पदासे तो विपदाएँ ही मिलती हैं। दो भाई थे। वे कमाने के लिए विदेश चले गये। उन दोनों ने इतना अच्छा कमाया कि लाखोंका धन कमा लिया। अब सोचा कि

लाखोंका धन विदेशमें कमा तो लिया, अब इसे ले कैसे जायें ? ले जानेकी चीज तो छोटी होनी चाहिए। तो सब धन सम्पदा बेचकर दो लाल अथवा रत्न खरीद लिए। अब रत्न लेकर जा रहे हैं। रत्न बड़े भाईके पास थे। बड़ा भाई सोचता है कि समुद्रमें जहाजमें बैठे चले जा रहे हैं किन्तु घर पर एक मुझे मिलेगा और एक इसको मिलेगा। सो ऐसा करें कि पानीमें जा रहे भाईको ऐक एसा धक्का दें कि वह पानीमें गिर जाय और दोनोंके दोनों रत्न हमें मिल जायें। ऐसा उसके भाव आया। फिर बादमें संभला और उसने विचार किया कि इसो छोटे भईको बुद्धिसे ही तो ये रत्न पैदा हुए, यह मैं क्या सोच रहा हूँ ? इस भाईके प्रति ऐसा मुझे न करना चाहिए। अब वह बड़ा भाई कहता है कि भैया आप इन दोनों रत्नोंको अपने पास रख लें। इन रत्नोंके पीछे मैंने बड़े विकल्प किए। इन्हें मैं नहीं रखना चाहता। सो छोटे भाईको दे दिये। अब छोटा भाई थोड़ी देरमें सोचता है कि हमारो ही बुद्धिसे ये रत्न कमाये गये हैं, घर पहुँचते ही ये बंट जावेंगे। तो ऐसा करें कि जरा सा काम है। धक्का देकर भाईको गिरा देवें तो दोनों रत्न हमें प्राप्त हो जावेंगे। ऐसा सोचा ही था कि वह झट संभल गया। छोटा भाई बड़ेके पैरोंमें गिर गया, कहता है कि ये दोनों रत्न रखनेके काबिल नहीं हैं।

खैर, किसी तरह घर पहुंचे। दोनों भाईयोंने सलाह की कि रत्न हम दोनों न रखें, छोटी बहिन रखे। छोटी बहिनको रत्न दे दिये। अब दोनों रत्न छोटी बहिनके धरोहरमें थे। वह सोचती है कि इनके रख लेने मात्रसेही मुझे लाभ नहीं, ये तो धरोहर हैं फिर ले ही लेंगे ये भैया। नहीं तो इन दोनों भाईयोंको खत्म कर दें कुछ खिला पिलाकर, जिससे ये रत्न मेरे हो जायें। थोड़ी देरके बादमें वह कुछ संभली। बोली–भैया, ये रत्न तो मैं अपने पास न रखूँगी। इन दोनों रत्नों में बड़ा पाप है। अब विचार किया कि सबकी जननी अर्थात माता जो है उसको दे दिये जायें। वे दोनों रत्न माँको दे दिए। अब वह मां सोचती है कि ये रत्न मेरी धरोहरमें हैं। हम तो इन्हें छिपाकर रखें क्योंकि जब धन रहेगा तो कोई भी लोग हमारी अच्छी तरहसे जिन्दगी बितायेंगे। अब तो माँ कोलोभ आ गया,गंदेजानेके विचार आ गये कि सबको मार डालूँ कुछ खिला पिलाकर। इस प्रकारके गंदे विचार आ बाद माँ भी झट ही संभली। माँ बोली–मैं इन रत्नों को अपने पास नहीं रखूँगी। इन रत्नों से मेरे ऐसे विचार हो गये। इसी प्रकार छोटा भाई और बहिनने बताया कि हमारे विचार हो गये थे। बड़े भाईने बताया कि मेरे विचर भी ऐसे हो गये थे। अब तो यह विचार सबके हुआ कि दोनों रत्न समुद्रमें फेंक दिये जायें तभी ठीक है। दोनों रत्न समुद्रमें फेंक दिये गये, तब वे सब मजेमें हो गये।

यह जो सम्पदा मिलती है:उससे जुदा रहनेकी भावना रहनी चाहिये। किसीने अधिक माँग लिया तो क्या वह किसीके पास चली गई ? यह सम्पदा तो आने जाने वाली चीज है, चंचल है। यदि सम्पदा रहती हो तो रहे और न रहना हो तो न रहे इसलिए कहते हैं धनकी वाँछा नहीं करनी चाहिये। इस सम्पत्तिसे अलग ही अलग रहनेकी भावना करनी चाहिये।

हे प्रभु! मेरी यह कामना कब सफल होगी कि समस्त परपदार्थोंसे हटकर आपकी ओर ध्यान लगाऊं ? मैं कब इन वैभवोंके विकारोंसे हटकर आपमें रुचि लगाऊं ? हे प्रभो! बाह्यपदार्थोंके विकारोंमें मेरी रुचि न जाए। मेरा जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपमें ही दृष्टि दूँ, यही मेरा लक्ष्य रहे। इस स्वरूपके आलम्बनके प्रतापसे ही कर्मों का क्षय हो सकता है। परमात्मा बननेके लिए एक ही काम करने योग्य है कि अपने आपका परिचय करे और अपने ही स्वरूपमें रमण करे। शान्ति प्राप्त करने का एक मुख्य उपाय यही है कि हम भगवानके दर्शन करें। प्रभुके दर्शन करनेके लिये केवल प्रभुके शुद्ध स्वरूपको ही निरखना है। उस प्रभुको सोचते हुएमैं अपने स्वरूपमें दृष्टि दूँ, जिसके प्रताप से समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं। भैया, अपनेमें यह भावना करो, जब प्रभुके दर्शन करने जावो तो उस प्रभुमें ही दृष्टि देकर उससे यह वर माँगो कि हे प्रभु! मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं अपने सत्यस्वरूपमें दृष्टि लगाऊं। यहाँ लोग अक्सर करते क्या हैं कि भगवान की देहरीमें सिर नवा कर कहते हैं कि भगवन् मेरे बच्चोंको खुश रख। हे भगवान्! मुझे सुखी करो। कोई-कोई तो ऐसा स्पष्ट कह भी देते हैं। दूसरोंके विनाश तकके लिए लोग भगवान से प्रार्थना करते हैं। यह कोरी बात नहीं कहते हैं। यदि सुनना चाहो तो सुन भी सकते हो, छिपकर चुपचाप रहकर।

भैया, देखो अपने निजस्वरूपको भूलकर मोही प्राणी बाह्य पदार्थोंमें ही चित्त गड़ाए रहते हैं। यह तो विवेककी बात नहीं है। इन बाह्यपदार्थोंसे हटकर रहना चाहिए। जो हितकी बात हो उसमें ही अपना लगाव रखना चाहिए। इसके लिए भैया रोज-रोज का उपाय तो यह है कि स्वाध्याय करो। यही ज्ञान प्राप्त करने का मुख्य उपाय है। ज्ञान ही ग्रहण करनेके की चीज है, ज्ञान ही रक्षक है और ज्ञान ही शरण है भैया! अपने ज्ञानको स्वच्छ बनाओ और स्वयं सुखी होओ।

स्वात्मचिन्तापि चिन्तैव चिन्ता स्वानंदाबाधिनी।
सर्वं चिन्तां विमुच्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्ववम्। ४-१८॥

हम आप जितने भी जीव हैं इन सब का स्वरूप ज्ञान और आनन्द है जैसे इन

दिखने वाले पदार्थोंका स्वरूप जान पाते हैं कि इसमें रूप है, इसमें रस है, इसमें गंध है, इसमें स्पर्श है, इसी प्रकार इस आत्माको जानना चाहिये कि कौनसा ऐसा तत्त्व है आत्मामें, जो इसका अनाद्यनन्त रूप हो। आत्मामें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि तो कुछ मिलेगा नहीं। इस आत्मामें तो ज्ञान और आनन्द ही मिलेगा। यद्यपि इस आत्मामें सुख-दुःख, राग-द्वेष, विषयकषाय इनका अभाव ही मिलता है, किन्तु ये सब भाव जीवोंमें जीवके अस्तित्वके कारण नहीं हैं। जीवोंमें जीवकी सत्ताके कारण जो भाव हैं वे ज्ञान और आनन्द हैं। जब यही निश्चय हो कि जीवका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है, यह स्वरूप स्वयं आनन्दमय है, इसको आनन्द पानेके लिए दूसरोंकी अपेक्षा नहीं करनी है और न दूसरे पदार्थोंसे हमको आनन्द ही आता है। दूसरोंकी अपेक्षा करनेमें तो आनन्दमें बाधा आती है। इस जीवके स्वभावमें आनंद है। भैया ! राग द्वेषके आवरणसे दबनेके बाद भी कुछ न कुछ आनन्द बचा रहता है। उस बचे खुचे आनन्दसे यह मोही जीव मान रहा है कि मुझे तो बाह्यपदार्थोंसे आनन्द आता है।

जब तक यह दृष्टि रहेगी कि मुझे परवस्तुओंसे आनन्द आता है तब तक शांति न मिल सकेगी। परवस्तुओंके संयोगका कोई विश्वास नहीं है कि यह संयोग कब तक रहेगा ? बाबा दादा इत्यादिसे संयोग हुआ है, ठीक है, किन्तु इनका वियोग भी जरूर होगा। जो-जो भी आपको प्राप्त होता है उन संयोगकी चीजोंमें विश्वास न करो। यह समझते रहो कि जहाँ पर संयोग है वहाँ वियोग नियमसे होगा।

भैया ! इस संयोगमें कोई सार नहीं है। अरे ये चीजें तो बिछुड़ जायेंगी। बुद्धिमानी तो यह है कि संयोगके समयमें हर्ष न मानो। यदि विषय कषायोंमें ही रहे तो संयोगके समय में भी आकुलता रहेगी और वियोगके समयमें भी आकुलता रहेगी। जैसे कोई आदमी एक दो महीनेसे बीमार पड़ा हो और कठिन बीमारीमें रहा हो, अनेक वैद्य डाक्टर आवें, पर वह पुरुष ठीक न हुआ हो। उस पुरुषका यदि मरण हो जाता है तो घर वालोंको विशेष शोक नहीं होता, क्योंकि घर वालोंको दो-तीन महीने पहलेसे ही यह मालूम हो जाता है कि अब यह बचेगा नहीं। इसलिये दुःख कम होता है। और यदि कोई हट्टा-कट्टा जवान व्यक्ति अचानक ही मर जाता है तो उससे घर वालों पर बहुत बड़ा धक्का लगता है, बड़ा दुःख होता है, क्योंकि पहिलेसे यह नहीं मालूम रहता कि अभी इसका मरण होगा। अब तो यही निर्णय होना चाहिये कि जो कुछ मिलता है उसमें वियोग जरूर होगा। गृहस्थको ऐसा ज्ञान बनाए रहना एक बहुत बड़ा तप है। यह विचार हो कि इन चीजोंमें हम आसक्ति न करेंगे, संयोग होने पर मौज न मानेंगे तो भैया वियोग होने पर दुःख भी न होगा।

आत्मामें आनन्द किसी भी परवस्तुसे नहीं आता है। आनन्द स्वभाव है आत्माका।

उस आत्मामें स्वभावसे ही आनन्द प्रकट होता है। परवस्तुओंसे आनन्द मिलना तो दूर रहा, उन वस्तुओंके आलम्बनसे कितना ही आनन्द नष्ट हो जाता है। यह तो आनन्दके स्वभावकी महिमा है कि बचा हुआ आनन्द फिर भी रहता है। उस समय मोहीको ऐसा गता है कि मुझे इन विषयोंसे आनन्द हुआ।

ज्ञानी पुरुष इन विषय सुखों पर लात मार देते हैं। जैसे कोई रईसका बालक है। छोटी ही अवस्थामें उसका पिता गुजर जाय तो सरकार उसकी जायदादको कोर्ट ऑफ वार्ड्स कर लेती है और उस लड़केको ५०० रु० महीना या कुछ भी हो खर्चा बाँध देती है। मानो ५० लाखकी सम्पदा सरकारने ले ली है और ५०० रु० महीना बाँध देती है। जो कुछ भी फायदा होता है, सरकार ले लेती है। उस लड़केका पालन-पोषण सरकार ही करती है। पर लड़का जब १४ वर्षका हुआ, १६ वर्षका हुआ तो वह सोचता है कि ५०० रु० महीना खर्च को मिलता है, सरकार बड़ी दयालू है। उसे अभी तक पता नहीं कि लाखोंकी सम्पत्ति सरकारने ले ली है। और जब १८-१९ वर्षका हुआ तो वह यह जानकर कि मेरी लाखोंकी जायदाद सरकार लिए हुए है, सरकारको नोटिस दे देता है कि मैं बालिग हो गया हूँ, मेरी जायदाद दी जाये। सोचता है कि मेरी जायदाद अधिक है। यह जो सरकार ५०० रु० महीना भेजती है उसकी मुझे जरूरत नहीं है। मेरी जायदाद सरकार मेरे सुपुर्द कर दे। जब वह अपनी जायदाद अपने कब्जेमें कर लेता है तब वह अपनी जायदादको देखकर खुश रहता है।

इसी तरह जगत्के जीवोंकी अनन्त आनन्दकी विभूति है, मामूली नहीं क्योंकि स्वयं ही आनन्दसे भरा इस जीवका स्वरूप है। 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्।' ज्ञानी संत पुण्य कर्म सरकार द्वारा हड़प किये गये वैभवको ही चाहता है। पुण्यके उदयसे मिले हुए सुखका तिरस्कार करता है अर्थात् उन कर्मोंके उदयकालमें सुखाभास मिलता है, उसमें रुचि करनेसे आत्मीय आनन्द सब निकल जाता है। उसका घाटा हो गया विषयप्रेममें। जब तक उस जीवके मिथ्यादृष्टि है तब तक पुण्य कर्मोंके बड़े गुण गाता है। कर्मोंको ही वह बहुत अच्छा मानता है। समझता है कि कर्मोंकी कृपासे ही सारा वैभव मिला, सारा सुख मिला।

अभी बूढ़ोंसे पूछो कि मजेमें हो ? तो कहेंगे बहुत मजेमें हैं। हमारे लड़के हैं, नाती हैं, वे कार्य करते हैं और हम मौज मनाते हैं। उनका मौज केवल पुत्र नाती तक ही सीमित हो गया। वह दूसरोंके भी गुण गाता है। फलाने तो बहुत अच्छे हैं, उनका ऐसा काम चलता है। अगर इस जीवके मिथ्यादृष्टि हो जाती है तो वह इधर-उधर ही भटकता रहता है। यदि जीवको सम्यग्दृष्टि हो जाती है तो यथार्थज्ञान हो जाता है, कर्मोंको नोटिस

दे देता है। वे जीव जिनको सम्यग्ज्ञान हो गया, वे विषय कषायोंको नहीं चाहते, उनकी दृष्टि तो आनन्द वैभवमें रहती है, बाहर ही बाहर उनकी दृष्टि नहीं रहती है।

है तो यह आनन्दमय स्वरूप, ज्ञानघनस्वरूप, मगर परपदार्थोंमें ही पड़कर यह जीव दुःखी हो रहा है। इन विकल्पोंने ही इसके विकासमें बाधा डाल दी। कोई दूसरे पदार्थ उसके आनन्दमें बाधा नहीं डालते हैं। केवल उन पदार्थोंके प्रति विकल्प बनानेसे ही बाधाएं आ जाती हैं। कोई परपदार्थ उसे दुःखी कर ही नहीं सकते। सब स्वतन्त्र-स्वतन्त्र जीव हैं। किसीका परिणमन किसी अन्यसे नहीं होता है। किसी एक पदार्थका असर दूसरे पदार्थमें नहीं होता है। दूसरे पदार्थका निमित्त बनाकर उनमें ही विकल्प बनाकर वे स्वयं असर उत्पन्न कर लेते हैं। देखने वाले लोग कहते हैं कि आफिसर साहब और जज साहब जरूर मजेमें होंगे, पर वे मजेमें नहीं होते। उनकी बात उनमें है। उनके सामने जानेमें किसीका दिल घबड़ाता है, कोई भयभीत होते हैं। जो लोग यह कहते हैं देखो जज साहबमें कितना तेज है कि उनके सामने खड़े होनेमें भय लगता है, डर महसूस होता है। प्रायः सारे मनुष्य ऐसा ही स्वयं ख्याल बनाने वाले हैं, ऐसा अनुभव करने वाले हैं सो कहते हैं, परन्तु बात है यह कि जज साहबका निमित्त बनाकर वे अपनेको भयभीत बना लेते हैं। जज यद्यपि कुछ नहीं करता। देखो स्वयं ही तो वे कल्पनाएं बनाकर दुःखी हो जाते हैं। वे अपनी गल्तीको नहीं देख रहे हैं। पर दूसरोंके कार्योंको, दूसरेकी गल्तियोंको सब देख रहे हैं। इससे दूसरा कोई दुःखी नहीं होता, स्वयं ही सब अपनी गल्तीसे दुःखी हो रहे हैं।

ये लौकिक जीव परपदार्थोंसे ही अपनेमें बाधा डालकर आनन्द नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं, क्योंकि जब किसी परकी आशा रखोगे तो उसकी चिंता बढ़ेगी। चिंताओंके बढ़नेसे ही वे दुःखी हो जाते हैं। चिंताएं ही आनन्दमें बाधा डालती हैं। इस कारणसे चिंताओंको छोड़कर अपने स्वरूपको देखो तो अपने आपमें आनन्द प्राप्त कर सकते हो।

यह जीव अपनेमें ही परिणमन कर पाता है। अपनेसे बाहर कुछ नहीं कर सकता है। जैसे देहातोंमें घर पास-पास बने हैं तो एक घरकी स्त्री दरवाजे पर खड़ी होकर दूसरे घरकी स्त्रीको हाथ फटकार-फटकार कर गालियां देती है। वह अपने ही दरवाजे पर खड़े होकर बोल रही है। न एक कदम आगे बढ़े और न एक कदम पीछे। सुनने वाले लोगोंका जत्था लग जाता है। न तो वे स्त्रियां एक दूसरेको मारें पीटें, केवल हाट फटकार-फटकार कर गालियां देती हैं। केवल गालियां ही वे एक दूसरेको दे लेंगी। कोई स्त्री किसी दूसरी स्त्रीका कुछ कर तो न लेगी। वे स्त्रियां स्वयं ही अपनेमें विकल्प बना-बना कर गालियां दे रही हैं। वे दोनों ही दरवाजेपर खड़ी होकर एक दूसरेको गालियाँ दे रही हैं, पर एक स्त्री

दूसरी स्त्रीका कुछ नहीं कर सकती । केवल कल्पानाएं बनाकर, ख्याल बनाकर वे दुःखी हो रही हैं ।

इसी प्रकार जगत् के जितने भी जीव हैं वे सब अपने-अपने कषाय करके अपने ख्यालों के अनुसार अपना परिणमन करते हैं । पिता सोचता है कि मैं पुत्रको पढ़ाता हूँ पर ऐसा सोचना व्यर्थ है । पुत्र स्वयं अपने भाग्यसे पढ़ता लिखता है । उस पुत्रका भाग्य अधिक अच्छा है । उसका भाग्य अधिक अच्छा है तभी तो पिताजी उसकी चिंता करते हैं । उसकी बड़ी संभाल करते हैं । पुत्रका भाग्य तो उस पिताके भाग्यसे अच्छा है । जहाँ पुत्र १ वर्षका हुआ उसके लिए बाम्बेसे खिलौने मंगाते हैं, उसको खिलाते पिलाते हैं, पालन पोषण करते हैं । पिताके भाग्यसे लड़केका भाग्य अच्छा है । अच्छा तुम ही बताओ कि इसमें पिताका भाग्य अच्छा हुआ कि लड़केका भाग्य अच्छा हुआ ? अरे! इसमें तो लड़केका ही भाग्य अच्छा हुआ । पिता तो उस लड़केकी चाकरी कर रहा है । पिता यह सोचता है कि हम नहीं होंगे तो इस लड़केकी सेवा कौन करेगा ? घरकी कौन सेवा करेगा ? इस प्रकारकी फिकर पिता रखता है ।

किसी गांवमें एक गरीब ब्राह्मण था । वह परेशानीसे लाचार था । गांवमें जावे और दो तीन सेर आटा ले आवे और बसर करे । यह उसका रोजका काम था । एक दिन वह गांवमें ही आटा मांग रहा था । एक संयासी निकला, बोला कपट कर रहे हो ? बोला किसी तरहसे भीख मांग करके खाते हैं और घर वालोंको खिलाते हैं, बड़ी परेशानी है । संन्यासीने कहा—बेटा चिंता छोड़ो । अब हमारे साथ १५ दिनके लिए चलो, अब तुम्हें इस घरमें आराम कहाँ मिलेगा ? तुम कहाँ घर वालोंको खिलाते हो ? घर वालोंको खिलाने वाला तो और कोई है । अच्छा अब तुम चिंता छोड़ दो । वह सत्यवान पुरुष उस सन्यासी के साथ १५ दिनके लिए चल दिया । घर वालोंने यह सोचा कि आज घर वाला वापिस नहीं आया, किसी जानवर ने खा डाला होगा । किसीने मजाक भी कर दिया हां तुम्हारे घर वालेको गाँवके बाहर किसी शेरने खा डाला ।

अब घर वालोंने यह सुना तो रोना शुरू कर दिया । अब माँ वगैरा रोने लगीं । जब समाचार मिला तो पड़ौसी भी जुड़ गये । पड़ौसी घर वालोंको समझाते हैं कि भैया वह तो मर ही गया, अब रोनेसे तो वह बच्चा नहीं आ जायगा । सो किसीने उसके घर वालों को अनाजका दान किया, किसीने ४ बोरा अनाज, किसीने २ बोरा अनाज, किसीने घी का कनस्तर दे दिया, किसीने कपड़ेके थान दे दिये । अब तो उसका घर भर गया । वे आनन्द से बढ़िया खाने लगे, मौज उड़ाने लगे । अब वह ब्राह्मण साधुसे कहता है कि महाराज १५दिन

हो गये अब तो हमें जाना चाहिए। देखें तो जाकर कौन मरा है, कौन जिन्दा है क्योंकि घर के लोग भूखे रहे होंगे। साधुने कहा—अच्छा जावो, जाकर देख आवो, मगर छिप करके देखना।

अब वह ब्राह्मण अपने घर आया, देखा कि सब लोग मौज उड़ा रहे हैं। कहाँ तो कुछ खानेको न था और कहाँ पकौड़ी, पूड़ियां उड़ा रहे हैं। सोचा कि अच्छा मौज आ गया यहाँ तो। सारा घर सम्पदासे भर गया है। अब वह घरके अन्दर गया। घर वालोंने सोचा अरे घर वाला तो मर गया था, वह अब घरके अन्दर आ गया है। अब तो शायद यह भूत बनकर आया है। उसको भूत जानकर चूल्हेमें लगे लूगरसे उसको खदेड़ा। वह डरके मारे भागा। साधुके पास वह फिर लौट आया। संन्यासीसे बोला—महाराज घरकी बहुत ही अच्छी दशा हो गयी है। घरके सब लोग आरामसे थे। पहिले तो खानेको नहीं था, पर अब सब पूड़ी पकौड़ी उड़ा रहे हैं। मैं जब घर गया तो घरके लोगोंने मुझे चूल्हेके लूगरसे भगा दिया। सन्यासी कहता है कि तुम्हें अभिमान था कि घरके लोगोंका पालन-पोषण हम ही करते हैं। अब उन्हें मौज है, इसलिये उन्होंने तुमको भगाया। जब तक तुम घर में रहे तब तक परेशानियोंसे दिन गुजरे थे, पर जबसे तुम हटे तबसे उनकी अच्छी स्थिति हो गयी है। अब वे सब मजेमें हो गये तो तुम्हें पूछे ही कौन ?

भैया, सब स्वतंत्र-स्वतंत्र जीव हैं। तुम किसकी चिंता करते हो ? भीतरमें यदि सम्यग्ज्ञान हो तो चिंतावोंमें फर्क पड़ जाता है। यदि ज्ञान नहीं है तो चिंताएं हो जाती हैं। करने लायक काम तो यह है कि भीतरमें ऐसा ज्ञान बने कि मैं ज्ञाता दृष्टा हूं, जानन-हार हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ—इतना ज्ञान होनेसे आकुलताएं नहीं रह जाती हैं। यदि अज्ञान का कुछ असर हुआ तो आकुलताएं रहती हैं। यदि सम्यग्ज्ञान करो तो आकुलताएं छूटें। यदि चिंताएं छूटें तो यह जीव अपने आप सुखी हो सकता है। चिंतावोंमें बने रहनेसे तो आत्माका कल्याण नहीं होगा। यदि चिंताएं छूटें तो अपनी आत्माका आनन्दस्वरूप देखने में आ जाये और की तो बात ही क्या यदि कल्याण भी करते हो और आकुलतावोंकी कल्पनाएं बनालो तो आकुलताएं छा जाती हैं। जगत्से तो इतना ही प्रयोजन रखो कि मैं तो जान गया। जानने तक ही मेरा काम है। इसके आगे मेरा काम नहीं है। इसके आगे और मत सोचो। इसके आगे यदि सोचा तो दुःख ही है। अपने आपको जानलो ओर देख लो और इसके आगे मत सोचो।

एक भक्त था। साधुके पास बैठ गया। भक्तने सोचा कि साधुसे नियम कुछ ले लें। साधुने कहा—मंदिर रोज दर्शन करने जाया करो। बोला—महाराज, मंदिर तो दूर पड़ता

है साधु बोला—अच्छा अगर दूर पड़ता है तो घरसे जो चीज नजदीक हो उसका दर्शन कर लिया करो। भक्त बोला—महाराज, हमारे घरके सामने तो कुम्हार का घर पड़ता है। उस कुम्हारके घरके भैंसेका चाँद ही घरसे निकलने पर सबसे पहले दिखाई पड़ता है। तो साधु बोला कि उस चाँदका ही रोज दर्शन कर लिया करो और फिर खाया करो। उसने यह मान लिया। अब वह उस चाँदका ही दर्शन करके खाना खावे। एक दिन कुम्हार मिट्टी लेने बाहर चला गया, वह झट कुम्हारके यहाँ पहुँचा। जब वह वहाँ पहुँचा तो भैंसा न था। मालूम करके वह खान पर पहुँच गया। उसी समय खानमें असर्फियोंका एक हंडा कुम्हार को मिला। जब अशर्फियोंका हंडा मिला तो इधर-उधर देखा कि कोई देखता तो नहीं है। उस भक्तने उस भैंसेका चाँद देख लिया। कुम्हारने भक्तजी से कहा—अरे सुनो, बोला-बस देख लिया। भक्तसे फिर कहा—सुनो, कहा—बस देख लिया। अब वह किसीको भी न सुनें। बस देख लिया, बस देख लिया यही वह कहे। तब वह कुम्हार भक्तजीके घर ही अशर्फियाँ उड़ेलकर कहता है कि कहीं कहना नहीं, ये आधी तुम ले लो।

भैया, कितना भी वैभव मिले, केवल यही विश्वास रहे कि देख लिया, जान लिया। इसके आगे और कुछ नहीं करना चाहिए। इस वृत्तिसे कोई रहता है तो आनन्द मिलता है। यदि अपने ज्ञानकी दृष्टि रहे तो यही पुरुषार्थ है, इसमें ही आनन्द है। जो कुछ वैभव है वह तो तितर-बितर हो जायेगा, सब चला जायेगा। उससे सुख न प्राप्त होगा। केवल अपने आत्माकी ओर दृष्टि हो तो वही अपना रक्षक है, बाकी तो सब गैर हैं।

वित्तं विषयदस्युः क्व मित्रं शत्रुः क्व पाटवम् ।
तन्मूलाशा न मे यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-१६॥

जगत्के प्राणी पंचेन्द्रियोंके वशमें होकर पराधीन हो रहे हैं। तो इनका स्वरूप ज्ञान-मय, आनन्दमय है। पर अपने इस महान् स्वरूपको न जानकर, उस ही आनन्दस्वरूपका अनुभव न कर बाहरमें ही आनन्द ढूँढ रहे हैं और पंचेन्द्रियमें आकर अपने हित और आ-नन्दकी बात खोज रहे हैं। अपने कल्याणका मार्ग खोज रहे हैं। ये विषय ही ज्ञान वैभवसे अलग कर दुर्गतिमें ले जाने वाले हैं, ठग हैं और चोर हैं। यदि किसी भी प्रकारके विषयोंकी इच्छा न हो तो यह आत्मा आनन्दस्वरूप है ही, ज्ञानस्वरूप है ही। प्रत्येक विषय कषायकी विकृ-तियोंने इस जीवको उल्टा बना दिया है। जगत्में इसके अतिरिक्त यह जीव मित्र और शत्रु की कल्पनाएँ करता है। जो विषयोंके साधक हैं उनको तो यह जीव मित्र मानता है और जो विषयोंके बाधक हैं उनको यह जीव अपना शत्रु मानता है। मित्र और शत्रु की कल्प-नाएँ ही इस जीवको इस प्रकार चला रही है। घरके परिवारके लोगोंमें इसकी क्यों रुचि है ?

यह धन वैभवके कषायोंसे ही सताया जा रहा है। ऐसा यह मोह, ऐसे ये गंदे विचार, इनमें ही ये जीव पड़े हुए हैं। सो इनको यह विकल्पोंकी गंदगी खुद ही सुहा रही है। जो विषयों के साधक हैं वे इसको सुहा जाते हैं। वे ही इनके बन्धु बन गये, वे ही मित्र बन गये। और जिनके कारण विषयोंमें बाधा आवे उनको यह मोही प्राणी दुश्मन मान रहा है।

कभी कोई साधु चला जा रहा है, उसे किसी शिकारी ने देख लिया तो वह साधु भी शिकारीका दुश्मन बन गया। शिकारी सोचता है कि यह मेरा असगुन है। तो उसके विषयोंमें बाधा आयी ना ? इसलिये उसे भी दुश्मन मान लिया। और फिर उसके आगे क्या सोचते हैं कि यदि विषयोंमें ही अपने को लिप्त कर डाला और किसी प्रकारका छल करके विषयोंके साधन अच्छी तरह जुटा लिए तो उसमें वे अपनी चतुराई समझते हैं। इस मोही प्राणीकी यह क्या चतुराई है ? केवल विषयोंके साधनको जोड़ लिया और विषयोंके बाधकोंका नाश कर दिया। करता तो कुछ नहीं है यह आत्मामें, केवल ख्याल बनाता है।

हे आत्मन्, जरा अपने हितकी बात तो सोचो कि इन विषयोंसे किसीका पूरा पड़ा है ? इस जीवनमें विषयोंमें ही जुते, बड़ी उम्रके हुए, वृद्ध हो गए, बाल पक गये, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं। बतावो कौनसा लाभ इस मनुष्यभवको पाकर पाया ? वे अपने जीवन के क्षण व्यर्थमें ही गुजार देते हैं वह विषयोंका ही तो असर है। ये विषय ही इस जीवके वास्तविक दुश्मन हैं। इन विषयोंको जिसने जीता है वही ज्ञानी है, वही विजयी है। जगत् के सभी जीव अपने समान हैं। तुम्हारे और सब जीवोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। सभी जीवोंका स्वरूप अत्यन्त जुदा है। सभी जीव मेरे स्वरूपके अत्यन्त समान हैं। फिर इन जीवोंमें यह छटनी कर लेना कि यह मेरा है, यह पराया है, यह गैर है ऐसी छंटनी कर लेना क्या यही पारमार्थिक चतुराई है ? यह सब मोहकी लीला है। जो विषयोंके साधक प्रतीत होते हैं, उनको ही इस जीवने अपना मान लिया और जो विषयोंमें बाधक हैं उनको ही इस जीवने दुश्मन मान लिया, पराया मान लिया। ऐसी वृत्ति कर लेना ही अज्ञान है।

भैया ! विषयोंकी आशा जिनके लगी रहती है उनके ही दुनियामें शत्रु और मित्र होते हैं और जिनके विषयोंकी आशा नहीं लगी होती है उनका जगत्में न तो कोई मित्र ही होता है और न कोई शत्रु ही होता है। यह सब कल्पनाजाल है, केवल आशाओं तक ही यह सीमित रहता है। जिनके आशा नहीं रहती, उनका सब जाल समाप्त हो जाता है।

समय तेजीसे गुजर रहा है, आयु प्रतिदिन घटती जा रही है, मृत्युका समय निकट आता जा रहा है, क्यों आशाओंमें फर्क न डाला ? ज्योंके त्यों आशाओंके दास ही बने रहे तो फिर दुर्लभ नर-जीवन व्यर्थ ही गंवाया ना ? जो कुछ भी बाहर दिखते हैं सब छूट जाते

हैं, यहाँसे चले जाते हैं, आशाएँ करके इस भवको बिगाड़ लेना, जन्म-मरणकी परम्परायें कर लेना, यह तो चतुराई नहीं है। कुछ ही दिनमें सब चीजें साफ हो जाती हैं। यहाँ पर कोई चीज विवेककी नहीं, सारकी नहीं। यदि परमें मोह ममत्व बसाये रहे तो जीवन बेकार है।

जीवनका सार तो प्रभुभक्ति और आत्मध्यानमें है। इन कामोंके अलावा और कोई काम यहाँ सारका नहीं है। सो अपने जीवनमें यह देख लो कि प्रभुभक्ति तुम्हारे कितने उपयोगमें है ? आत्मध्यानमें मैंने कितना यत्न किया है और कितना नहीं किया है ? इस तरह नफे और टोटेका हिसाब लगाओ। धन बढ़ गया तो यह नफेकी बात नहीं। अरे, धन बहुत बढ़ गया और एकदम छोड़कर चले गये तो मुनाफा क्या मिला ? वैभवका बढ़ जाना मुनाफा नहीं है। परिवारका बढ़ जाना आत्महित नहीं है। नफा तो वह है जिसके कारण शान्ति रह सके। ऐसा यत्न कर लें तो यही एकमात्र सार बात है। सो सीधी बात है कि प्रभुभक्ति और आत्मध्यान यदि बनाते हों तो जीवन सफल है, नहीं तो पशुवोंके और मनुष्योंके जीवन में कोई अन्तर नहीं है।

भैया, बाल बच्चे मनुष्योंके होते हैं तो क्या पशुवोंके नहीं होते ? विषय भोग यदि मनुष्य करते हैं तो क्या पशु नहीं करते ? जो कुछ लौकिक मनुष्य करते हैं वह पशु भी तो करते हैं। बल्कि पशु उन मनुष्योंसे कई बातोंमें अच्छे हैं। पशुवोंका आहार पूरा हो जाये तो उन्हें संतोष हो जाता है। मगर मनुष्योंका आहार पूरा हो जाये, फिर भी उन्हें संतोष नहीं होता है। उन्हें इच्छा यही बनी रहती है कि कोई रसीली चीज मिल जाये। आहार हो जाने पर भी चाट वाट हो तो अभी कुछ न कुछ खानेकी इच्छा बनी ही रहेगी। तो यहाँ पशुवोंमें और मनुष्योंमें फर्क आ गया। पशुवोंको कल परसोंके भोजनके लिए फिक्र नहीं, पर मनुष्योंको कल परसोंके भोजनके लिए फिक्र बनी रहती है। परिग्रहका संचय मनुष्योंमें ही लगा रहता है, पर पशुवोंको जो कुछ भी मिल जाये उसमें ही संतोष हो जाता है और भी देख लो पशुवोंको डर अधिक नहीं रहता है। जब कोई लाठी लेकर आ जाये तभी थोड़ा पीछे हटते हैं। पर मनुष्योंको सदा भय बना रहता है। सम्पदाकी रक्षा करेंगे, अपने बाल-बच्चोंकी रक्षा करेंगे। सदा उनको भय ही बना रहेगा। तो मनुष्योंसे पशु अच्छे ही रहे।

भैया, पशुवोंसे मनुष्य तब अच्छे हैं जब कि मनुष्योंमें धर्म आ जाये। धर्म ही मनुष्य की विशेषता है। यदि धर्मका पालन करें तो पशुवोंसे मनुष्य भले हैं, नहीं तो मनुष्योंसे पशु ही भले हैं, यहाँ प्रायः बिषयोंमें ही धुन लगाये हैं और अपना समय गुजार रहे हैं। यहाँसे चले जायेंगे, कुछ हाथ न लगेगा। इस कारण मनुष्यभव पाकर मुनाफा तो तब समझो जब

अपनेमें प्रभुकी भक्ति आवे। अपने आत्माके सहज स्वरूपमें जो कि एक चैतन्यशक्ति मात्र है ऐसा अनुभव हो जाये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दघन हूँ, सबसे निराला हूँ, ऐसा अनुभव हो जाये तो जीवन सफल हो सकता है। तभी मनुष्यभव पानेमें मुनाफा है, नहीं तो टोटा ही बैठता है। कहते हैं कि जब विषयोंकी आशा न रहे, आशावोंका त्याग हो तभी शान्ति मिल सकती है।

निर्वाणं भोगवैरस्यं बन्धो भोगेषु गृद्धता ।
स्वायत्तमेव निर्वाणं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२०॥

थोड़े ही शब्दोंमें यदि कहना हो कि निर्वाण क्या है और बंध क्या है ? मुक्ति क्या है और बंधन क्या है तो उसका उत्तर है कि भोगोंमें विरक्तता आ जाय, भोगोंसे राग हट जाय तो यही मुक्ति है। और भोगोंमें आसक्ति आ जाय तो यही बन्धन है और कोई दूसरा बन्धन नहीं है। आप जकड़े हुए हो। अपने बारेमें जैसे कोई विचार करता है कि मुझे झंझट लग गई, इतने बाल-बच्चोंमें फिक्र बन गई और इतने कामोंमें झंझट बढ़ गया, इन सब कामोंने मुझे फांस लिया, इन बाल बच्चोंने मुझे फाँस लिया, तो जरा सही तो विचारें कि हमें किसने फाँस लिया ? आप कहेंगे कि हमें बाल-बच्चोंने फाँस लिया, स्त्रीने फांस लिया। नहीं, किसी दूसरेने नहीं फाँसा है। विषयोंकी जो आशा बना रखी है, जिस विषय-वृत्तिके भावसे विवाह किया, उस विषयकी इच्छाने फाँसा है, स्त्रीने तुझे नहीं फाँसा है। आपकी स्त्रीने, आपके बाल-बच्चोंने आपको नहीं फाँसा है। आपके विषयकषायोंने ही आपको फाँस लिया है।

यदि बंधन हटाना है तो कषायोंसे वैराग्य हो जाये। बंधन सुगमतया ही हट जावेगा। इन विषयकषायोंमें कुछ सार नहीं है, इनमें कुछ हित नहीं है, ऐसा समझो। यही मुक्ति है। जिसके भोगकी इच्छा नहीं है उसके बंधन नहीं है। भोग विरस लगने लगें यही निर्वाण है। भोगनेकी आसक्ति आ जाये, बस यही बंधन है। सब जीव अपनी-अपनी परेशानियाँ अनुभव कर रहे हैं। यह क्यों कर रहे हैं ? उनको अपनेका पता नहीं कि मैं क्या हूँ ? मेरा करनेका काम क्या है ? यह तो सोचा ही नहीं और इन इन्द्रियोंके बहकानेमें आ गये, मनके कहनेमें लग गये, बस परेशानियाँ हो गयीं। इन परेशानियोंको मिटाने वाला केवल ज्ञान ही है। ज्ञानसे परेशानियां मिट जाती हैं। अन्य किन्हीं चीजोंसे परेशानियां न मिटेंगी। सारी व्यव-स्था आय आदिकी बना लें तब निवृत्ति हो जायेगी, ऐसा जो सोचा करते हैं उनकी निवृत्ति नहीं हो पाती है। वर्तमानमें जो कुछ प्राप्त है उसमें ही रास्ता निकाल लो।

मैं अभीसे अहितकी चीजोंको त्यागकर निवृत्तिमें लगूं। जब वर्तमान भावही खोटा है, वर्तमान भावमें ही जब परिग्रहकी आशा हो तब भविष्यमें इस आशाके कारण क्या आशा रखी जा सकती है कि निवृत्ति हो जायेगी ? अरे धनके कारण निवृत्तिकी आशा करना तो दूर रहा, पर वर्तमानमें कोई विपत्ति आ जाये और उस विपत्तिमें धर्मकी ओर झुकें तो विपत्तियोंके कम होतेही धर्म भावना खत्म हो जाती है। जैसे कोई बीमारीमें अधिक फँस गया तो वह अपने मनमें निर्णय कर लेता है कि इस बीमारीसे बच गया तो मेरा जीवन धर्मके लिए है और जब बीमारीसे थोड़ा ठीक हुए तो धर्मकी भावना खत्म हो जाती है।

एक कथानक है कि एक पुरुष खजूर खानेके लिए खजूरके पेड़ पर चढ़ गया। बड़ा लम्बा खजूरका पेड़ होता है। वह चढ़नेको तो चढ़ गया, पर जब उतरने लगा तो डरा कि कैसे उतरूँ ? उसने सोचा कि भगवान् मैं कैसे उतरूँ ? बोला—भगवान् यदि मैं उतर गया तो सौ आदमियोंको भोजन खिलाऊँगा। फिर साहस किया, कुछ जरा सा उतरा तो बोला—१०० तो नहीं, पर ५० को जरूर खिलाऊँगा। और उतर तो बोला कि १० को जरूर खिलाऊँगा। इसी तरहसे और नीचे उतरा तो बोला—५ को जरूर खिलाऊँगा। ऐसा कहकर जब बिल्कुल नीचे उतर गया तो बोला—अरे उतरे तो हम हैं। मैं क्यों दूसरोंको जिमाऊँ ? सो भैया ! ऐसे ही सब अपनी विपदाओंमें सोचते हैं। जब यह जीव विपदाओंमें फँसा होता है तब उसको धर्मकी सूझती है और जहाँ संकट हटे तहाँ यह जीव भगवान्की भक्तिको भूल जाता है। यदि यह जीव भगवान्का ध्यान रखे तो निराकुलता रहती है और निराकुलता से ही उसका जीवन पार हो जायेगा। यदि प्रभुभक्ति नहीं है, आत्माका ध्यान नहीं है तो जैसा जीवन गुजर रहा है वैसाही सब पर्यायोंमें जीवन गुजरता जायेगा।

भैया, स्त्री पुत्रमें कुछ भी शरणकी बुद्धि न रखो। जो अपनी आत्मा है वह स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप है। उस आत्मामें मात्र प्रकाश है। ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप, ज्योतिमात्र वह आत्मा है। अपने प्रभुकी उपासना करो और पूजा करके यह भाव करो कि मैं ज्ञानज्योति मात्र हूँ। या मैं तो प्रभुस्वरूप ही हूँ। ऐसाही अपने प्रभुस्वरूपका ख्याल करो। ५ पापोंसे दूर रहो। किसी जीवकी हिंसा न करो। बुरे विचार न करो, किसीकी झूठी गवाही न दो। जरा जरासी बातोंमें विचलित हो जायें, पापवृत्तिमें उतारू हो जायें तो बतावो इस आत्माका क्या महत्त्व रहा ? किसी पर जी ललचा गया तो आत्माका क्या महत्त्व रहा ? यदि किसी स्त्रीपर कुदृष्टि डाली या कामवासनाके भाव बनाये तो उसने स्वयं अपना घात किया। यदि परिग्रहके ही स्वप्न देखते रहे, अपने आपकी दृष्टि न की तो वहाँ अपनी बरबादी ही है।

भैया, यदि परमात्मस्वरूपकी कुछ भी उपासना नहीं की, इन बाह्य पदार्थोंमें ही

कुदृष्टि रही तो समझो कि तुमने अपनी बर्बादी ही कर डाली। यदि विषयकषायोंमें ही जीवन रहा तो जीवन व्यर्थ है। इसलिए अपना उपयोग जगावो, ज्ञान जगावो। भैया! मोह ममताको छोड़कर अपने आत्मस्वरूपकी ओर झुको। क्या तुमने अपने आत्मस्वरूपकी ओर झुक नहीं सकते? घर गृहस्थीमें रहते हुए भी भीतरमें ज्ञान जगाना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि मेरी मदद करने वाला दूसरा नहीं है। न पुत्र रक्षा करेंगे न मित्र रक्षा करेंगे, न स्त्री रक्षा करेगी, अपने ज्ञानस्वरूपमें ही विश्वास हो। यदि ज्ञान और आचरणके माफिक तेरा भविष्य बन गया तो तेरा रक्षक तू ही है।

आप बिगड़ते चले जा रहे हैं तो यहाँ मदद करने वाला कोई भी न होगा। ऐसा जानकर मोह ममताको त्यागो। इसके त्यागनेमें ही शूरवीरता है। यदि मोह ममता न त्याग सके तो खुदकी ही बर्बादी है। अपने स्वरूपको बिगाड़कर क्यों अपने आत्माके महत्व को खो रहे हैं? इसमें तो दुःख होगा, खुदको ही दुःख होगा। खुदके दुःखोंको मेटनेका उपाय है मोह ममताको त्यागना। दूसरा और कोई उपाय नहीं है। भगवान्‌के दर्शन हम किसलिए करते हैं? यह सीखनेके लिए कि प्रभुमें किसी प्रकारके विषय कषाय नहीं हैं, किसी प्रकारका विकार नहीं है, इसी कारण ये सर्वोत्कृष्ट, सर्वज्ञ व आनन्दमय हुए। प्रभुकी भक्ति और आत्मज्ञान ही आपके आधीन बातें हैं। निर्वाण अपने आधीन है। जो अपने आधीन नहीं है उसमें रति मत करो। यदि अपने आपको न देख सके तो सुख न मिलेगा। यदि खुद अच्छे हो तो सुख हो सकता है।

भोगमोक्षैषिणोऽनेके वांछाहीनो हि दुर्लभः।
स एव सहजानन्दः स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥४–२१॥

इस लोकमें जितने भी लोग दीख रहे हैं वे कुछ न कुछ वाञ्छा लिए हुए हैं। वाञ्छारहित पुरुष इस लोकमें दुर्लभ है। इच्छाएँ अनेक प्रकार ही होती हैं। कोई धनकी इच्छासे मलिन हो रहा है, कोई विषयोंकी इच्छाका भिखारी बन रहा है, तो कोई परोपकर के भावोंको लेकर नाना प्रकारकी सेवाओंकी इच्छा करके भ्रमण कर रहा है। इच्छाएँ सबके साथ लगी हुई दिख रही हैं। जो जीव भोगोंसे विरक्त होकर त्याग मार्गमें आया उनके भी मोक्षकी इच्छा लगी है। कोई भोगोंको चाहता है, कोइ मोक्षको चाहता है। जिनको हम समझते हैं कि ये बड़े महान् हैं, इनके महती तपस्या है, विरक्ति है उनके भी मोक्षकी इच्छा पायी जाती है। ये इच्छाएं प्रायः सबके साथ लग रही हैं।

क्या इस लोकमें ऐसा भी कोई पुरुष होगा जिसके किसी भी प्रकारकी इच्छाएं न हों? मोक्ष तककी इच्छा न हो? ऐसे भी पुरुष होते हैं, पर कोई बिरले। जगत्‌का जैसा

स्वरूप है, आत्माका जो स्वरूप है उसका यथार्थ ज्ञान करके वह मात्र ज्ञाता दृष्टा ही रहता है। उसे क्या चाहिए ? कुछ भी न चाहिए। चाहिए का कोई प्रश्न ही नहीं है। चाहिए नामका परिणमन इस आत्मामें नहीं है। चाहिए इस आत्माका स्वभाव नहीं है। जो स्वभाव नहीं है उसका करने वाला भी मैं नहीं हूँ—ऐसा ज्ञान बिरले ही ज्ञानीके होता है। इसीलिए ऐसे बिरले ही पुरुष होते हैं कि जिन्हें कुछ न चाहिए, जिनका केवल इस लोकमें देखना और जानना रहता है—ऐसे पुरुष दुर्लभ हैं। ऐसे तो अनेक देखे जाते हैं जो किसी न किसी प्रकारकी चाह लिए रहते हैं। सब दुःखोंकी जड़ चाह है।

मूलमें तो मात्र चाह उत्पन्न होती है पर परम्परामें और अनेक संकट बढ़ते चले जाते हैं। कौन पुरुष कितने दलबलमें फंसा है, कितने झंझटोंमें फंसा है ? इसको बतानेकी जरूरत ही क्या है ? सब अपने आपको देख लें कि हम कितने झंझटोंके बीच फंसे हैं। सब के झंझट अपने-अपने प्रकारके हैं। एक अनपढ़ गृहस्थ उसके झंझट अन्य किस्मके हैं, एक पढ़ा हुआ गृहस्थ उसके झंझट और किस्मके हैं। एक अफसरके झंझट और किस्मके हैं, एक नेताके झंझट और तरहके हैं, जो राज्य करता है उसके झंझट और प्रकारके हैं। सब के झंझट अलग-अलग प्रकारके हैं।

ये सारे झंझट क्यों लग गये ? इसका क्या कारण है ? कारण केवल एक है। उनके कुछ न कुछ चाह है, इच्छा है। इस इच्छाके कारण ही उनको अनेक प्रकार के झंझट लग जाते हैं।

एक साधु था। लंगोटी पहिने हुए रहता था। एक लंगोटी अपनी अलग रख देता और एक पहिने रहता था। उसकी लंगोटीको चूहे काट जाते। सोचा यह तो रोजका दुःख हो गया। कपड़े चूहे काट जाते हैं। इनकी रक्षा कैसे करूँ ? उसने सोचा कि बिल्लीके पाललेनेसे चूहे आयेंगे ही नहीं, सो उसने एक बिल्ली पाल ली। अब बिल्लीको तो कुछ खाना पीना चाहिए ही। इसलिए दूधके लिए एक गाय पाल लिया। दूधके लिए गाय पालना जरूरी समझा। जब गाय पाल लिया तो उसे चरानेके लिए कोई भी चाहिए। उसने एक नौकरानी रख ली। बहुत दिनोंके बादमें नौकरानी और साधुके कुसंगसे एक पुत्र पैदा हुआ। अब तो साधुका घर भर गया। बिल्ली हो गयी, बिल्लीके तीन बच्चे हो गये, गाय हो गई, गायके एक बछड़ा हो गया। स्त्री हो गई, स्त्रीका एक पुत्र हो गया। इस तरहसे साधु का सारा घर भर गया। अब किसी दिन साधु दूसरे गाँव गया। वे सारेके सारे भी सब संगमें गये। रास्तेमें एक नदी मिली नदीऐ पानी काफी था। सब नदीमें निकलने लगे, एकाएक नदीमें बाढ़ आ गयी। साधुके पैर जम न सके। सभी अर्थात् बिल्ली, बिल्लीके बच्चे

गाय, गायका बछड़ा, स्त्री, स्त्रीका बच्चा सभी उस साधुसे चिपकने लगे, सभी बहने लगे, साधु भी बहने लगा। जब इतनी विपत्तियाँ साधुके सामने आ गयीं तो उसने समझ लिया कि सब विपत्तियोंका कारण केवल एक लंगोटी है। इस लंगोटीके ही कारण ये सारी विपत्तियाँ सहनी पड़ीं। उसने लंगोटीको खोल कर फेंक दिया याने सबके ममत्वका त्याग कर दिया। जब उसने लंगोटीको फेंक दिया तो सारेके सारे नदी पार हो गये। साधुने फिर सबका मोह त्याग दिया।

यदि सारे झंझटोंसे छूटना हो तो मोहको त्याग दो। इस मोहके कारण ही सारे झंझट लग जाते हैं। आराम तो एकाकीमें है। आराम अकेले में है। आपका जीव किसी दूसरे के साथ पैदा होता है क्या? अथवा मरने पर किसी को साथ ले जायेगा क्या? हजारों लाखोंका कोई वैभव जोड़ लें और मरते समय यदि वह यह कहे कि इसे हमने कमाया है, हमारे साथमें एक चवन्नी ही भेज दो तो चवन्नी तो दूर रही, एक धागा भी साथमें न जायगा।

यह जीव अपने ही स्वरूपको लिए हुए है, जगत्के सब पदार्थोंसे न्यारा है—ऐसा अपने इस स्वरूपका ख्याल करो, अपनी ही ओर दृष्टि दो मोह ममताको त्याग दो तो कुछ शरण भी मिलेगा और अपने को भूल जायें बाह्यपदार्थोंकी इच्छावोंमें ही फंस जायें तो बाह्य पदार्थ तो शरण होते ही नहीं। शरण तो अपने अन्तरंगमें ही मिलेगी। बाह्यपदार्थोंमें शरण नहीं मिलेगी। ये बातें सभी अपनी-अपनी हैं। यदि बाह्यकी आशा छोड़ दो तो आकुलताएं दूर हो जावेंगी। जिसने बाह्यपदार्थोंकी आशा नहीं त्यागी, उसकी आकुलताएं ज्योंकी त्यों हैं।

सुख दुःख भोगने वाले, तर्क वितर्क करने वाले यदि भीतरमें यह ख्याल बना लें कि मैं एक जीवपदार्थ हूँ, इस जीव नामक पदार्थका दुनियामें कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई किसी की कुछ मदद नहीं कर सकता ऐसा यदि ख्याल बनाते हैं तो उनका कल्याण है। जब कोई दूसरे सहायक बन जाते हैं तो यह तो उनके पुण्यका उदय है, उनके भाग्यका उदय है अथवा यह कह लिया जाये कि उनके शुद्ध आचार विचारका प्रताप है जो दूसरे लोग कुछ न कुछ सहायक बन जाते हैं। अपना शरण तो अपना स्वरूप है कोई दूसरा अपनी शरण नहीं है। इसलिए किसकी आशा करते हो? सभी जगह धोखा ही मिलेगा, क्योंकि कोई भी परपदार्थ मुझमें आता नहीं है, मुझमें कुछ करता नहीं। सब प्रकारकी बाधाओंको छोड़कर अपने सहजानन्दमें आऊँ और इसी वृत्तिसे अपने आपमें सुखका अनुभव करूँ। यह अपने पतेकी बात है। यही तो धर्मकी बात है।

भैया! अपना-धर्म अपनेमें है। जो अपना स्वभाव है वही धर्म है। अपना स्वभाव

है वही धर्म है। अपना स्वभाव है ज्ञान और दर्शन। जानना, देखना, ज्ञातादृष्टा रहना अपना स्वभाव है। यह स्थिति बन पाये तो धर्मात्मा है, यह समझ लीजिए। यदि यह स्थिति नहीं बन सकी तो वह धर्म नहीं है। इन वांछाओंको त्यागो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

ज्ञाने रतस्य धर्मार्थिकाममोक्षे जनौ मृतौ।
हेयादेयेऽपि चिंता न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–२२॥

जो किसी प्रकार अपने ज्ञानस्वभावका विश्वास कर लेता है, सारे पदार्थोंका विकल्प छोड़कर, परम विश्राम से रहकर ज्ञानका अनुभव जिसके हुआ करता है ऐसा ही यत्न करके जो अपने ज्ञानमें रत होगा उसको फिर किसी प्रकारकी चिंता नहीं रहती। चिंता तो तब है जब ममता है। जिसका शुद्ध ज्ञान होगा उसको बाहरकी चीजोंमें ममता नहीं रहती है। जब तक ममता रहेगी तब तक शाँति नहीं रहेगी क्योंकि ममता व्यर्थकी है। ममता बरबाद ही करने वाली है, उससे कल्याण नहीं होता है।

भैया ! इस लोकमें आपका क्या है ? अच्छी तरह निर्णय कर लो। शरीर तो आप का होगा नहीं यह भी धोखा दे देता है। यह आत्मा चली जाती है और शरीर यहींका यहीं रह जाता है। जब तक यह शरीर है तब तक दुःख ही दुःख है। अपने इस शरीरसे बड़ा प्रेम करते हैं। लड्डू भी खूब खिलावें, मिठाइयाँ भी खूब खिलावें, सब कुछ करते, मगर अंतमें खाँसीमें आकर, बीमारियाँ आकर दुःखी बन जाते हैं। इस शरीरसे इतना प्रेम करते और यही दुखोंका कारण बनता है। इस शरीर पर भी क्या कोई अपना अधिकार है ? नहीं। कोई नहीं चाहता कि बाल सफेद हो जायें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायें। खिजाब लगा कर बालोंको काला करते हैं। कुछ भी करें, पर इस शरीर पर अपना कोई अधिकार नहीं है।

जब आयुका क्षय हो जाता है तब यहाँसे विदा होना ही पड़ता है। लाखों यत्न करें पर यहाँ कोई नहीं रह सकता है। मंत्र तंत्र कुछ भी हों पर यहाँसे बचाने वाला कोई नहीं है। यह तो बताओ कि इस लोकमें है क्या तुम्हारा ? तुम्हारा इस लोकमें कुछ भी तो नहीं है। अटकी बातोंकी कोई दवा नहीं, मिथ्यात्वकी कोई दवा नहीं, कल्पनाओंका कोई इलाज नहीं। ऐसी ही चुपचाप मान लेनेकी बात है कि वास्तवमें मेरा इस जगत्में कुछ नहीं है। कोई बनावटकी बात नहीं करता है, किन्तु भीतरमें ज्ञान जगाओ कि यह मैं अकेला ही हूँ। इस मेरेमें जगत्का कोई पदार्थ नहीं है। जो भीतरमें ऐसा मान लेगा तो उसकी आकुलताएँ समाप्त हो जायेंगी। आकुलताएँ तो मिथ्यात्व भावसे लगी हैं। यदि इन तकलीफों से छुटकारा

प्राप्त करना है तो अपने ज्ञानको जगाओ और दूसरा काम नहीं है।

जङ्गलमें एक साधु महाराज नग्न दिगम्बर ध्यानस्थ थे। गर्मीके दिन थे। वहाँसे एक राजा निकला। उस साधुकी तकलीफको देखकर राजा वहीं बैठ गया। जब साधुका ध्यान टूटा तो राजा बोला—महाराज! आप इस प्रकारकी धूपमें इस प्रकारसे क्यों परेशान हो रहे हैं? आपके पास यहाँ खाने-पीनेका भी प्रबन्ध नहीं, आपको धूप भी बहुत लग रही होगी। कमसे कम एक छतरी तो आपको दे ही दूँ जिससे आप ऊपरकी धूप तो बचा सकेंगे। साधु बोला–ऊपरकी धूप बच जायगी, पर नीचेकी तपन कैसे मिटेगी? राजा बोला–महाराज! जूते बनवा दूंगा। साधुने कहा–भाई! नीचेसे जूते, ऊपरसे छाता और शरीर नंगा, यह भी तो ठीक नहीं है। राजा बोला–महाराज! मैं वस्त्र बनवा दूँगा, सुन्दर वस्त्र मंगा दूँगा। साधु बोला-जबमैं वस्त्र पहनकर रहूँगा, वेशभूषामें रहूँगा तो फिर मुझे कौन पूछेगा? तब राजा बोला- महाराज! तीन चार गाँव मैं लगा दूँगा, जिससे खूब खाना पीना और आरामसे रहना। साधुने कहा–अच्छी बात है। साधुने कहा–फिर खाना कौन बनायगा? राजाने कहा– महाराज! आप चिंता न करें, दुःख न उठावें, मैं आपकी शादी करा दूँगा, सब ठीक हो जायगा। साधुने कहा–अच्छा जब सब साधन हो जायेंगे तो फिर मैं पैदल ही क्यों चलूंगा? राजने कहा–महाराज! मोटर दे दूँगा। तो मोटरका खर्च कैसे चलेगा? राजने कहा-महाराज! मोटरके खर्चके लिए मैं ५ गाँव लगा दूँगा। साधुने कहा-फिर बच्चे होंगे तो उनकी शादी वगैरा कौन करेगा? राजाने कहा–अच्छा १० ग्राम और लगा दूँगा। साधुने कहा-अगर घरमें कोई मर गया तो फिर कौन रोवेगा? राजाने कहा महाराजमैं और सब कुछ तो कर सकता हूँ पर मैं रो नहीं सकता। रोना तो आपको ही पड़ेगा। जिसके ममता है वही रोवेगा। सो भैया! मुफ्तकी इस ममतासे दुःख ही रहेंगे। तत्वकी वृत्ति कुछ भी नहीं रहेगी।

भैया! घर गृहस्थमें रहते हुए सारे काम चलने दो। घर गृहस्थीके काम करो, दुकान का काम करो, किसी भी कामके लिए अभीसे निषेध नहीं किया जा रहा है। मगर भीतरमें यह उजेला तो बना रहे कि दुनियामें सब धोखा है। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। अगर हो सके तो ये सब बातें भीतरसे मान लो। भैया! यह सोचो कि यहाँ पर मेरा कुछ भी तो नहीं है। यहाँ तो केवल भ्रमजाल है। ममताके प्रसंगमें केवल पाप ही रहेंगे। तो भैया मोहकी बात मोहकी है और ज्ञानकी बात ज्ञानकी ही है। ज्ञानी सभी जीव हो सकते हैं, केवल अपने ज्ञानको जगावें। मनुष्यकी तो बात क्या? गाय, भैंस, सूअर, गधा

साँप और नेवला इत्यादि सभी संज्ञी जीव ज्ञानी हो सकते हैं। पुराणोंमें दृष्टान्त देखो, ये सभी जीव ज्ञानी दिखाये गये हैं।

एंक गृहस्थ कैसे ज्ञानी हो सकता है? गृहस्थ घरमें रहता हुआ भी अपनेको पृथक् समझे। जिस प्रकार जलके मध्य कमल बिल्कुल पृथक् है उसी प्रकार गृहस्थीमें रहते हुए भी पृथक् रहना चाहिए। कितना भी पानी कमलके पत्तोंमें डाला जाए, झट अलग हो जाता है। स्वरूप तो सर्वदा अलग है। उसी प्रकारसे एक गृहस्थको ज्ञानयुक्त रहना ही धर्म बताया है। यह ज्ञान ही एक अमृत है। यदि इस ज्ञानरसका पान हो जाए तो जीवन सफल है। दिखाने का कोई काम नहीं है। जो करेगा वही प्राणी सुखी होगा।

ये जगत्की चीजें दिखनेमें सब मायारूप हैं। इनमें कोई सार की चीज नहीं है। इन्द्रजालवत् विनाशीक हैं। कोई सकल-सूरत वाला सदा रहे ऐसा यहाँ कोई नहीं है। इसके अतिरिक्त ये मोही जीव ऊपरसे चिकने चाकने भले लगते हैं, मुद्रा भी अच्छी है, ठीक लग रहे हैं। मगर भीतरमें आत्मा कैसी है? प्रत्येक संसारी जीवकी आत्मा कुछ न कुछ मलिन है। वे अपने आपसमें ही सब समझ सकते हैं। इन बाह्य पदार्थोंके देखनेसे कोई लाभ नहीं है। अपने ज्ञानस्वरूपमें रमो। यदि आपने अपने शुद्ध स्वरूपको समझ लिया तो सुखी हो जाओगे। जो ज्ञानमें रत होगा उसके चिंताएँ न रहेंगी। विषयोंकी भी चिंता न रहेंगी। वह ज्ञानी पुरुष अपने आपमें आनन्दमग्न हो जाएगा।

भैया! बाह्य पदार्थोंकी ओर ध्यान न दो, केवल ज्ञातादृष्टा मात्र रहो। कर्ममुक्त भगवान्की विनयभक्ति करनेसे आत्मदेव भगवान्की भक्ति आयगी। मोक्ष तो विनय करने से ही मिलता है। भगवान्की प्रार्थना ऐसे हो कि भगवान्के गुणोंका स्मरण करके अपने ज्ञानको संभालें तभी मुक्तिमार्ग प्राप्त कर सकते हैं। चारों पुरुषार्थोंकी भी चिंता ज्ञानी जीवको नहीं होती है। उसे जन्म और मुक्तिकी भी चिंता नहीं रहती है। यहाँ तो केवल अपने संभालने का काम है। अपनेमें विचार भाव न आना, अपनेमें किसी भी प्रकारके मलिन भाव न उत्पन्न हों, इसी प्रकारके व्यक्तिको ज्ञानी जीव कहते हैं। इसके फलमें वर्तमानमें भी सुख रहता है और भविष्यमें भी सुख रहता है ऐसा समझना चाहिये।

हेय और अहेय रूप कल्पना भी चिंता है। किसी भी वस्तुका विकल्प जिसे नहीं रहता है वह परमहंसी अवस्था है। परमहंसी क्या अवस्था है? पर मायने उत्कृष्ट, अहं मायने मैं अर्थात् ज्ञानी जिसकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था हो। ऐसा ही वह भगवान् है अथवा परमात्मा अन्तरात्मा व बहिरात्माका जिसे विशद बोध है वह परमहंस है। यदि ज्ञान है तो

जीवन सफल है, नहीं तो जीवन व्यर्थ है। इस कारण अपनेमें ज्ञान बढ़ानेकी कोशिश करो तो जीवन सफल हो जायेगा। सो भैया, ममताको हटाकर भीतरमें ज्ञान बनाओ और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

लाभेऽपि भूतिकीर्तीनां तत्त्यागेन विनाशम् न भवति।
प्रत्याख्यानमये ज्ञाने स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२३॥

कहते हैं कि सम्पत्ति और कीर्ति कितनी ही आ जाये तो भी शांति तो उनके त्याग बिना और ज्ञानस्वरूप आत्माकी परख बिना नहीं हो सकती है। शांति धनसे उत्पन्न नहीं होती। ख्याल बना रखा है, मोहमें ही पड़े हुए शांति मिलनेकी आशा करते हैं, यह निरा भ्रम है। शांति तो ज्ञानसे उपजती है। शांति ईंटोंसे नहीं, पत्थरोंसे नहीं, सोना-चांदीसे भी नहीं उपजती है। शांति तो केवल ज्ञानसे ही प्रकट होती है। यह ज्ञान, ज्ञान ही है, इसमें दूसरी चीज नहीं है। यह तो सबसेजुदा है ही। वह तो स्वयं त्यागरूप है। सो ज्ञाता दृष्टा तो त्यागसे ही बनेगा। यदि त्याग है तो शांति प्राप्त होती है। जैसे कोई जबरदस्तो आ जावे और जबरदस्ती करके धन छीन लेने आये तब यदि धनका ममत्व न रहे तो जब उससे निबटारा हो जाता है तो उसमें ही शांतिका स्वाद आता है यदि हृदयसे त्याग पैदा न हो तो कितना भी दुःख हो जाये, पर शांति अडिग रहेगी। शांति बाहरी पदार्थोंसे आती नहीं है।

इस जगत्मे जो आया है सो जायेगा। यदि केवल यही दृष्टि बनी रहे तो सुख है। तो यहाँ पर यह बताया जा रहा है कि यह जीव ख्याल बनाकर ही दुःखी होता है। चीज के आने-जानेका दुःख नहीं है। यदि इस जगत्के जीवके विवेक जगे हैं तो ठीक है। यह आत्मा धनके कमाने वाला नहीं है। उस धनके आनेका तो कारण कर्मका उदय है। और भैया, धन आ जानेसे ही कोई बड़प्पन नहीं है। किसीके पास धन ज्यादा इकटठा हो गया तो उससे कोई बड़प्पन नहीं है। यदि उदारता है, त्याग है, खोटे परिणाम नहीं हैं यही बड़प्पन है, यही सुख है।

धन होनेसे बड़प्पन नहीं है। बड़प्पन अपनी उदारतासे ही होता है। कितना भी लाभ हो जाये, कितनी भी कीर्ति हो जाये, पर बिना त्यागके शांति नहीं प्राप्त हो सकती है। अभी देखो ये सारे जगत्के प्राणी दुःखी नजर आ आते हैं। भिखारीको देखो वह भी दुःखी रहता है, एक लखपति करोड़पतिको देखो वह भी दुःखी रहता है। यही हालत सारे प्राणियोंकी रहती है जो बच्चा माँकी गोदमें रहता है, यदि माँ गोदीसे उतारकर

नीचे रख दे तो वह भी रोकर गोदमें भागता है वह समझता है कि अब मैं नीचे रख दिया गया इसीसे वह दुःखी होता है। इसी प्रकार जिनके लाखों करोड़ोंकी सम्पत्ति है वे भी अपना अपमान महसूस कर दुःखी हो रहे हैं। अहंकार सब जीवोंके पीछे लगा हुआ है। इस अहंकारसे सब जीव बरबाद हैं। अरे जगत्में जो कुछ होना है वह हो रहा है। जो कुछ होता है बाहरमें ही होता है, उससे तुम्हारा कोई भला बुरा सम्बन्ध नहीं है इसलिए जो कुछ होता है सब ठीक ही है, होने दो।

एक बादशाह और वजीर थे। दोनों जंगलमें चले जा रहे थे। बादशाह जो कुछ भी वजीरसे कहता तो वजीर यह ही कहता कि बहुत अच्छा हुआ। जो होता है वह अच्छा होता है। बादशाहके ६ अंगुलियाँ थीं। सबके ५ होती हैं। इसीसे वे छंगा कहलाते थे। जंगलमें बादशाहने वजीरसे पूछा कि मेरे ६ अंगुली हैं वह कैसे हैं? तो वजीरने कहा कि बहुत अच्छा है। अब बादशाहको गुस्सा आ गया, इसीलिए कि मैं तो छंगा हूँ फिर भी यह कहता है कि बहुत अच्छा हुआ गुस्सेमें आकर वजीरको बादशाहने उस जंगलके ही एककुवेंमें गिरा दिया। अब बादशाह अकेले रह गये। अकेले ही चले जा रहे थे। दूसरे देशमें हो रहा था नरमेध यज्ञ। उस यज्ञमें योग्य और सुन्दर नरकी बलि दी जाती थी। वहाँसे चार पंडे छूटे। वही बादशाह मिल गए। यह भी खूब सुन्दर ही थे इनको पकड़कर वे ले गये। एक जगह खूँटीमें लेजाकर बाँध दिया। पर यज्ञमें कम या ज्यादा अंग वालेकी बलि नहीं दी जाती थी इसलिए जब किसी पंडेने देखा कि इसके तो ६ अंगुली हैं, तब पंडे लोगोंने उसे डंडे मारकर भगा दिया। खुश होकर बादशाह चले आए मनमें सोचते कि वजीर अच्छा कहता था कि बहुत अच्छा हुआ, ६ अंगुली हैं। ६ अंगुली हैं, इसलिए मैं बच गया। अब बादशाह खुश होकर उस कुवेंके पास गया जहाँ कि वजीरको ढकेल दिया था। वजीरको बादशाहने कुवेंसे झट निकाल लिया। बादशाहने वजीरसे कहा कि तुम बड़ा अच्छा कहते थे। ६ अंगुलियाँ थी, इसलिए आज में बच गया, यही सोचकर मैंने तुमको निकाला है। अच्छा बतावो मैंने तुमको कुवेंमें ढकेल दिया था सो कैसा अच्छा हुआ? वजीरने कहा कि यह भी ठीक हुआ। कहा—कैसे? वजीर बोला कि यदि मैं भी साथमें होता तो मैं भी पकड़ा जाता। आप तो ६ अंगुली होनेके कारण बच जाते और मैं मर जाता।

भैया, ममता करनेमें, चिंता करनेमें, घबड़ाहट करनेमें क्या तत्त्व रखा है? वे तो बाहरी चीजें हैं। ज्ञान बनाओ और देखते रहो अपने आपके स्वरूपको, बस यही ठीक

है। क्या-क्या संकट इस जीव पर नहीं आते ? वर्तमानमें किसी संकटको बुरा संकट क्यों समझें ? इससे हजार गुना, लाख गुना, करोड़ गुना संकट सहना पड़े तो भी घबड़ाना नहीं चाहिए। कोई भी परेशानी हो, किसीभी प्रकारका संकट हो, पर संकटोंसे न घबड़ावो, यही ज्ञानका काम है। यदि अपने ज्ञानको सही न रखा तो खुदही दुःखी होगे। कोई दूसरा तुम्हारी एवजमें दुःखी नहीं होगा। सो चाहे कितनाभी लाभ हो, कितनीही सम्पदा आवे, कितना ही यश फैल जावे, पर यदि राग द्वेष नहीं मिटे तो शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। सो आत्माका जो यह ज्ञानस्वरूप है वह स्वरूपही स्वयं ज्ञानमय है। इसमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है। सो अपने स्वरूपको देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

मुमुक्षुर्यो बुभुक्षुश्चालम्बताम् हि शिवाशिवम्।
इच्छाहीनः स्वविश्रान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–२४॥

दो तरहके प्राणी होते हैं इस लोकमें। एक तो भोगकी इच्छा करने वाले और दूसरे मोक्षकी इच्छा करने वाले। दो तरहके प्राणी इस लोकमें मिलते हैं। सो जो भोगकी इच्छा करने वाले हैं वे सिर्फ सामान्यका आलंबन करने वाले हैं। कहते हैं भैया ! इच्छाएं जो आत्माके अन्दर हैं। किसीको मोक्षकी इच्छा लगे, किसीको भोगोंकी इच्छा लगे और चिंताएं जितनी होती हैं वे सब दुःखके लिये ही होती हैं। यदि ये इच्छाएं दूर हों तो अपनेको विश्राम मिलता है। जब तक किसी भी बातकी इच्छाएं रहती हैं तब तक दुःख होते हैं।

भैया ! यहीं देख लो कि खेतोंमें २० मन उर्द उपजे, घरमें आए। अभी तक था २७ का भाव, अब सुनते हैं कि २२ का भाव हो गया तो दुःखी हो गये। उर्द वहींके वहीं हैं, घरमें रखे हैं, पर ख्याल बना लिया कि १०० रु० का नुकसान हो गया। यह ख्यालही बनाकर दुःखी हो जाते हैं। अभी घरमें सोना चाँदीका गहना है, कोई बेचना नहीं है, घर में रखा है। अभीतक भाव १०० रु० का था, अब सवा सौ का हो गया, लो घर बैठेही ख्याल बनाकर प्रसन्न हो गये और जब सुना साढ़े बासठका हो गया तो वे दुःखी हो गये। परके समागमसे ही ख्याल बनाकर प्रसन्न हो जाते और परके समागमसे ही ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते हैं। इन बाह्य पदार्थोंसे जिनसे कोई फायदा नहीं है, उन्हींके पीछे दुःखी हुआ करते हैं, पर अन्तमें सारी चीजें छोड़कर चले जाते हैं। इन चीजोंसे लाभ तो होता नहीं है, टोटा ही टोटा इनमें बना रहता है। क्या है इन टोटे वाली चीजोंके पीछे पड़नेसे ? आखिर इन्हें अन्तमें छोड़ देनाही पड़ेगा। ऐसी अन्तरंगमें बुद्धि जागे तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। अन्तरंगमें यथार्थ ज्ञान जगाना चाहिये।

जब यथार्थ ज्ञान अन्तरंगमें जागेगा तभी शान्ति प्राप्त होगी, यदि अन्तरंगमें ज्ञान न जग सका, स्त्री पुत्रके पीछेही मोहमें पड़े रहे, कुटुम्ब, परिवारके पीछेही पड़े रहे तो इससे उपद्रव ही आवेंगे। इनमें गिरने पड़नेसे कोई हितकी बात नहीं मिलेगी। कहीं बड़ा लड़का गुजर गया, कहीं छोटा लड़का गुजर गया, वही सारी बातें हुआ करती हैं। इन सारी बातोंके होनेसे संकटही आते हैं, क्लेश ही आते हैं। संसारकी जो रीति है वह तुम्हारे लिये न्यारी नहीं होगी। किसीके लिये पद्धति नहीं बदल जायेगी। यह तो संसार है, पुण्य पाप का ठाठ है, जन्म मरणके चक्कर हैं, यह तो ऐसा होगा ही। अब बुद्धिमानीकी चीज तो यह है कि अपने ज्ञानके अनुसार विचार बनाओ। अपने माफिक दुनियाको मत निरखो। दुनिया जैसी है वैसी देखो। हम आप जैसा सोचते हैं जैसा विचार करते हैं वैसाही देखना चाहते हैं। बस इसीसे दुःख है, और कोई दुःख नहीं।

इस जीवकी जितनी इच्छाएं होती हैं, वे सब जीवके क्लेशके लिए ही होती हैं। धर्म में और क्या किया जाता है? चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, सभी ज्ञानी अपनेको सबसे पृथक् देखते हैं और अपनी इच्छाओंको नष्ट करनेका यत्न करते हैं। कहते हैं कि अपना लोटा ही छानो, कुआँ नहीं छनेगा सुखी होनेका उपाय केवल एक ही है कि जो जैसा है उसे वैसाही जानो। क्यों जी जो कुछ आप चाहें यदि वह मिल जाये तो क्या आप खुश रहेंगे? खुश कदापि नहीं रह सकते हो। मुझे कुछ नहीं चाहिए। ऐसी इच्छा हो तो यही सुख का उपाय है।

भैया! तुम्हारे अधीन कौनसी चीज है? अरे! कोई भी चीज तुम्हारे आधीन नहीं है। तुम्हारे आधीन तुम ही हो सकते हो। अपना ज्ञान जगाओ और तो सब बाकी असार हैं। शान्तिका उपाय तो केवल इच्छाओंका अभाव है। जैसे घरमें ४ बालक अमरूदके पीछे आपसमें लड़ने लगें। एकके हाथमें अमरूद है तो दूसरे उससे छीनते हैं, मारते हैं, पीटते हैं। अगर वह बालक अमरूदको फेंक दे तो वह परेशानियोंसे मुक्त हो जाये।

सब कुछ मिल जाये, घर-द्वार मिल जाये, गाय-भैंस सभी कुछ मिल जाये तो इससे ही सुख नहीं प्राप्त होता है। रोज यहाँ देखते हैं कि यहाँ कुछ रह नहीं जाता है, इन सबके कारणही जीवनमें संकट बने रहते हैं। यदि यह इच्छाएँ न हों तो संकट कभी न आवें। इच्छाओंके अभावसे ही संकट दूर होते हैं। विषयभी उसके होते हैं जिसके इच्छा हो। इन इच्छाओंके ही कारण विषय हो जाते हैं। यह सारा संसार पड़ा हुआ है। यहाँ पर कल्याण की कोई चीज न मिलेगी। कल्याणकी चीज तो केवल अपने आत्म-प्रदेशमें ही मिलेगी। इस

आत्मामें यथार्थ ज्ञान है, सब स्वतन्त्र वस्तुवें हैं, सब न्यारी-न्यारी हैं। किसीका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा विचार न बना तो शांति नहीं प्राप्त हो सकती है।

अभी धनिक वर्गोंको देख लो। लोगोंके देखनेमें वे चिकने चाकने बड़े भले लगते हैं, पर वे मोहमें रहकर दुःखी रहा करते हैं। यदि धनिक लोगोंकी आत्मा देखो तो खोखली ही हो गयी है। उन्हें सुख और आनन्द नहीं प्राप्त होता है। जिसने धनका विकल्प किया, घरके २-४ जीवोंमें ही विकल्प किया तो वह सदा दुःख ही पाता रहता है। सुख किसी दूसरेके द्वारा नहीं प्राप्त होगा। किसीकी आशा न करो। आशा तो केवल अपने प्रभुकी ही करो। उस प्रभुकी ही शरण जावो। वही तुम्हारी रक्षा करेगा। अन्य कोई तुम्हारी रक्षा न करेगा तुम्हारी शरणका वही ठाम है।

जिसके मोह नहीं है, जिसने सारे विकल्प त्यागकर अपने प्रभुके ऊपर ध्यान दिया है उसे कभी क्लेश नहीं प्राप्त होंगे। अरे मोह करनेसे कोई फायदा नहीं होगा। यदि मोह करना है तो अपने प्रभुसे करो, अपने ज्ञानस्वरूपसे करो। बाह्यसे मोह करना छोड़ दो। आत्मस्वरूपके मोहको मोह नहीं कहते, मोक्षमार्ग कहते हैं। विषयोंमें आसक्ति छोड़ दो तो अपने आप सुखी हो सकते हो।

देहादिकं पृथक् कृत्य ज्ञाने तिष्ठतिने केवले।
स्यानि भोगयशोवाञ्छां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२५॥

यह देह भी अपनी नहीं है और की तो बात ही क्या है? जब देह भी अपनी नहीं है तो फिर दूसरे कैसे होंगे? इस देहसे पृथक् अपनी इस आत्मा को समझो। अपने को केवल ज्ञानस्वरूप मानो। कुटुम्ब परिवार इत्यादिके मोहको छोड़ दो। २४ घंटे पड़े हैं। इन २४ घंटोंमें प्रायः सारा ही समय विकल्पोंमें लगा देते हो। २४ घंटोंमें से ५ मिनट का समय तो आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें लगावो, किसी भी अन्य बातोंका ख्याल न करो, अपने इस शरीर तकको भूल करके अपने आत्मस्वरूपका चिंतन करो, प्रभुभक्तिमें ही वह नियत समय बितावो तो शांति प्राप्त हो सकती है।

ज्ञानज्योति और शांति आत्मस्वरूपमें ही है। बस आत्मामें ज्ञानके बिना अन्य कुछ नहीं होता। केवल अपने आपका अनुभव हो तो आनन्द प्राप्त होगा। अपने ज्ञानस्वरूपके दर्शनसे ही सारी इच्छाएँ समाप्त हो सकती हैं। बाहरी पदार्थोंमें अपना उपयोग न लगावो। बाहरी पदार्थोंमें शांति नहीं है, आकुलताएँ ही मिलती हैं। हमें बाह्यपदार्थोंके प्राप्त क लेने पर ही खुशी नहीं माननी चाहिए। खुशी तो अपने आपके आत्मस्वरूपको देख

होनी चाहिए। अपने आत्मस्वरूपको देखो, मोह ममताको छोड़ो तभी तो शांति प्राप्त हो सकती है। इस धन वैभवके पीछे पड़नेसे कभी शांति नहीं मिलती है। इस धन वैभव में कुछ भी तो सार नहीं है। यदि धन-वैभवमें सार होता तो बड़े-बड़े महापुरुष ६ खण्ड की विभूतिको त्यागकर जंगलमें क्यों रहते ? परचीजोंकी मोह ममतामें कुछ नहीं है। बाहरी पदार्थोंकी मोह ममतामें पड़नेसे तो दुःख ही है। सो अपनी इस मोह ममताको त्यागकर अपने आपके स्वरूपको देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ

इदं ज्ञानं न मे ज्ञानं दर्शनं च न दर्शनम्।
चिन्तयालं न मेऽन्तर्वाक् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२६॥

हमारा और आपका स्वरूप आनन्दसे भरा हुआ है। जैसे पुद्गलके बारेमें पूछा जाये कि इस पुद्गलमें क्या चीज है ? तो कहा जा सकता है कि इसमें रूप है, रस है, गंध है और स्पर्श है। इसी तरह पूछा जाये कि आत्मामें क्या चीज है ? तो बहुत खोज कर लो खोज करने पर यही समझमें आयेगा कि आत्मामें ज्ञान है और आनन्द। या यों कह लो कि ज्ञान और आनन्दका ही नाम आत्मा है। वह आत्मा ज्ञान और आनन्दसे पृथक् नहीं है ज्ञानानन्द निराधार नहीं है। उसका आधार यह आत्मा है। हमारा और आपका स्वरूप आनन्दसे परिपूर्ण है। परन्तु आज स्थिति देख रहे हैं कि आनन्द नहीं नजर आता है।

जीवका स्वरूप जीवमें है, वह किसी द्रव्यसे मिला हुआ नहीं है। फिर यह मिला-जुला क्यों हो गया ? ऐसा जुड़ा हुआ क्यों बन गया ? इसका कारण यह है कि इस जीवके जाननेकी एक कला है और जो द्रव्योंमें नहीं पायी जाती है और विकारों रूप परिणमनकी योग्यता है। जिन कर्मोंसे सुख दुःख मिलते हैं वे कर्म भी अपने नहीं हैं। वे भी अपनेसे जुदा हैं, उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। पदार्थ जुदा हैं उनका परिणाम उनमें है। उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। फिर भी उनका कर्म अनित्य है, मिटने वाला है, असार है, मायारूप है। वे कर्म भी मेरे नहीं हैं। यह दुःख सुख जो मेरी परिणति है क्या वह मैं सुख दुःख हूँ ? मैं तो वह हूँ जो सदासे हूँ, सदा रहूंगा। मेरी भी वह चीज है जो सदासे है और सदा तक रहेगी जो आया है वह मिट जायेगा। वह मेरा कैसे हो सकता है ? मेरा तो वह है जो मेरे साथ सदासे है और सदा तक रहेगा।

अब और आगे बढ़िये। यह तो जान रहे हैं कि यह मेरा घर है, यह शरीर है, यह

चौकी है, यह हाल है, और और भी जानकारियाँ होती हैं, ये तो मेरी होंगी ना ? ये जानकारियाँ भी मेरी नहीं हैं। ये परिणतियाँ भी हो जाती हैं, ज्ञानावरणका क्षयोपशम अन्तरंग कारण है, सो कुछ ज्ञान होता है और साथमें राग-द्वेष लग रहे हैं। सो इन राग-द्वेषने तो इस ज्ञानकी पद्धतिका यंत्र बदल लिया है। जिस प्रसंगका छोटा मोटा ज्ञान कर रहे हैं यह छोटा मोटा ज्ञान भी, छोटा मोटा जानन भी मेरा नहीं है। मेरी तो वह वस्तु है जो मेरे साथ अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगी। जो मेरा सहज है वह मेरा है। सहज कहते हैं 'सह जायते इति सहजम्'। जो साथ उत्पन्न हो वही सहज है। मैं कबसे हूँ ? मैं अनादिसे हूँ। मेरेमें जो अनादिसे है वही मेरा है। छुटपुट ज्ञान आदि मेरे नहीं हैं।

भैया, इस छुटपुट ज्ञानका भी जीवको अभिमान हो जाता है। इसका कितना अहंकार होता है ? इस पर बड़े-बड़े सामाजिक कलह हो जाते हैं। घरमें अनबन हो जाती है। कोई पूछे भाई यह बहुत बड़ा झगड़ा क्यों हो गया ? किस चीजका विवाद था कि इतना बड़ा झगड़ा हो गया ? तो वह कहेगा कि झगड़ा खड़े हो जानेकी चीज कुछ नहीं थी। बात बिल्कुल थोड़ी सी थी। वह बताई नहीं जा सकती है। बताओ कैसे झगड़ा हो गया ? इसी प्रकार परतत्त्वमें आत्मबुद्धिके कारण संसार बनगया। ये छोटी जानकारियाँ भी कुमति के संगसे हमारे आपके वैभवमें बाधक बन गयी हैं। यह ज्ञान भी मेरा नहीं है।

इस समझकी प्रतिभारूप शब्दावली जो समझके साथ-साथ अन्तरंगमें लगी हुई है वह भी मेरी नहीं है। जो कुछ भी भीतरमें बोलना होता है ऐसे अन्तरंगकी वाणी भी मेरी नहीं है। इस अवस्थामें हम और आपके जो ज्ञान जगता है वह सब ज्ञान कुछ न कुछ शब्दों की वाणीको लेकर जगता है। जिससे कि शब्दाद्वैतवादियोंने एक दर्शन ही निकाल दिया कि सारा जगत् शब्दमय है क्योंकि कुछ भी जानो, जानने के साथ-साथ कुछ न कुछ शब्द अन्तरंगोंमें आ खड़े होते हैं। वह अन्तरंगशब्द भी, वह अन्तरंग वाणी भी मेरी नहीं है, फिर और किसीका अहंकार ही क्यों करते हैं ?

भैया, यह सब अपने ज्ञानप्रकाशकी बात है, अपने भलेकी बात है। जो भीतरमें ऐसा ज्ञानप्रकाश कर ले, कोई जाने तो जाने, न जाने तो न जाने, किसीको बताना नहीं, किसीको दिखाना नहीं, अन्तरंगमें ऐसा भेद ज्ञाका प्रकाश है तो यह ज्ञानस्वरूप स्वयं सुखी हो जायेगा। सोई कहते हैं कि यह ज्ञान भी मेरा नहीं, यह दर्शन भी मेरा नहीं। ये ऐसे वचन भी मेरे नहीं। मेरे आपके इस ज्ञानकी आधारभूत जो शक्ति है, चैतन्यमात्र है, ऐसा

चैतन्यमात्र अपनेको देखो और अपनेमें अपने आप सुखी होओ।

यशस्वो वैभवी वा स्यां शान्तिस्तापि नो यतः।
ईंधनं तदशान्त्यग्रेः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२७॥

मैं महान् यश वाला भी हो जाऊँ, महान् वैभव वाला भी हो जाऊँ पर उस यशसे और वैभवसे शांति नहीं मिलतो है। शान्तिका सम्बन्ध तो शुद्ध ज्ञानसे है। आप देख लो राष्ट्रोंमें जिनकी विशेषता है। भैया, इष्टके विरुद्ध सम्भावना जल्दी मनके घरमें आ जाती है। जैसे घरमें कोई प्रिय बीमार हो तो उसके प्रति झट ख्याल आ जाते हैं। अरे यह मर तो नहीं जायगा। इस प्रकार सोचकर दुःखी होते हैं। पर यदि दूसरे घरमें कोई बीमार है तो जाकर कहते हैं कि अरे घबड़ावो नहीं, अभी ठीक चल रहा है। अपना यदि कोई बीमार हो गया तो मर जायेगा, यह हमें छोड़ जायेगा क्या? ऐसा सोचकर दुःखी होते हैं।

भैया, बाहरी चीजोंसे आनन्द नहीं आता, शांति नहीं मिलती। यह बाह्यविषय तो अशान्तिरूपी अग्निका ईंधन हैं। यश क्या है? अशान्तिरूपी अग्निका ईंधन है। जैसे ईंधन जलते रहनेसे अग्नि शान्त नहीं होती है। अग्नि बढ़ती ही रहती है इसी प्रकार यश होते रहनेसे यशकी दृष्टिमें अशान्ति बढ़ जाती है, अशान्ति कम नहीं होती है। जैसे अभी तक तो हमें दस बीस लोग जानते थे, अब हजारों लाखों जानने लगे। इससे कहीं एक समय ऐसा आयेगा कि इस यशके ही पीछे मर जावेंगे।

इस यशके पीछे हजारों रुपया पैदा किये। जब हजारों हो गये तो लाखोंकी फिक्र बढ़ी। और जब लाखों हो गये तो सोचा अभी और होने चाहियें। करोड़ोंकी फिक्र बढ़ी। कभी भी इस धनसे शान्ति न मिलेगी। जब करोड़ हो गये तो अरबकी चिंता बढ़ेगी। क्या अरब हो जानेसे शांति हो जायेगी। शांति कदापि न मिलेगी। यदि शांति मिल जाती तो बतलावो। यश और वैभव तो अशांतिरूपी अग्निके ईंधन हैं। सो इन दृष्टियोंको छोड़ो और भगवानकी भक्तिका सहारा लो। अपने आपके आत्मध्यानसे पूरा पड़ेगा। अपना आत्मस्वरूप ही हितरूप है।

आर्तकारणमाशैव कमाशासेऽत्र को मम।
दूरमास्तां न मेऽर्थो हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२८॥

इस लोकके सब जीव केवल एक ही चीज चाहते हैं कि दुःख न हो। व्यवहारमें कितने ही कर्म किए जायें, कुछ भी चाहा जाये पर सबके मूलमें वही बात है कि दुःख न

हों। सबका एक ही ध्यान है कि दुःख न हो। जो विषयोंमें लगते हैं उनका भी यही विचार है कि दुःख न हों। विषयोंकी इच्छासे जो वेदना उत्पन्न होती है उसको मिटानेका भाव रहता है। वह वेदना कैसे मिटे ? तो सारे लौकिक जनोंको यह उपाय सूझता है कि विषय मिलें तो उसकी वेदना मिट जायेगी। सो विषयोंमें लगते हैं वे अपना दुःख मिटाने के लिए। और जो ज्ञानीजन हैं, जिनका यथार्थज्ञान विशद रहता है कि विषयोंसे तृप्ति नहीं होती, विषयोंसे पूरा न पड़ेगा। ऐसा जिनके स्पष्ट ज्ञान होता है वे विषयोंका त्याग कर देते हैं और अपने अन्तरज्ञानमें प्रवेश करनेका यत्न करते हैं कि दुःख न हों।

भैया, जीवोंमें यावन्मात्र परिणमन हैं, प्रयत्न हैं, वे सब एक ही ध्येयके लिए है कि दुःख न हों। दुःखोंका कारण है क्या ? दुःखोंका कारण आशा ही है बच्चा दुःखी होता है तो यह निर्णय निकालो कि इसको किसी चीजकी आशा लग गयी, इसलिए दुःखी हो रहा है। जवान दुःखी हों, बूढ़े दुःखी हों उनका भी यह निदान है कि इनको किसी चीजकी आशा लग गयी है, इसलिए दुःखी हैं, तो जिन पदार्थोंकी आशा लग गयी वह पदार्थ तो अपने आपमें अपनी जगह पर हैं, उन पदार्थोंकी आशा करनेसे वे पदार्थ आशावानकी ओर झुकते नहीं हैं। वे तो टससे मस नहीं होते हैं। कुछ उसके लिए कोई हाव-भावकी प्रवृत्ति नहीं करते हैं। ये पदार्थ तो अपने स्वरूपमें है। ये आशाएँ व्यर्थकी जा रही हैं। इन आशावोंका फल यह होगा कि दुःखी रहना पड़ेगा।

भैया, लोकमें दो प्रकारके रूपोंसे आशाएँ की जाती हैं—(१) चेतन (२) अचेतन। धन-वैभव, मकान, महल, सोना, चाँदी ये तो सब अचेतन हैं। इनकी आशा रखते हैं। ये बिचारे जड़ पदार्थ मुझको कुछ खुशी नहीं दिला सकते। वे तो स्वयं जड़ हैं। उनको उठाया जा सकता है, भेदा जा सकता है, फैंका जा सकता है, पर उनमें स्वयं तो कुछ दम नहीं है। एक तो वे ऐसा अलग रहते हैं कि अब भी सबको अलग लग रहे हैं, ऐसे उन जड़ पदार्थोंकी कीमत लोग बना बैठे हैं, क्योंकि प्रायः सब लोग उनमें लगे बैठे हैं। केवल उनकी ओरसे देखो तो उनकी क्या कुछ कीमत नहीं ? जैसे बाजारमें भाजी न मिले, भाजी का टोटा पड़ जाये तो सड़ी भाजी भी अधिक मूल्यसे बिकने लगती है। सड़ी भाजी और अच्छी भाजीमें फिर कोई अन्तर नहीं रह जाता है। चाहने वाले लोग उस सड़ी भाजीपर ही टूट पड़ते हैं। वह सड़ी चीज भी ऊँचे भावसे बिकतीहै तो चीजका कुछभा ८ नहीं होता, भाव तो चेतन में है, चीजमें कुछ भाव नहीं है।

वस्तु स्वयं बनती और मिटती हैं तथा रहती हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपकी सीमा

में है। अपने ही सत्त्वमें है। अपने आपमें ही उनकी परिणति बनी रहती है और आदिसे अन्त तक वे अपनेमें रहते हैं। खोटे बने तो अपनेमें और भले बने तो अपनेमें। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे बाहर नहीं होता। तब फिर कौन पदार्थ किसके हो जायेंगे ? दुःख मिटाने का उपाय मुफ्त है। सस्ता है, कुछ धन नहीं लगता। केवल ज्ञानदृष्टिकी बात है। कितने ही संकट हों, सारे संकट ज्ञानके ही जगानेसे समाप्त हो जावेंगे। भगवान रामचन्द्रजी के पूर्वजोंमें से एक वज्रभानुकी कहानी है। वज्रभानु अपनी स्त्रीमें बहुत आसक्त था। एक बार वज्रभानुका साला उदयसुन्दर वज्रभानुकी स्त्रीको लिवाने गया। वज्रभानु भी स्त्रीके पीछे पीछे चल दिया। मार्गमें शान्तमुद्रामें बैठे हुए एक साधु महाराजको देखा। देखते ही ज्ञान दृष्टि जगी और मोहके सारे संकट उसके मिट गये।

भैया! क्या संकट है ? कितने संकट हैं ? ये सब ख्यालके संकट हैं। ख्याल मिटे, ज्ञानदृष्टि जगे तो सारे संकट समाप्त होंगे। इन संकटोंमें कुछ दम नहीं है। इन जीवोंने तो केवल ख्याल बना लिया है और सारे संकट खड़े कर लिए हैं। ये तो धन वाले हैं, ये तो इज्जत वाले हैं, ये तो पंडितजी हैं, ये तो इतने रुपये कमाते हैं, हम गरीब हैं—ऐसे ख्याल बनाकर वे दुःखी हो जाते हैं। तो इन कल्पनाओंके ही कारण तो ये सारे संकट आ गये। सभी मोही जीव अपने आपमें कुछ न कुछ अपनेको बिगाड़ करके, ख्याल करके उथल पुथल मचा रहे हैं। इस समय नहीं फिर सही, अपना ज्ञान जगाओ, अपने वातावरणको शुद्ध बनाओ, तभी शान्ति मिल सकेगी। बाहरकी रूपरेखा कुछ न कुछ बना लेनेसे भीतरकी बातों में क्या फर्क आ जाता है ? भीतरका फर्क तो फर्क मिटानेसे ही मिटेगा, फर्क मिटानेके उपायसे ही फर्क मिटेगा। सारे संकट ज्ञानसे ही मिटेंगे। परवस्तुके भेदज्ञानसे ही संकट मिटेंगे।

भैया! प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। यदि अपना स्वतन्त्रस्वरूप समझमें आ गया तो मोह मिट गया और जहाँ मोह मिट गया तहाँ शान्ति हो गयी। बतलाओ, कौन जीव अपना है और कौन पराया ? सब जीव अपने हैं और सबके सब पराये हैं। स्वरूप देखो तो अपने समान है और यदि लक्षण देखा जाय, सत्य देखा जाय तो सब पराये हैं, सब पर हैं। एक मोहका अन्धकार ऐसा इस जीवके छा जाता है कि इन सब प्रभुस्वरूप जीवोंकी एक छंटनी कर ली जाती है। यह मेरा है, यह पराया है आदि। यह ज्ञानका फल है, कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है, सब पराये हैं, सब मेरे उपयोगसे पृथक् हैं, ऐसा विश्वास करके मैं अपनेमें अपने लिये अपने आप स्वयं सुखी हो सकता हूं, आनन्दमय हो सकता हूँ।

बहिर्बहिर्भ्रमो व्यर्थो ज्ञानं तत्त्वमिदं स्फुटम् ।
इतोऽन्यन्मे सहायं न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–२९॥

यह जीव जा रहा है, पैरोंसे जा रहा है क्या ? इस जीवके पैर ही नहीं हैं। पैरोंसे नहीं जा रहा है। यह उपयोगसे जा रहा है, बुद्धि द्वारा जा रहा है। कहाँ जा रहा है ? कहाँ घूम रहा है ? तो बाहरही बाहर घूम रहा है। बाहर देखो तो बढ़िया बगीचा, बढ़िया मैदान, सुहावने दृश्य सब कुछ बाहरमें नजर आ रहे हैं। पर यह अन्तरंगमें बसा हुआ स्वरूप कैसा है, यह नहीं नजर आ रहे हैं। उपयोग बाहर ही बाहर घूम रहा है। उपयोगका बाहरमें घूमना व्यर्थ है अर्थात् यह आत्मकल्याणका साधन नहीं है। यह तो अशांतिको ही बढ़ाता है।

जैसे कोई रोटी भाजी खाता था वह अच्छे ग्रामके निकट पहुँचता गया तो दाल रोटी खाने लगा। अब वे रोटा विरस लगने लगे। शहरमें पहुँच गया, मिठाइयोंके भोजनसे भेंट हो गयी तो रोटी दालभी फीकी लगने लगी और भी बढ़ते चलें जावो तो केवल भोजन की ही बात नहीं, धन-वैभव चाहिये, यश चाहिये। अभी २० हैं, फिर ५० चाहिएं। फिर १०० चाहिएं, फिर हजार चाहिएं। अब भी संतोष नहीं है, लाख चाहिए। इस प्रकारसे बाह्य दृष्टिसे कभी संतोष न हो सकेगा। अभी नाम चलता है, कोशिश यह करते हैं कि कई पीढ़ियों तक नाम चले। इस तरहसे भी संतोष नहीं होता है। जैसे सब चेतन हैं वैसे यह भी चेतन है। इसका नाम कहीं खुदा है क्या ? जिस नामके द्वारा इन सब जीवोंमें छंटनी कर लेते हैं वह नाम तो शक्ल सूरतका है। आत्मपदार्थका कोई नाम नहीं है।

किसी भी पदार्थका कोई नाम नहीं है। ये जितने भी नाम हैं सब तारीफोंके नाम हैं। अब आप कहेंगे कि चौकी तो नाम है। अरे चौकी नाम क्या ? यह तो उसकी तारीफ है कि चार कोनों वाली। कोई कहे कि यह घड़ा तो नाम है, अरे घड़ा भी नाम नहीं है। यह भी एक तारीफ है जो घड़ा जाय वह घड़ा है। यह है उसका अर्थ। तो यह भी विशेषण ही हैं। व्याकरणमें कृदन्तका प्रकरण आता है उसमें उणादि प्रकरण है कि भीतर की धातु कुछ नजर आवे। मान लें और गड़बड़ कुछ भी प्रत्यय लगे तो शुद्ध अर्थ निकाल लें। वह भी विशेषणमें ही निकाला गया जो कि नाम नहीं है। ऐसे पदार्थोंका नाम बनवाये जाना, नाम मानते जाना, यही तो अंधकार है।

हम सुखी कैसे रह सकते हैं। हमारे भीतरमें तो सारा विकार ही, अंधकार ही भरा है। रात-दिन प्रवृत्ति तो बाहर ही बाहर जा रही है। बाहरमें कुछ नहीं, पर जोरसे भगे

जा रहे हैं। यह जो बाह्यका घूमना है वह व्यर्थका है। यह मैं स्वयं आनन्दमय ज्ञानतत्त्व हूँ। मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ। मेरेमें कोई लिंग भी नहीं है। यह मेरेको बताने वाला जो शब्द 'मैं' है उसमें लिंग नहीं है। चाहे कोई स्त्री कहे, चाहे कोई पुरुष कहे, सभी अपने को 'मैं' कहते हैं। जैसे मैं जाता हूँ या मैं जाती हूँ। हिन्दीमें क्रिया ही बदली, कर्ता नहीं बदला। इंगलिशमें देख लो, कहेंगे कि 'आई गो' तो किसी क्या कहेंगी ? 'आई गो' ही तो कहेगी। इसमें लिंगका अन्तर कहीं भी कुछ नहीं है। अरे यह आत्मा तो एक पदार्थ है। उसमें लिंगोंकी कोई बात नहीं और आकार भी कोई नहीं। यह तो मात्र ज्ञानप्रकाश ही है।

भैया, इस आत्माका क्या आकार है ? कुछ भी तो आकार नहीं है। अपने ही स्वरूपमें अपनेमें अपनेका प्रकाश होगा। चींटीके शरीरमें है तो ज्ञानप्रकाश प्रदेशरूपमें सीमित हो गया पुरुषके रूपमें है तो उसके उतने विस्तारके आत्मप्रदेशमें ज्ञान फैल गया स्वयं किस आकारमें है यह जीव ? कैसे बतलाया जाये ? इस जीवका अनुभव भावोंसे होता है, इस पिंडके रूपसे, क्षेत्रके रूपसे, कालके रूपसे जीवको ज्ञानका अनुभव नहीं होता है। पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक है। जैसे यह घड़ी है तो यह एक पिंड हो गयी। जिसे हम पकड़ते हैं, धरते हैं, देखते हैं, और जितना ही अपनेको यह घेरे है, औकोपाई किए उतना ही क्षेत्र हो गया, जितना लम्बा-चौड़ा वगैरा क्षेत्र है, इसमें जो रूप रंग है, नई पुरानी है इत्यादि वह काल हो गया और इसमें जो शक्ति है वह इसका भाव हो गया। इसी तरह जीवोंमें द्रव्य हुआ एक जीवपिंड, क्षेत्र हुए उसके प्रदेश, उसका विस्तार, काल हुई उसकी जो भी परिणति है और भाव हुए उसके गुण। अनादि अनन्त स्वतःसिद्ध सनातन अहेतुक सहज जो शक्ति है वह उसका अभेद भाव हुआ। हम जब अपने ज्ञान-स्वरूपको देखते हैं, जानते हैं तो ज्ञानको ज्ञानरूपमें जानते हैं। ऐसा जब ज्ञान और ज्ञेय का अभेद होता है तब अपने आपका अनुभव होता है।

इस ज्ञानभावको छोड़कर जब हम यह कहते हैं कि जीव कितना लम्बा चौड़ा है ? यह वृक्ष कितना लम्बा चौड़ा है ? यहाँ फैला, वहाँ फैला। अपने आपको देख कि मैं कितना लम्बा चौड़ा हूं ? यह जीव कितना लम्बा चौड़ा है ? अंगूठेसे सिर तक नापा साढ़े ५ फिट लम्बा, ढाई फिट चौड़। अरे यह किसकी लम्बाई-चौड़ाई पर ही दृष्टि है। इतने वर्ग हो गया, इतने घन क्षेत्र हो गया, प्रदेश देख लिया, हिसाब हो गया, इससे इस जीवके स्वरूप का अनुभव न होगा। यदि कालको मुख्यतासे देखोगे कि यह अमुक कार्य

कर रहा है, यह घमंड कर रहा है, यह शांत बैठा है, यह कषाय कर रहा है, यह आग बबूला हो गया इत्यादि तो इस कालकी दृष्टिमें भी कुछ लाभ नहीं होगा। खूब परिणतियाँ होती जाती हैं, पर उनकी दृष्टिसे लाभ न होगा।

भैया, द्रव्य, क्षेत्र, काल ये तीन जाननेके लिए तो हैं, पर अनुभवके लिए, ध्येय बनानेके लिए ये विषय नहीं हैं। ध्येय बनानेके लिए भाव है, चैतन्य प्रतिभास, दर्शन, शक्ति, प्रकाश, ज्योति अर्थात् जानने वाली ज्योति, स्वरूप ज्योति। सो जब ज्योतिके द्वारा ज्योति ज्योतित रहती है उस समय ही जीवका अनुभव है। यह ज्ञानतत्त्व है। ज्ञानदृष्टि वालोंको यह बिल्कुल स्पष्ट है इसकी दृष्टि, इसका आलम्बन, इसकी उपासना ही इसके लिए सहाय है, और कुछ भी इसके लिए सहाय नहीं है। यहाँ किसका भरोसा रखते हो? मरनेके बाद भारत छोड़कर फिर और किसी अन्य साम्यवादी देशमें पैदा हो गये तो उस जीवके लिए यहाँका क्या कुछ रहा? उल्टा यह इस देशके विरुद्ध भाव कर लेना।

भैया, लोकव्यवस्थाके लिए संचादिक तो ठीक है, पर व्यवस्था तक ही हम रहें। अपने परमार्थभूत ज्ञानस्वरूपको न जान सके तो हमें शांति नहीं हो सकती है। ये बाहरी समागम तो सब अशांतिके कारण हैं, क्योंकि ये भिन्न हैं व विनाशीक हैं। अभिन्न व अविनाशी तो ज्ञानतत्त्व है। सो इस ज्ञानतत्त्वके अतिरिक्त और कोई सहाय नहीं है। केवल अपने आपका आलम्बन ही अपना सहाय है, शरण है। बाहरमें शरण ढूंढ़ना सब व्यर्थ है। सब पदार्थोंके पास शरणके लिए घुंच जावो, हर सभी जगह ठोकर ही मिलेगी, धक्का ही मिलेगा, कहीं भी शरण नहीं मिलेगी। शांति कहीं न मिलेगी। पुत्र अगर सपूत हो गया तो उससे भी धक्का लगता है और अगर कपूत हो गया तो उससे भी धक्का लगता है,। पुत्र अगर सपूत हो गया तो यही सोचोगे कि इसे किस प्रकार अच्छी तरहसे रखें। उसके ही पीछे मोहमें रहकर कमानेका श्रम करोगे व सदा आकुल रहोगे। दूसरों के लगावके विषयसे ज्यादा दुःख पहुँचते हैं। इसीलिए दूसरोंकी आशा मत करो। आशा करो तो केवल अपने स्वरूपकी ही करो। आशा केवल अपने प्रभुकी करो। सो अब आशावोंको त्यागकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

मूढ़ोऽन्यममृतं मत्वा भ्रमेन्मे त्विह निश्चयः।
ह्यैकत्वममृतं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३०॥

लोग कहते हैं कि अमृत पी लो तो अमर हो जाओगे। अमृतके पी लेनेसे जीव अमर हो जाता है, लोग ऐसा कहते हैं। तुम यह तो बतलाओ कि वह अमृत क्या है? कोई

पानी सा अमृत है या लड्डू है ? आखिर अमृत क्या चीज है ? कैसा होता है ? अमृत कोई रखवाली चीज है या कोई ठोस पदार्थ है ? वह अमृत क्या होता है ? जरा ध्यान लगाकर कुछ कल्पना तो करो कि वह अमृत क्या मिलेगा ? कौनसी चीज अमृत हो सकती है ? ऐसा कौनसा पदार्थ है जिसके पी लेनेसे मृत्यु न हो ? ऐसा सम्भव है क्या ? कुछ सम्भव नहीं। मोही पुरुष अमृतकेबारेमें कुछ भी कल्पनाएँ कर लेते हैं और इस लोकमें उस अमृतके लिए घूमते रहते हैं अथवा किसी भी चीजको अमृत मानकर उसका सेवन करते हैं और जन्म मरणकी परम्परा बढ़ाते हैं।

अमृतका निश्चय तो ज्ञानी जीवको है। वह सोचता है कि आत्माका जो एकत्वस्वरूप है, चैतन्यलक्षण है वही अमृत है। उसकी ही दृष्टि हो तो अमरत्व है। अब देखो आजकल चीन भारतके आक्रमणका वातावरण चल रहा है। जब भी कोई बात आक्रमण के प्रति आती है तो दिल काँप जाता है, क्योंकि देह तक ही दृष्टि डाली है। इतना ही मैं हूँ, इतना ही केवल सोच रखा है। यह देह मिट जाए तो सब मिट जाए। इस देहमें मोह होनेसे ही मृत्युकी बात आते ही अपना दिल काँप जाता है। सो अपने स्वरूपकी दृष्टि कि मैं तो एक चैतन्यपदार्थ हूँ। मेरा तो किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। मैं तो सबके स्वरूपसे न्यारा हूँ, अविनाशी हूँ। मेरा तो नाश ही नहीं है। मान लो कि यदि मैं यहाँ न रहा, अन्यत्र कहीं चला गया तो यह मैं पूरा हूँ। चाहे यहाँ होऊँ चाहे दूसरी जगह होऊं।

भैया, साहस बना लो, यहांके बाह्यपदार्थोंसे मुंह मोड़ना होगा। धन वैभवमें अपना मन लगाना और सत्य अमृतका पान करना—ये दोनों बात एक साथ नहीं हो सकती हैं। या तो मोह बना लो, दुःखी होवो, घबड़ा लो या मोह छोड़कर अपने आपके स्वरूपको देखो। जो पंथ चाहो चल लो। लोग मर जानेका इतना दुःख नहीं मानते जितना परचीजोंके छूट जानेसे कल्पनाएँ बना लेनेसे दुःखी हो जाते हैं। सो दुःखी ही क्यों होवें अमृत पी लें और अमर हो जावें, पर अमृत कोई अलग चीज ही नहीं है। अमृत तो वह ज्ञान स्वरूप है जो मरे नहीं, जिसका विनाश न हो, जिसका वियोग न हो उसका नाम अमृत है।

वह अमृत है ज्ञानस्वरूप। सो जब हम यह निर्णय कर लें कि मैं तो अविनाशी हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूँ, सदा इसीमें तन्मय हूं ऐसा विश्वास कर लो तो कुछ भी भय नहीं रहता है। भय हो ना तो संसारी और लौकिक जनोंका काम है। जो योगी पुरुष हैं, ज्ञानी पुरुष हैं, उसको भय कभी होता ही नहीं है, क्योंकि उसको मोह नहीं है।

जिसके मोह होता है वही डरे। जैसे जिसके पास सम्पत्ति है, धन है, मकान इत्यादि हैं और उनमें ममता है तो उनको डर रहता है और जो ममतारहित हैं या फक्कड़ हैं जिसके पास कुछ नहीं है वह नहीं डरता है उसके डरनेका कोई कारण ही नहीं है।

गुरुजी सुनाते थे कि एक शिष्य गुरु थे। उनको कहीं सोनेकी ईंट मिल गयी। गुरुजी आगे चलते जाते और शिष्य पीछे-पीछे चला। शिष्य अपने सिर पर वह सोनेकी ईंट रखे था। जहाँ जङ्गल आवे, गुरु शिष्यसे कहें कि जरा संभलकर चलना। चलतेमें पैरोंकी ज्यादा आवाज न हो, पत्तियों पर पैर रखकर नहीं चलना। इस प्रकारसे वह गुरु डरता जाता था और शिष्य को परेशान करता जाता था। शिष्यने सोचा इस विडम्बनासे हम कैसे छूटें ? हमें तो यह ईंट लादनी पड़ती है, हमी परेशान होते हैं। सो एक बार मार्गमें शिष्यने धीरेसे उस ईंटको कुवेंमें पटक दिया। आगे जङ्गल मिला तो गुरु कहता, बच्चा धीरे धीरे आना, यहाँ डर है। तो शिष्य बोला—महाराज ! डरको तो मैंने कुवेंमें पटक दिया। तुम अब खूब आरामसे चलो। तो डर किसमें है ? इसलिए मोह ममतामें ही डर होता है।

मोह ममतासे ही डर लगता है। यदि मोह न हो तो किसी प्रकारका डर नहीं। शरीरका मोह है कि हाय हम मर न जायें। तो यहाँ पर डर लग गया, क्योंकि उसके मरनेका भय लग गया और यदि यह विचार बनें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, मैं कभी असत् हो ही नहीं सकता हूँ तो फिर अपने शुद्धस्वरूप पर दृष्टि होनेके कारण सारा डर खत्म हो गया, अमर हो गया। मरनेका फिर भय ही नहीं रहा। ऐसा जो हो गया वही अमर कहलायेगा। किसी भी कल्पनागत बाहरी चीजमें अमृत नहीं मिल सकता, पर निश्चय ही अपना जो ज्ञानस्वरूप है वही अमृततत्त्व है सो उस अपने अमृततत्त्वको पीकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

रागद्वेषपरित्यागे कर्म मे किं करिष्यति।
त्यागो हि केवलं ज्ञानं, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३१॥

इस लोकमें देख रहे हो ना, कोई किसी प्रकार दुःखी है, कोई किसी प्रकार दुःखी है। दुःखका कारण क्या है ? निमित्त कारण है कर्मोदयका उदय। ये कर्म ही नाना प्रकार की अवस्थायें जीवकी बनाते हैं। निमित्तदृष्टिसे यह कहा जा रहा है कि कर्मने जीवको पशु बना दिया, पक्षी बना दिया, कीड़े मकौड़े बना दिया, मनुष्य बना दिया। जीवजो रागद्वेष

करते हैं उनका निमित्त पाकर कर्म बन जाते हैं और उन कर्मोंके उदयसे दुःख बन जाते हैं। यदि रागद्वेष न हों तो कर्म नहीं बन सकते हैं, दुःख नहीं हो सकते हैं।

कोई अपना रागद्वेष मिटा ले तो कर्म उसका क्या करेंगे ? ये रागद्वेष ही उन प्राणियोंके कष्टके कारण हो जाते हैं। रागके मायने प्रेम सुहाना। ये जब बाह्य चीजें सुहावनी लगीं तभी तो अपना उनसे कुछ भला माना। इन बाह्योंमें पड़नेका कारण है मोह। मोह किया तो राग हो गया। भीतरमें राग न हो, मोह न हो तो फिर रागद्वेष कब तक होंगे ? यदि रागद्वेषको त्याग दो तो कर्म फिर क्या करेंगे ? कैसे त्याग करें राग द्वेषोंका ? यह राग द्वेषोंका त्याग है ज्ञान, जो स्वयं त्याग स्वरूप है और त्याग क्या कहलाता है ?

देखो कोई किसीकी चीज लिए है और भ्रम ऐसा हो जाय कि यह चीज मेरी ही है तो भ्रममें ही वह निःशंक होकर उस अपनी मानी हुई चीज पर टूट पड़ता है। और अगर किसी प्रकारका चिह्न देखकर यह ज्ञान हो जाय कि यह मेरी नहीं है, यह तो दूसरेकी है तो उसका भ्रम छूट जायगा। ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस वस्तुसे उसका मोह छट जायगा, ऐसा ज्ञान होनेका नाम ही आन्तरिक त्याग है। भीतरमें त्यागकी बात हो, बाहरमें चीजों का त्याग हो जाय, इतना ही नहीं, इससे आगे और कदम बढ़े कि उसका विकल्प भी न हो तो वही त्याग कहलायेगा।

त्याग वह नहीं कहलायेगा जिसमें किसी प्रकारका विकल्प बना रहे। कोई खानेकी चीज छोड़ी और उसके एवजमें अन्य कोई खाने पीनेकी चीजका भरोसा बना रहे तो वह त्याग नहीं है। वास्तविक त्याग तो वह है कि उस चीजके बारेमें कल्पनाएँ ही न उठें और न उसकी एवजका ख्याल बनावें। ऐसा त्याग तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। शुद्ध ज्ञानमें किसी तरहका विकल्प नहीं होता है। वह शुद्ध ज्ञान स्वयं त्याग है और ऐसा त्याग स्वयंमें है, क्योंकि मेरा स्वरूप तो ज्ञान ही ज्ञान है। जीवका और क्या स्वरूप है ? यह जीव ऐसा विलक्षण पदार्थ है कि वह सर्वत्र ज्ञानसे तन्मय होता है। इसको कहते हैं कि जैसे नमककी डली है उस डलीमें प्रत्येक जगह खारा ही खारा स्वाद है, नमकका कोई भी भाग जीभ पर रख लो तो खारा, किसी भी तरहसे खावो तो खारा। नमकमें सारा खारापन ही रहता है। इसी तरह इस आत्मामें सर्वत्र ज्ञानकी वृत्ति है।

यदि नमकसे नमककी क्षारता भंग हो जाय तो नमक कैसा ? उसी प्रकार आत्मासे ज्ञान भंग हो जाय तो फिर आत्मा कैसी ? आत्मा तो एक ज्ञानघन वस्तु है, ज्ञानस्वरूप

है। इस आत्मामें सर्वत्र ज्ञान ही भरा हुआ है। यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी ही वृत्ति रहे, इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न रहे, किसी भी परपदार्थको अंगीकार करनेकी भावना न रहे तो यही है उत्कृष्ट त्याग। ऐसा त्याग कर ज्ञानमात्र ही रहकर मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

रागो योगेऽपि हेयश्चेदसम्बन्धे पुनर्न किम्।
अयोगे रागता चेद्धा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३२॥

प्राप्त वस्तुमें भी राग न हो तो यही एक अपना विवेक है। किसी चीजमें राग करते हो तो क्या चीज तुम्हारी है ? तुम एक पदार्थ हो, अपनी सत्ता लिए हुए हो, सो तुम, तुम ही हो, तुम्हारी कोई अन्य चीज नहीं हे। फिर राग करना मूर्खता है, क्योंकि तुम्हारी चीज कुछ है ही नहीं। अपनेसे बाहरमें तुम व्यर्थकी दौड़ लगा रहे हो। बाह्य चीजोंका आश्रय कर राग हो गया। रागके कारण ही ये सारे दुःख हैं। घरकी, स्त्रीकी, पिताकी, मित्रोंकी अनुरक्ति रखना ही राग है। इस रागसे तो दुःख ही होगा।

सुख तो एक परम समाधि दशामें है। सबसे हट गये, विकल्पोंसे परे हो गये, ज्ञान-ज्योति मात्र अपना अनुभव कर लिया तो समझो आनन्दका मार्ग मिल गया। आनन्द परवस्तुसे नहीं मिलेगा। राग छोड़ दो तो आनन्द मिल जायगा। किसी भी वस्तुसे राग हो तो आनन्द मिलेगा ही नहीं जैसे विद्यार्थी लोग पाठ रटते हैं, याद करते हैं यह तो अच्छी बात है। मगर जो उनमें व्याकुलताएँ हैं वे किस कारणसे हैं कि राग उनमें लग गया है कि मैं पास हो जाऊँ। बहुतसे ऐसे कुशाग्र बुद्धि वाले भी लड़के होते हैं जो केवल पढ़नेका ही यत्न करते हैं। पास फेलकी उन्हें कोई चिंता नहीं रहती है। वे अत्यन्त सरल सीधे सादे होते हैं। वे केवल पढ़ना ही अपनी जिम्मेदारी समझते हैं। इसीसे वे खुश रहते हैं।

बहुतसे विद्यार्थी ऐसे होते हैं जिनका आशय केवल पढ़ना व जानकारी करना ही होता है, उन्हें प्रसन्नता भी रहती है और सफलता भी मिलती है और बहुतसे विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं जो इस विचारसे पढ़ते हैं कि पास होना जरूरी है, यदि नहीं होंगे तो साल बेकार हो जायगा, आर्थिक नुक्सान भी हो जायगा। इस प्रकारके विद्यार्थियोंको आकुलताएँ ही हो जाती हैं, क्योंकि उनके राग हैं। घरमें ही देखो तुम्हारे माँ बाप कितना तुम्हारे पीछे खर्चा कर रहे हैं ? वे सारे कष्ट तुम्हारे पीछे उठा रहे हैं तो उनका तुम्हारे प्रति राग है, इसीसे उनमें आकुलताएँ हैं। आकुलताएँ तो रागसे ही हैं। यदि राग न हो

तो आकुलताएँ ही क्यों हों ?

एक देहाती था। उसका लड़का शहरमें किसी कालिजमें पढ़ता था। वह लड़का बोर्डिंग हाउसमें रहता था। उसके पिताने सोचा कि चलें लड़केसे मिल आवें, कुछ नाश्ता वगैरा दे आवें, पैसे दे आयें। सो वह घुटनों तक धोती पहिने, तनीदार मिर्जाई पहिने और सिर पर एक साफा बाँधकर कालिज गया। बोर्डिंग हाउसके लड़कोंसे बुलवाया कि फलाँ नामका एक लड़का है उसको बुला दीजिए। अब वह लड़का आ गया। साथमें ४-६ जो दोस्त थे वे भी आ गये। वे तो सब अच्छी पोशाकसे, वेश-भूषासे आए, कोट पैंट, बूट टाई लगाकर और उसका पिता उसी देहाती सूरतमें मिलने आया। अब दोस्त लोग पूछने लगे कि कहो मित्र ये तुम्हारे कौन हैं ? जो खाना पीना भी लाये हैं ? सो वह शान में आकर बोला कि यह तो हमारा मुनीम है, चाकर है। ऐसा उस लड़केने इसलिए कहा कि साथके बैठने वाले लोग जान न जायें कि इनका पिता ऐसा देहाती है। इतनी बात सुनकर बापका मन लड़केसे हट गया। उसने सोचा कि यह मेरा लड़का होकर भी मुझे नौकर बताता है। तबसे उस बापने लड़केकी कोई खबर नहीं ली। पिताका तभीसे उस लड़केके प्रति जो राग था, वह दूर हो गया।

जब तक राग है तब तक बंधन है और जहाँ राग छोड़ दिया तहाँ बंधन छूट गया ज्ञानकी बातें यदि उपयोगमें नहीं आती हैं, मोह रागके ही चक्कर बने रहें तो उससे मनोबल मिटता, वचन बल खत्म होता, कायबल भी क्षीण होता और धनबल भी खत्म होता। किसीमें राग करनेमें आत्माकी प्रगति नहीं है सो भाई जिन पदार्थोंका संयोग है उनका राग हेय है। जो चीज पासमें नहीं है इसका क्या राग करना ? जो चीज पासमें है उसका भी राग नहीं करना चाहिए। पास है तो होने दो। राग करनेसे लाभ कोई नहीं है। राग करनेसे तो आकुलताएँ ही बनती हैं। पास हुई चीजमें राग नहीं करना चाहिए। फिर यदि न हुई चीजमें रागद्वेष बना रहे तो यह बड़े खेदकी बात है। इस मोही जीवको देख लो कि चीजके न होते हुए भी इससे अधिक राग होता है। आकुलताएँ बनी रहती हैं। ऐसी आकुलताओंसे हटनेका उपाय है वस्तुस्वरूपका सम्यग्ज्ञान करना। मिलो हुई चीज हो या न हो, यह जीव तो ख्याल बना करके राग बना लेता है। सो यदि हिम्मत बन सके तो इन ख्यालोंको छोड़नेसे ही सुखी हो सकते हो।

शुद्धात्मानं विहायान्यचिन्ता पापोदयस्ततः ।
अन्यचिन्तां पृथक्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३३॥

एक शुद्ध निज आत्माका चिंतन हो यह तो है विवेककी बात और अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य किसी चीजकी चिंता न हटी तो यह है पापका उदय। चिंतावोंसे आत्मा को कोई लाभ नहीं है। चिन्तावोंसे तो बुद्धि भी बिगड़ती है। सो अन्य चिन्तावोंके वातावरणोंसे दूर होनेपर ही कुछ लाभ मिल सकेगा। यदि चिंता (चिंतन) ही करना है तो तो अपने आत्मस्वरूपकी चिंता करो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, आनन्दमय हूं। केवल दृष्टिके फेरसे सारे संकट छा गये हैं। सो इन बाह्यदृष्टिको मिटावो, शुद्ध दृष्टि करो तो ये सारे संकट समाप्त हो जावेंगे। सो मैं अपने ज्ञानस्वरूपको संभाल कर रखूँ, इस आत्माको ही अपना रक्षक बनाऊँ तो इस तरहकी भावनाओंसे, पुरुषार्थसे चिंताएँ दूर हो सकती हैं। चिंताएँ न होनेका यही उपाय है। यह लड़का बहुत अच्छी तरहसे रहे, दुकान अच्छी तरह से चले, समाज और राष्ट्र के मैं कुछ काम कर डालूँ तथा अन्य-अन्य विषयक भी चिंताएँ होती हैं। ये चिंतायें सब पापोंके उदयका कारण होती हैं। व पापोंका बन्ध कराने वाली हैं जिससे भविष्यमें पापोदय होगा व क्लेश होगा। अतः बाह्यदृष्टिको मिटावो। बाह्य-दृष्टि ही चिंताओंका कारण है।

गुरु जी सुनाया करते थे कि एक गाँवमें एक युवक रहता था वह बड़ा बलवान् था। राजाका हाथी जब निकलता था तो हाथीके पैरोंमें बंधी हुई साँकलको वह पैरोंसे दबा लेता था तो हाथी खड़ा हो जाता था। राजा बहुत परेशान कि जब भी हाथी यहाँ आता है तो यह हाथीकी साँकल पर पैर रखकर हाथीको रोक लेता है। इसको बहुत चिंता नहीं है, इससे यह ऐसा बलवान है कि यह हाथीको खड़ा कर लेता है अगर इसके चिंतायें बना दूँ तो इसकी पहलवानी सब रह जायेगी। हाथीको फिर न रोका करेगा। राजाने सोचा कि कोई न कोई चिंता इसके लगा दूं। उस राजाने उसको बुलाया, उसकी माँ को भी बुलाया। कहा कि उस मन्दिरमें रोज चिराग जला दिया करो तो मेरे राज-कोषसे तुम दोनोंको खानेको अन्न सामग्री मिला करेगी। उसने स्वीकार कर लिया। अब उसे केवल दीपक जलानेकी चिंता हो गयी। जब दोपहर हो जाती तो शामको चिराग जलानेकी चिंता लग जाती। केवल इतनी ही चिंतासे उसका सारा बल घट गया। अब वह राजा अपना हाथी लाता तो साँकल पर पैर रखकर वह दाबे तो हाथी झटका देकर जाता था। अब उसके पैरसे दाबनेका कुछ असर नहीं पड़ता।

भैया, चिंतासे केवल शारीकि बल ही नष्ट होता है। ऐसा [illegible] है, चिंतासे आत्म बल भी क्षीण हो जाता है। सो भैया, चिंतावोंको त्यागो। जब तक मोह है तभी तक

चिन्ता है इन चिन्तावोंसे यदि छूटना है तो मोह को त्यागो । यह बात है कि इस मोहके कारण ही सारी चिन्ताएं लग जाती हैं और इन चिन्तावोंके कारण ही सारी आकुलताएं बनी रहती हैं। इसलिये सब प्रकारके मोहको त्यागकर अपनी आत्माके निकट रहो । किसी भी चीजमें मोह न रहे क्योंकि वे सब पदार्थ तुमसे बिल्कुल जुदा हैं । कोई भी चीजें तुमसे मिली हुई नहीं हैं । उनकी आशा न करो । उनमें मोह करनेसे पूरा न पड़ेगा। इसलिये बाह्यपदार्थोंकी चिन्ताएं छोड़कर अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

पराशाजीवितो मूढः स्वातन्त्र्यं मन्यते बुधः ।
शं स्वातन्त्र्यं विना नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–३४॥

जो पदार्थोंकी आशा रखकर जीवित हैं, वे मोही हैं । परकी आशा करनेके मायने हैं परपदार्थोंसे ही अपने सुख एवं हित की आशा मान रखी है । जब तक यह आशा है तब तक मन चंचल है । जिससे सम्यग्ज्ञान नहीं है अर्थात् परपदार्थोंका जो स्वतन्त्र स्वरूप नहीं जानता वही परकी आशा करता है । वस्तु का स्वरूप आचर्योंने बताया है—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त यह पदार्थ है । इस लक्षणमें सब प्रकारका उपदेश समाया हुआ है पदार्थ स्वयं अपनी परिणति से उत्पाद करता है और अपनी पूर्वपर्यायका व्यय करता है फिर पदार्थ अपने स्वभावसे शाश्वत ध्रुव रहता है यह स्वयं पदार्थोंका स्वभाव है कि वे बनें बिगड़े और बने रहें । किसी परपदार्थके कारण कोई दूसरा पदार्थ नहीं बनता है । किसी दूसरे पदार्थके कारण दूसरे पदार्थ नष्ट नहीं होते हैं और किसी दूसरे पदार्थके कारण कोई दूसरा पदार्थ ध्रुव नहीं है । अपने ही स्वरूपसे वह उत्पन्न होता है, विषयोंको प्राप्त होता है सदाकाल बना रहता है इससे यह शिक्षा मिली कि मैं भी एक पदार्थ हूँ । सो अपने स्वरूपसत्त्वके कारण परिणमनशील हूं क्योंकि यदि परिणमन न होता तो इसके सत्त्व नहीं रह सकता था ।

जो भी पदार्थ हैं वे नियमसे परिणमनशील हैं । मैं हूं तो मेरा काम भी हो रहा है। वह काम चाहे परपदार्थोंका निमित्त पाकर विभावरूप हो और चाहे शुद्ध स्थिति पाकर उसके स्वभावरूप हो, परिणमन जरूर होता है मेरा स्वरूप परिणमन मेरे ही स्वरूपमें मेरे अस्तित्वके कारण होता है । मुझमें कोई दूसरा परिणमन कर देता हो, ऐसी बात नहीं है। हाँ विभावपरिणमनमें परपदार्थ निमित्त होता है । जैसे यही गैस है, कल हवा चलनेके कारण फक-फक जल रही थी, आज कचरा अटकनेसे अंधेरा उजेला कर रही है, इसी तरह इस जीव के असंभव बननेके कारण हैं—भीतर का भावकर्म और बाह्यमें द्रव्यकर्म । कर्म का

उदय होने से भावकर्म बन गये । द्रव्यकर्म के उदय में भावकर्म हो गये । ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है । फिर भी प्रत्येक जोव खुद ही बुरा बनता है कोई दूसरा उसे बुरा नहीं बनाता । यह जीव यदि मुक्त होता है तो खुद हो मुक्त हो जाता है दूसरा जीव उसे मुक्त नहीं कर देगा । यद्यपि निमितनैमित्तिक भाव बना रहा, फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणतिसे परिणमता है इस वस्तुस्वरूपका जिन्हें ज्ञान नहीं है परकी आशासे ही वे अपना हित समझते हैं ।

जगतमें अनन्त जीव हैं । उस अनन्त जीवोंमें सबको इस मोही जीवने छोड़ दिया और उन चार व्यक्तियोंको ही पकड़ लिया जो चार घरके बीचमें रहते हैं । उनकी इतनी ही सारी दुनिया है किन्तुज्ञानी पुरुष सारी दुनियाके समस्त जीवोंको अपने हो समान निरखता है या फिर इसका कोई नहीं है, केवल वहो है । अनन्त जीवोंमें से ये घरके दो चार जोव मेरे हैं ऐसी छटनी ज्ञानी जोव नही करता है । यह संसार बड़ा गोरखधंधा है कि पर को छोड़ते भी नहीं बनता ओर उनका बनाव बिगाड़ भी कुछ नहीं जा सकता । कोई जीव किसी अन्यको ग्रहण कर सकता है क्या ? उन पर अधिकार रख सकता है क्या ? ये तो बाहरी पदार्थ हैं । जब तक निकट हैं तब तक हैं और जब नहीं हैं तब नहीं हैं ।

भैया, बाहरी पदार्थोंमें राग हो अथवा उनका समागम हो तो भी यह जीव केवल अपना ख्याल बनाता है । ख्यालके आगे इस जीवकी अन्य कुछ करतूत नहीं । सो यह जीव बाह्यपदार्थोंको बिगाड़ नहीं सकता और न सुधार सकता है, किन्तु इतना शुद्ध उत्पादन नहीं है कि ऐसा साहस बने कि बाहरी पदार्थोंको छोड़नेका भाव रखें सो छोड़ते भी नहीं बनता । ग्रहण तो वैसा होता ही नहीं है । वस्तुतः तो जीव न परको ग्रहण करता और न छोड़ता, केवल परविषयक ग्रहण त्यागके भाव बनाता है । कैसो भी स्थिति हो, आनन्द प्राप्त होगा तो यथार्थ ज्ञानसे ही होगा । छोड़ना तो सबको ही पड़ेगा, सदा कुछ नहीं रहेगा । यह तो लौकिक संग है । कोई अभी मिटेगा, कोई बादमें मिटेगा । चीजें कभी भी मिटें, पर उनके मिटने पर जरूर वियोग होगा । ज्ञानी पुरुष वस्तुओंके संयोगके समयभी यह समझता है कि इस वस्तुका वियोग जरूर होगा । इसलिये संयोगमें भी वह हर्ष नहीं मानता । ज्ञानी जीव परवस्तुसे अपने स्वरूपको पृथक समझता है । वह जानता है कि मैं, मैं हूँ और यह, यह है, पृथक् है । ऐसा ज्ञानी जो कि यथार्थ ज्ञानी है वह परकी आशासे जीवन नहीं मानता ।

अज्ञानी जीव यह समझते हैं कि परवस्तुओंसे ही हमें प्रसन्नता मिलती है, उनसे हो हमारी जिन्दगो चलती है । सो उस प्रभुसे ही उसे आकुलताएँ मिलती हैं । पर ज्ञानी जीवके

आकुलताएं बिल्कुल नहीं होती हैं। ज्ञानी पुरुष अपनेको स्वतन्त्र जानते हैं, अपनेको सबसे न्यारा केवलज्ञान आनंदभावस्वरूप, सबसे निराला, एक विलक्षण किन्तु सबके स्वरूपके समान मानते हैं। यह है और परिणमता रहता है। इसमें किसी दूसरेका दखल नहीं है। दूसरोंके विरोधी कार्य देखकर यह गुस्साभी हो जावे, तब भी वह गुस्सा किसी दूसरेकी परिणतिसे नहीं होता। इसी तरह सारी उसकी परिणतियाँ उसके ही परिणमनसे हो रही हैं। दूसरे मेरे आधीन नहीं। मैं भी दूसरोंके आधीन नहीं हूँ। जब स्वतन्त्रदृष्टिसे अपनेको देखें तो परमें विकल्प ही न प्रकट हो। यदि ऐसी स्थिति हो तो सुख प्राप्त हो सकता है। इस कारण मैं अपने ही स्वरूपको निरखता हुआ अपनेमें अपने लिये अपने आप स्वयं सुखी होनेका प्रयत्न करूँ।

देव भक्तावपि ध्यानं भाव: स्वस्यैव वर्तते।
स्व: स्वस्मै शरणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–३५॥

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि कमसे कम प्रभुभक्ति तो शरण है, प्रभु तो शरण बनेगा। फिर क्यों कहा जा रहा है कि एक पदार्थका दूसरा पदार्थ शरण नहीं है। मेरे लिए मैं ही शरण हूँ, दूसरा कोई शरण नहीं है। भगवानकी भक्तिसे तो भक्त संसारसे पार हो जाते हैं प्रभुकी शरण तो सच है। इसके समाधानमें यह कहा जा रहा है कि प्रभुकी भक्ति जो करते हैं, आप पहिले इसका ही निर्णय कर लें। प्रभु तो अपनी ही जगह विराजे हैं प्रभु तो अपने ज्ञान और आनन्दमें मग्न है। प्रभुको हम कुछ कर लिया करते हैं क्या? अगर हम प्रभुको कुछ कर देते हैं तब तो हमारी बड़ी ऊँची नवाबी हो गयी कि हम तो भगवानको भी कुछ कर देते हैं। भगवानका हम कुछ बिगाड़ सकते हैं क्या? नहीं। भगवानमें कुछ सुधार कर सकते हैं क्या? नहीं। भगवानकी हम निंदा कर सकते हैं क्या? नहीं। भगवानकी हम प्रशंसा कर सकते हैं क्या? नहीं। भक्त भगवानको अपने उपयोग का विषयमात्र बनाकर भजन कर सकते हैं, इसके अतिरिक्त और भी कुछ करते हैं क्या?

आप कहेंगे कि निन्दक भगवानकी निन्दा तो करते हैं—भगवान बुरा है, वह अच्छा नहीं है, दुष्ट है। अरे जो निन्दा करते हैं अपने ही कषाय उगल रहे हैं। वे भगवानकी कुछ निन्दा नहीं कर सकते हैं। भगवानका कोई दूसरा कुछ नहीं करेगा। जिसमें जैसी अज्ञानता है, मूढ़ता है उतना ही वह अन्तर्विकार व्यक्त कर रहा है। परिणाम प्रकट कर रहा है। भगवानका वह कुछ नहीं कर रहा है। इसी तरह भगवानकी कोई प्रशंसा करता है तो वहाँ भी वह भगवानकी प्रशंसा नहीं कर रहा है, किन्तु वह भक्त सत्य है; सरल है, शुद्ध ज्ञानका

प्रेमी है, भगवानका जो शुद्ध स्वरूप है उसको रुच गया है सो अपनी जो विशुद्धि है उसको ही व्यक्त कर रहा है। वह भगवानकी भक्ति नहीं कर रहा है, किन्तु अपनी विशुद्धि व्यक्त कर रहा है।

भैया, प्रभुभक्तिमें भी जो ध्यान बनता, वह ध्यान प्रभुका है कि तुम्हारा है ? वह ध्यान तुम्हारा ही तो है। प्रभुके पूजन में जो कुछ भी परिणाम बनें वे तुम्हारे हैं कि उस प्रभुके हैं ? वे परिणाम भी तो तुम्हारे ही हैं। प्रभुके गुणस्मरणरूप परिणाम तुम्हारे ही हैं। प्रभुकी भक्तिमें जो भाव बनते हैं वे भाव तुम्हारे ही हैं। वे भाव प्रभुके नहीं हैं। इसलिये भक्तिके समयमें भी जो शरण बना, वह खुदही खुदके लिये शरण बना। लोकमें भी देखो– जब तक तुम अच्छे हो तब तक तुम्हारे लिए सब लोग अच्छे हैं, पड़ौसी भी अच्छे हैं और तुम यदि बुरे हो गये, खोटे हो गये, विरोधी हो गये तो पड़ौसी भी तुम्हारे लिए बुरे हो गये। यदि हम चाहते हैं कि लोग-बाग अच्छे रहें तो इसका उपाय क्या है कि हम स्वयं अच्छे रहें। इस लोकमें जो कुछ भी मुझे मिला वह मेरे आचरण से ही मुझको मिला, दूसरेसे कुछ नहीं मिला।

निश्चयसे खुद ही खुदके लिए शरण है। दूसरा कोई मेरे लिए शरण नहीं है। कोई चाहे कि खुद बुरे बन जायें, पाप करें, दूसरे जीवों की हत्या करें, अथवा दूसरोंकी स्त्रीको सतायें, बुरी दृष्टि करें और फिर भी लोग उसको मानते रहें, प्रेम करते रहें यह तो नहीं हो सकता। खुदका ही आचरण खुदही का शरण हुआ। दूसरोंका कुछ परिणमन शरण नहीं हुआ। प्रत्येक स्थितिमें यह आत्मा अपना उत्तरदायी है। इसका जिम्मेदार कोई दूसरा आत्मा नहीं है। खुद ही खुदके लिये शरण है। परका विकल्प छोड़कर अपनी ही जिम्मेदारी समझकर अपनो भूमिकाको शुद्ध बनाओ और ऐसा ही शुद्ध रहने का यत्न करो, इससे ही अपने आपमें सुखी हुआ जा सकता है। यही यत्न निश्चय रखो।

किं स्वानुकूलनेऽन्येषां किं स्वस्यान्यानुकूलने।
शं स्वानुकूलने स्वस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–३६॥

मैं दूसरों को अपने अनुकूल बनालूं ऐसा भाव स्वयं जीवमें रहता है और मैं दूसरों के अनुकूल बनूं यह भी भाव जीवमें रहता है। दूसरों को अपने अनुकूल बनाएं तो उसमें भी आत्मा सुखी नहीं, क्योंकि इन यत्नोंमें परकी दृष्टि है, परकी आशा है। जिस-जिस वृत्तिमें परकी दृष्टि है अथवा परकी आशा है उन-उन वृत्तियोंमें सुख नहीं हो सकता

है। हम चाहते हैं कि ये जीव मेरे अनुकूल बन जाएं अर्थात् ऐसी मंशा रहती है कि इन लोगोंकी मेरी इच्छा माफिक प्रवृत्ति हो जाये, पर ऐसा नहीं हो सकता है।

कोई सोचे कि ये मेरे भाई हैं, ये तो मेरी इच्छाके के विरुद्ध हो ही नहीं सकते। ये मेरे मित्र हैं, ये मेरे विरुद्ध नहीं हो सकते हैं, स्त्री पुत्र मेरे हैं, ये मेरे विरुद्ध नहीं चल सकते हैं, ऐसा सोचना भ्रम है। जब तक आपके कारण उन्हें सुख है तब तक अपने आपका मतलब हल करनेका वे यत्न करेंगे। मैं इनका स्वामी हूँ इनका अधिकारी हूँ यह सोचना बिल्कुल झूठ है। वे आपके अनुकूल चल ही नहीं सकते हैं। वे अपने विषयकषायके कारण, अपनी खुदगर्जीके कारण अपने कषायके अनुकूल चलते हैं, जब सबका एक ध्येय होता है, प्रवृत्ति भी परस्पर अनुकूल हो जाती है सो वहाँ भो एककी वजहसे दूसरेकी प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु कषाय से कषाय मिल गई सो मित्रता मान लेते हैं।

कभी किसी मुनिसंगमें हजारों मुनि साथ में रहते थे और उनमें एक मुख्य आचार्य थे। हम आपको तो यहाँ पर एक घरमें चार आदमो संभालने में मुश्किल पड़ता है और वहाँ हजारों मुनियोंमें एक आचार्य था। वह कैसे सबको संभालता था। भैया, वे मुनि अगर आत्मकल्याणकी इच्छा रखते हैं, मोक्ष प्राप्त करने, निर्विघ्न रहने का ही उनका प्रयोजन है तो उन्हें संभालना नहीं पड़ता था। यदि वे मुनि भ्रष्ट होते उनको आत्मकल्याण की इच्छा न होती केवल पेटपूर्तिकी ही इच्छासे रहे होते तो उन्हें संभालना पड़ता, पर वे स्वयं अपने आत्मकल्याणको इच्छा करते थे इसलिए उन हजारों मुनियोंको संभालना नहीं पड़ता था। सर्व आगमानुकूल प्रवृत्तिका व निवृत्तिका भाव रखते थे। परस्पर उनका व्यवहार विनय पूर्वक होता था सबकी दृष्टि एक थी।

किसी घरमें अगर चार भाइयोंको दृष्टि एक है तो वे संभलते हुए रहते हैं, और यदि उनके ध्येयमें विवाद हो जाये तो उन्हें संभालनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। जब कोई साधु अपनी मान प्रतिष्ठामें रहता है अकल्याणके भावों में प्रवृत्ति रहती है तब तक उसे संभालनेमें बड़ी परेशानी होती है, पर उसका तो लक्ष्य एक होता है, कल्याणकी भावना रहती है यदि उन सबका संग व्यवस्थित रहता है, वे स्वयं आत्मकल्याणकी इच्छासे ऐसी प्रवृत्ति रखते हैं तो आचार्यादिके अनुकूल हो जाता है। दूसरोंको अपने अनुकूल करनेमें क्या लाभ है ? लाभ तो अपने आपके अनुकूल होनेमें है अर्थात् जैसा अपना सहज स्वरूपके निरखने में है। सो मैं अपने स्वरूप को निरखकर अपने लिये स्वयं सुखी होऊं।

सुखी होना या दुःखी होना यह होता है अपनी करतूत से। दूसरोंकी करतूतसे न सुख होता है और न दुःख होता है। दूसरोंके करनेसे या कहनेसे न बुरे हो सकते हैं और न धर्मात्मा हो सकते हैं। खुदका आचरण जैसा है तैसा ही सामने आयेगा। दूसरोंके आश्रय पर तुम्हारा भविष्य निर्भर नहीं है। तुम्हारा भविष्य तो तुम्हारे ऊपर ही निर्भर है। दूसरे उसमें क्या कर सकते हैं? पुराणमें कितनी ही कथायें आती हैं। किसीके पापका उदय हुआ तो उसको कितना ही धन दे दिया, कितनी ही सम्पदा उसके पास रख दी तो भी सुखको प्राप्त न हो सका। दूसरों की करतूतसे दूसरोंको सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। अन्य चेतन या अचेतन पदार्थ उसके सुखका कारण नहीं बनेगा। कहो ऐसी भी कुबुद्धि आ जाय कि वह उन हितैषियोंको बैरी मानने लगेगा और उन हितैषियोंके विरुद्ध होकर वह यत्र-तत्र चला जायेगा।

भैया, पापोंके उदय में कोई सहायक नहीं होता और पुण्यका उदय है तो उसे कोई दुःखी नहीं कर सकता। जैसा धवल सेठने श्रीपालको मारनेके लिए कितने प्रयत्न किये, पर वह सेठ श्रीपाल का बाल बाँका न कर सका। राम, लक्ष्मण, सीता जंगलमें रहे, सो जंगल में क्या रोज-रोज ही उनको आराम मिलता रहा? नहीं। किसी किसी दिन तो राजा महाराजा भी भगवान् रामकी सेवा करनेके लिये जंगल जाते थे, पर कभी-कभी बहुत कष्ट भी होते थे। १२ वर्ष तक वनमें रहे, उनको वैसे तो कोई कष्ट नहीं रहा। ऐसे दिन भी हुए तो होंगे कि कंकरीली जमीन पर लेटे होंगे। फलका ही भोजन किया होगा। पुण्यका उदय विशेष था सो ऐसे दिन बहुत कम रहे होंगे जब कष्ट उठाना पड़ा होगा। कष्टके दिनोंमें चूँकि तीनोंका एकसा भाव था, तो वे भी दिन आरामसे गये, सुखसे ही गये।

आराम इसका नाम नहीं है कि गद्दी मिले और आरामसे पड़े रहें। कितना ही काम करो और चित्तमें प्रसन्नता है तो आराम है और अगर चित्तमें प्रसन्नता नहीं है तो आराम नहीं है। चित्तमें प्रसन्नता होती है सहज ज्ञानसे। भ्रममें ही न पड़े रहें, वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करें तो उसको आराम मिल सकता है। परवस्तुकी आशा रखी, अपने अधिकारमें करने की इच्छा की तो ऐसे भावसे आराम नहीं मिल सकता। सो दूसरोंको अपने अनुकूल करने का विकल्प किया और अपनेको दूसरोंके अनुकूल करनेका विकल्प बनाया तो उससे आराम नहीं रहेगा, व्यवहारमें तो ऐसा कुछ करना पड़ता है, पर परमार्थसे इन बातोंसे आत्माको तत्त्वकी बात कुछ नहीं मिलती। आत्मतत्त्वकी बात तो यह है कि जैसा आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र है, उसको ही अपने उपयोगमें लावो, उसकी ही दृष्टि रखो तो शांति प्राप्त होगी।

यदि ऐसा उपयोग न बन सका तो शांति न प्राप्त होगी । भीतरमें यह निर्णय होना चाहिए कि मेरे लिए मैं ही हूँ, मैं ही ज्ञानज्योतिमात्र हूँ, मैं ही सर्वस्व हूं । इस अपने स्वरूपका ही मुझे भरोसा हो तो इसकी ही उपासनासे सुख प्राप्त हो सकता है ।

न हानिः सहजे ज्ञाने किन्त्विदानीं न सा दशा ।
अतश्चिन्तानिरोधेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।४-३७।।

यह जीव ज्ञान तो करता है । पर ऐसा ज्ञान हो कि जाननेका यत्न न करना पड़े और अपने आप जानता हुआ रहे । तो उस जाननेमें जीवको लाभ है और जो जान-बूझकर किसी चीजको जानता है तो उस ज्ञानमें राग द्वेष मिला हुआ है । किसी बातको जान बूझकर अपनी तरफसे कोशिश करके जानता है तो उसमें राग द्वेषका पुट है और जो कोशिश करके नहीं जानता, किन्तु अपने आप स्वयं ज्ञान हो जाये तो उसमें राग द्वेष नहीं है, उसमें लाभ है । उसमें जीवको हानि नहीं । ऐसा जो सहज ज्ञान है उस ज्ञानमें हानि नहीं, पर इस समय तो ऐसी दशा हम आप लोगोंकी है नहीं, जान बूझकर जाननेका यत्न करते हैं, राग द्वेष भरे हुए हैं । सो जब तक सहज ज्ञानकी दशा नहीं होती तब तक जीवों को शांति नहीं होगी ।

जैसे धनसे शांति नहीं होती है । सौ हो गये, हजार हो गये, फिर लाख हो गये, कभी शान्ति नहीं होती है । इसी तरह जो जान-बूझकर ज्ञान किया गया है उस ज्ञानके साथमें आशा लगी ही रहती है । सो उस जीवका अच्छा फल न होकर बुरा फल हो जाता है । अब जैसे मान लिया कि बी. ए. एमएस. सी. कुछ भी पास कर जाए तो उसके सामने और कुछ न कुछ पढ़नेको रखा है । अभी एम. ए. होंगे । एक विषयमें एम. ए. हो गये, अभी एक विषयमें एम.ए. और करेंगे । अभी डाक्ट्रेट कर लें, और जो जो कुछ है कर लें । जैसी धनकी बात है वैसी ही बाहरी विद्याकी बात है ।

बनावटी ज्ञानकी तो यह दशा है और जो स्वयं ज्ञान है । सहज ज्ञान है, उसकी प्रारम्भिक अवस्था तो ऐसी है कि कह लो वह संकुचित रह जाता है । पर उस सहज ज्ञान का ऐसा प्रताप है कि उसका प्रसार होगा । वह रस्साकसीकी तरह है । जितना प्रतिभाष हो जाये डटकर, मेहनत कर ज्ञानका उतना ही फैलाव होगा । सो वह भी लब्धिके अनुसार है सर्वका ज्ञाता बननेका कारण भेदज्ञान है । सो वह सहजज्ञानके परिचयसे ही मिलेगा ।

यहाँ दो विषय हैं । एक आत्महितका विषय है और एक लौकिक सुख साधन बनाने का, पाप बनानेका विषय है । दोनों ही विषय अलग अलग हैं । लौकिक विषयोंकी बात

तो आजकलकी जो परम्परा है उसमें मिलती है और आत्मज्ञानीकी बात आत्मस्वरूपके अथवा द्रव्यस्वरूपके अवगममें मिलती है ।

लौकिक प्रताप तो आजकी विद्यामें दिखते हैं । शांतिका मार्ग और तात्विक बात अपने इस ज्ञानमें दिखती है सो जिनका जैसा रूप है, जिसका जैसा भविष्य है, उसकी वैसी रूचि है कितने ही लौकिक विद्यामें निपुण होते हैं और कितने ही आत्मविद्यामें निपुण होते हैं । किसीके दोनों ही बातें एक साथ हैं । इन सब बातोंमें जो सहजज्ञान है, उससे जीव की कभी भी हानि नहीं है । पर अभी तो वह दशा नहीं है । यह सहजज्ञान कैसे बने ? यहाँ तो यहाँ वहाँकी चिंतायें ही लगी रहती हैं, विकल्प ही मचा करते हैं । यहाँ वहाँकी चिंतायें रखनेसे अपनेमें सहजज्ञान नहीं बनता है । सो चिंतावोंका विरोध करके अपने आपको जो कुछ स्वयं ज्ञान होता हो, वह होने दो । उस ज्ञानसे ही स्वाभाविक आनन्द उत्पन्न होता है ।

सुखं हि सर्वसंन्यासस्तु कुर्वे सर्वसंग्रहम् ।
दुःखोपायेन किं शं स्यात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३८॥

सुख तो सबके त्यागमें है । जितना जो कुछ लपेटा रहेगा उतना ही दुःख बना रहेगा दुःख तो रागमें है, मोहमें है। जिन लोगोंके मोह है वे दुःख ही दुःखमें हैं । राग करते समय तो दुःख मालूम नहीं होता है । राग तो करते समय अच्छे लगते हैं, मेरा घर है, द्वार है, लोग हैं, इष्ट हैं, प्रिय हैं—ऐसा मोह करते समय तो बड़ा अच्छा लगता है पर इसका परिणाम खोटा ही होवेगा । मोहमें तो रागकी ही धुन रहती है । वहाँ विवेक नहीं जगता है, पर यह तो निश्चित है कि जहाँ संयोग होगा वहाँ नियमसे वियोग होगा। इसके वियोगकी दो ही बातें हैं या तो खुद यहाँसे चले जायें या अपने देखते-देखते ही चीजें विनश जायें । सो वियोगमें तो आत्माको प्रकट दुःख ही होगा । जिस संयोगमें राग किया उस समय ही तो आकुलता करता है । उस परिणतिके दुःखमें भी तो तेरे लिए कोई रक्षक नहीं है । वियोग होते समयतो आँसू बहाकर रोनेकी नौबत आती ही है ।

जिसने विवेकका परिणाम बना लिया उसको दुःख नहीं मिलेंगे । उसको तो सुख ही रहेगा और जो अपनेमें अज्ञानका ही परिणाम रखेगा तो वहाँ दुःख हो रहेगा । किसी किसीका कोई साथ देने वाला नहीं है । कितना भी आज्ञाकारी पुत्र हो, शिष्य हो, भाई हो, पर हैं तो भिन्न भिन्न स्वरूप चतुष्टय । सो तेरा अन्य रक्षक तो कोई भी नहीं है । रावणके कितने भाई थे ? केसा पुत्र था ? बड़ा वीर पुत्र था, पर जब पापका उदय

आया तो न भाईने मदद किया और न पुत्रने मदद किया । भाई भी विरोधी पक्षमें चला गया । तो जितना भी संयोग है वह सब क्लेशोंको ही उत्पन्न करता है और जितना संन्यास हो जायेगा, त्याग हो जायेगा, कोई आश्रय न रह जाये, खटपट न रह जाये तो इस संन्यासमें ही सुख होगा ।

देखो भैया, सुख तो त्यागमें है । पर करते हैं सबका संग्रह । सुखसे बिल्कुल उल्टे रास्ते पर चलें तो सुख कैसे मिलेगा ? देखो पहिले गाँधी जी वगैरह हुए ? क्या उन्होंने सम्पत्ति जोड़ी थी ? वे दो एक कपड़े ही तो पहिनते थे । तो हमारे बुजुर्ग लोग धनका संचय बिल्कुल नहीं करते थे और भी देखो, बड़े-बड़े लोगोंने धनके संचयका त्याग कर दिया था तो इसका अथ यह निकला कि बड़प्पन तो ज्ञान और आचरणमें है। बड़प्पन धनमें नहीं है । यदि ज्ञान और आचरण सही हैं तो वहीं सबका त्याग है । सुख तो सबके त्यागमें है । पदार्थोंमें संग्रहसे सुख नहीं मिलता है ।

भैया, दुःखका उपाय करके सुख चाहें तो कैसे सफलता हो सकती है ? बबूलका पेड़ बोकर अगर आमका फल चाहें तो यह कैसे हो सकता है ? महुवाकी गुठली बो देवें और आमके फलकी आशा करें तो यह तो नहीं हो सकता है । सुख तो अन्तरसे सबके त्यागसे ही होगा । केवल अपने आत्मारामको अन्तरङ्गमें जागृत करते रहो, तो सत्य सुख है । गृहस्थीमें रहकर सब कुछ करना पड़ता है । पर सब कुछ करते हुये भी यदि ज्ञान रहता है तो ज्ञानका फल जो संतोष है वह आ जायेगा । उस ज्ञानीको २४ घन्टेमें कभी न कभी अपने आत्मस्वरूपका ख्याल आता ही है और अगर ऐसा उपयोग बनने लगे कि किसीका भी विकल्प न हो, केवल अपना ज्ञान सही रहे, स्त्री पुत्र इत्यादिका ख्याल न रहे उस समय तो सहज आनन्द जग ही जाता है ।

ऐसा विशुद्ध उपयोग गृहस्थ कर सकता है कि नहीं ? बतावो । कर सकता है । वह तो ज्ञानकी चीज है । बाहरकी चीजोंसे फँसाव अलग हो तो यों भी कर सकता है और सबके बीचमें रहकर बाहरमें दृष्टि न फँसाकर भी सबको भूलकर अपने आपकी ओर ही रहे, ऐसा भी वह कर सकता है । त्याग जो है वह तो ज्ञानका नाम है । वह ज्ञान यदि बहुत काल तक रखना चाहता है तो उसका उपाय बाह्य पदार्थोंका त्याग है । परन्तु वास्तवमें त्याग तो ज्ञान का नाम है । यदि ज्ञाता दृष्टा हो गये तो समझो कि सबका त्याग हो गया । सो सुख अगर चाहो तो सबका त्याग करो । यदि संग्रहका आशय भी किया तो सुख नहीं प्राप्त होगा । सो भैया, दुःख के उपायोंको त्यागो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ ।

भैया, परद्रव्यकी आशा करनेसे छल, कपट आदि अवगुण घर कर लेते हैं । एक

सेठने बड़ी भक्तिसे किसी साधुको आहार दिया। उसके फलमें उसके यहाँ रत्नोंकी वर्षा होने लगी। जब किसी पड़ौसीने यह वैभव देखा तो सोचा कि यह तो धन कमानेका बड़ा ही अच्छा उपाय है। सो हम भी ऐसा ही करें, साधुको आहार दें। हम भी धनी हो जावेंगे। पहिलेसे ही ऐसी आशा कर ली। एक दिन साधुको आहार देता जाये और ऊपरको देखता जाये कि अब रत्नोंकी वृष्टि हो। इस प्रकारसे उसकी आशा बनी रहनेसे रत्नोंकी वर्षा न हुई। तो जब तक मूलमें कपट रहे, आशा रहे तो उसमें चमत्कारकी आशा कैसे की जा सकती है? जब मूलमें दुःखका उपाय रहे, परिग्रहके संचयकी बुद्धि रहे तो इन उपायोंसे कहाँसे सुख प्राप्त हो सकता है? सो भैया, दुःखका उपाय छोड़ो, संग्रहकी बुद्धिको त्यागकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

परसंगरतो बद्धः स्वस्थो मुक्तोऽग्रहो ग्रहः।
तस्याग्राह्यस्य ग्राह्यस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–३९॥

जो परपदार्थके संगमें लीन हैं वे पुरुष बद्ध हैं। बतलादो कोई पुरुष रस्सेसे, सांकल से बँधा है क्या? मोड़ा मोड़ीसे बँधा है क्या? वह तो स्वतंत्र बैठा है। किसीसे बँधा नहीं है। यदि परपदार्थोंके संगमें बुद्धि लगाये हैं कि ये मेरे हैं, इनके लिये खूब धन-वैभव जोड़कर रख दूँ इत्यादि रूपसे पुत्रादिक परजीवोंमें जिसने बुद्धि लीन कर रखी है तो वे तो बँधे ही हैं। वे अपना यह बंधन तोड़कर कहीं नहीं जा सकते हैं। तो जीवनका बंधन तो भीतरका भ्रमभाव ही है। अन्य पदार्थोंके बंधन जीवके साथ नहीं हैं। वे तो पर हैं, बंधन तो अशुद्ध भावोंसे हो हैं। यों भाव कर लिया कि स्वयं ही पराधीन बन गये। सो परिग्रहोंमें रत होनेसे ही वे बद्ध हैं और जो परके संगमें रत नहीं हैं, जिनकी अपनी निज आत्मामें ही दृष्टि है वे मुक्त हैं, छूटे हुए हैं।

बड़ी कठिन तपस्या है यह कि परमें बुद्धि न की जाये, केवल अपने आपमें ही बुद्धि रहे तथा बड़ा पाप है यह कि परमें आत्मदृष्टि कर ली, लो बंध हो गया। स्त्री-पुत्रादि क्या जीवनभर साथ देंगे? जीवनभरकी बात तो दूर रही, यहीं मतलब सिद्ध न होने पर वे जरा सा भी साथ दें सो भी बात नहीं है। वे तो जब तक दूसरोंसे सुख मिलता है तब तक साथ देंगे और यदि सुख नहीं मिलता है तो साथ नहीं दे सकते हैं। यहाँके जीव भी तो मलिन हैं, बद्ध हैं, उनसे क्या आशा करते हो? बद्ध जीव कौन है? जिसने अपनेको परसे बाँध लिया हो, वह बद्ध है। उसका यह बाह्यसंगम व्यवहारमें निमित्तवचन है। निश्चयतः कोई भी यह जीव किसी दूसरे जीवका कुछ नहीं कर सकता है। वस्तुस्वरूपकी बातके विरुद्ध कोई भी यह समझे कि ये मेरे हैं और मानता भी व्यवहारमें है, किन्तु उसमें आसक्ति है तो आसक्तिके

फलमें कोड़े लगते हैं। तो खावो कोड़े और अगर आसक्ति नहीं है तो क्लेश नहीं है। जितने भी लोग घरके संगमें लीन होंगे वे कभी सुखसे नहीं रह सकते हैं।

बहुतसे लोग कहते हैं कि मेरा भारी परिवार है। छोटे-छोटे बच्चे हैं, लोग हैं, उनको तो कैसे छोड़ना चाहिए ? यदि उनको छोड़ दें तो पाप है। क्यों भैया, उनको अगर ज्ञाता दृष्टा रहनेके परिणामके कारण छूट जाते हैं तो क्या पाप करते हैं ? यह तो 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' वाली बात है। बातोंसे विरक्ति नहीं होती है, विरक्ति तो स्पष्ट ज्ञानसे होती है।

भैया, सच तो यह है कि मोह ही उन्हें पकड़े है। मोह नहीं रहा तो उन्हे पकड़े कौन ? पाप तो कलुषित परिणामोंसे ही है। अच्छा बतलावो भाग्य उन बच्चोंका अच्छा है कि तुम्हारा अच्छा है ? भाग्य तो उन बच्चोंका ही अच्छा है। कैसे ? सो सुनो। लोग सोचते हैं कि इन बच्चोंकी हम खूब खुशामद करें, उनका हम अच्छा पालन-पोषण करें। सो उनकी सेवाके विकल्पसे उनमें ही वे बँधे रहते हैं। यह निर्णय नहीं कर पाते कि हम बंध रहे हैं जिनको हम खुशामद करते हैं उनका पुण्य बड़ा है। खुशामद करने वालेका पुण्य बड़ा नहीं। वह तो मोह ही करता है। मोहको छोड़कर अपना तो काम केवल एक ही हो कि शुद्ध ज्ञान करें। ज्ञानके सिवाय अन्य कोई प्रवृत्ति करना यह कोई आत्माका कर्त्तव्य नहीं है।

यह तो विवशताकी बात हो गयी कि शुद्धोपयोग नहीं होता तो शुद्धोपयोग करो, उसमें यह नहीं तो यह कर लो। जैसे कि रात्रिको भोजन करनेका त्याग होना चाहिये। यदि भूख ज्यादा सताती है तो पानी और औषधि रख लो और यदि भूख न सधे तो दूध मेवा रख लो, और यदि भूख न सधे तो साग-सब्जी रख लो, पर अन्न का त्याग कर दो। हमारा कर्त्तव्य है कि रात्रिको कुछ भी भोजन पान न करें। यदि दूध मेवा इत्यादि भी रात्रि को खाते हैं तो यह कायरता है। यहाँ यह बात जल्दी समझमें आ जाती है। अगर भीतरकी बात भी इसी प्रकार से जल्दी समझमें आ जाए तो यही बुद्धिमानी हैं। सच ज्ञान आ जाये, मोह हट जाये तो उसके अज्ञान प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

जब तक गृहस्थ अपने धर्मकी रक्षा नहीं करता है, अपनेमें निवृत्तिकी भावना नहीं लाता है तब तक उसकी आन्तरिक कमजोरी है। भाव उच्च ही होना चाहिये। सही कारण पहिले गृहस्थधर्मका उपदेश हो और पीछे साधुधर्मका उपदेश हो—यह पद्धति जिनशासन में नहीं है। पहिले है साधुधर्मका उपदेश और फिर पीछे है गृहस्थधर्मका उपदेश। साधुताकी बात ऐसी है कि साधु अपनी आत्मामें रहे, मोह भावको त्याग दे, गृहस्थीको अंगीकार न करे। अपने आत्माके धर्मको ही करता जाये, उसमें ही वह संतुष्ट रहे। गृहस्थको यह सोचना चाहिये कि मेरे मोह बिल्कुल न रहें। ऐसा ज्ञान हो कि मेरे घरके जो लोग हैं वह मेरे कुछ

नहीं हैं। यहाँ ग्रहण करने योग्य कुछ भी चीज नहीं है। कुछ भो चीजें मेरे लिए हितरूप नहीं हैं। सो यथासम्भव यथासमय अपनी आत्मामें ही रमो और सारे विकल्पोंको त्यागकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

सुखायान्यत्प्रतीक्षैव सुखहत्यामता यतः।
सुखेनास्मि स्वयं पूर्णः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्बयम् ॥४–४०॥

सुखके लिये दूसरे पदार्थोंकी प्रतीक्षा करना, बस यही तो सुखकी हत्या करना है। यह आत्मा तो स्वयं सुखसे भरा है। इसका स्वरूप ही आनन्द है। इसको आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना है। सो परपदार्थोंसे मुझे सुख मिलेगा, ऐसी आशा करना यही तो संकट है। बाहरी पदार्थोंके चाहनेसे सुख नष्ट होता है और बाहरी पदार्थोंसे सुख न चाहें, तो सुख तो स्वयंमें ही भरा हुआ है। मैं स्वयं सुखसे परिपूर्ण हूँ। परन्तु जीवोंमें ऐसा मोह लगा है कि अपने आपको रीता समझते हैं, अपने आपको न कुछ समझते हैं, अपने आपकी कोई कीमत नहीं मानते हैं।

मोही जन अहंकारमें आकर तो अनेक झगड़े कर डालते हैं, अनेक क्लेश उठा लेते हैं, पर अपने इस ज्ञानस्वरूपके देखनेकी जिम्मेदारी नहीं समझते हैं। मैं ही मेरेको सुखका दाता हूँ, मैं ही सुखस्वरूप हूँ, ऐसा मानकर अपने आपकी ओर ये जीव नहीं आना चाहते हैं। दूसरे पदार्थोंके ही पीछे खुदका विश्राम नष्ट कर देते हैं। दूसरे स्त्री-पुत्रोंके सुखके लिए उनकी ही वृद्धिके लिए सारे जीवनभर जुतते रहते हैं। सो ऐसी जो पद्धति है यह हितकारी पद्धति नहीं है।

देखो भैया, प्रातः व सायंको प्रभुके दर्शन करनेका नियम क्यों है कि दिन भरके जो उपयोग यत्र-तत्र रहे, यहाँ-वहाँ भटके दिन भर जो पाप बँधे हैं उन पापोंको दूर करने के लिए हम आप प्रभुके दर्शन करनेके लिए आते हैं। प्रभुकी मुद्राको देखकर अपने आपमें यह भाव भरते हैं कि हे प्रभो, मैं गल्तियोंके मार्ग पर हूं। जिन कामोंमें लग जाता हूं वे सब काम असार हैं। आपने जिस मार्गको अपनाया था उसमें ही सार है—ऐसा अपने आपमें ख्याल रखनेके लिए और प्रभुके गुणोंका स्मरण रखनेके लिए, इस अपवित्र हृदयको पवित्र बनानेके लिए हम आपके दर्शन करने आते हैं।

हम सब प्रातः दर्शन करने क्यों आते हैं कि रात्रिके समयमें प्रमादकी बुद्धिमें जो हमने पाप किये हैं और मोक्षमार्गसे विमुख रहे हैं उन पापोंको दूर करनेके भावोंसे हम सब आपके दर्शन करने आते हैं। हम यह ख्याल करते हैं कि हे प्रभो! करने योग्य काम तो ज्ञानका ही था। केवल हम ज्ञाता दृष्टा रहें, राग द्वेष मोहसे परे रहें, अपने अज्ञानसे भ्रमसे

परकी आशा न कर सकें, अनेक प्रकारके प्रसंगोंसे अपनेको दुःखी बनाते रहे, वे काम ठीक नहीं थे। जो कार्य आपने किये, जिस मार्गसे चलकर आप प्रभु हुए, स्वयं समर्थ हुए, वह मार्ग मेरे चलनेके लायक है। इस तरह दोनों समय अपने आपको सावधान रखनेके लिए प्रभुके दर्शन करनेका नियम है।

सम्यग्ज्ञानमें ही यह शक्ति है कि बाह्य पदार्थोंकी आशाका त्याग कराये। आज यह सब दुनिया अथवा ये मोही लोग केवल परसे हित माननेके भ्रममें बरबाद हैं, जिससे कि सुख नहीं पाया जा रहा है। दूसरोंको तंग करके क्या सुख हो सकता है? नहीं। परमार्थसे तो खुदको ही तंग करते हो। यह विषयसे सुख मानते हैं, परिग्रहोंसे आनन्द मानते हैं, और वैभवके संचय करनेमें, जोड़नेमें अपनेको कष्ट दे रहे हैं। अपने सहज चिन्मात्र प्रभुको देखो। अपने ही स्वरूपके समान दूसरे जीवोंको मानो। जैसा विश्राम, आराम तुम चाहते हो वैसा ही दूसरे जीवोंके लिए सोचो। परमार्थकी बात तो यह है कि हम अपने लिए किसी भी पदार्थसे कुछ आशा न रख, अपने आप पर ही अपने सुखकी जिम्मेदारी मानें तो अपना सुख अपने सामने है।

बतलावो बच्चोंसे जो आशा रखते हैं वे जीवनभर बच्चोंके दास रहते हैं कि नहीं? आप स्त्रीसे, बालकोंसे, पड़ौसियोंसे अपने मतलबकी आशा रखते हैं व्यवहारमें ढंग खराब है वह तो अलग बात है, मगर भीतरमें अंधेरा मच जाता है। आपको अपने आपके इस चैतन्यमात्र, ज्ञानानन्दमय, सबसे न्यारे निजस्वरूपका कुछ भान ही नहीं रहता है। जो खुद ना बन जाते हैं वे अपनेको ना समझते हैं। परसे ही अपना अस्तित्व व रक्षण समझते हैं। इसी कारणसे उन्हें बहुत क्लेश होते हैं। सुखके लिए दूसरे पदार्थोंकी प्रतीक्षा न करो अपनी ही ओर झुको और उस ही आनन्दस्वभावमें छककर, लीन होकर सुखी होवो।

उत्तमस्त्याग आशा न प्रतीक्षा यत्र वर्तते।
परादृष्टयां न सा स्वास्थ्ये स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–४१॥

देखो दो ही तो बातें हैं—आशा करना और त्याग करना। जहाँ आशा है वहाँ क्लेश है और जहाँ त्याग है वहाँ आनन्द है। पर उत्तम त्याग वही है जहाँ आशा व प्रतीक्षा नहीं रहती है। घर छोड़ो और घरकी आशा रखो तो वह त्याग है क्या? नहीं। कोईसी भी चीज छोड़ो और फिर उसकी आशा करो तो वह त्याग है क्या? नहीं है। कोई कहे कि इससे अच्छा तो न त्यागना है। सो भी बात बुरी है। यदि आशा रहे तो चाहे बाह्यका त्याग हो, चाहे न हो, आशाका तो स्वभाव ही है कि वह क्लेश ही उपजायेगी। आशा तो दुःख ही देगी। चाहे छोटी आशा हो, चाहे बड़ी आशा हो, आशाएं दोनों ही एक प्रकारकी हैं, उनमें तो क्लेश ही हैं सो उत्तम त्याग वहाँ है जहाँ कोई आशा न हो और न कोई

प्रतीक्षा हो। यदि ऐसी बात बन गई तब फिर आत्महित बन गया।

सो भैया, परद्रव्योंमें दृष्टि ही न रखो। अच्छा बताओ यह धन-वैभव कितना ही मिल जाये तो शांति है ? क्या इसका भी कोई निर्णय है ? क्या हजार मिल जायें तो शांति हो जायेगी ? शांति नहीं होगी। तो क्या लाख मिल जायें तो शांति हो जायेगी ? शांति नहीं होगी। अच्छा करोड़ हो जानेपर शायद शांति हो जायेगी। अरे उसमें भी शांति नहीं होगी और अगर कोई देश मिल गया तो ? तब भी शांति नहीं होगी। यही इच्छा हुआ करेगी कि अभी और जमीन जीत लें, अभी और लड़-लड़कर भूमि बना लें। पहिले तो राजा बनानेकी पद्धति थी। अब तो वह बात ही नहीं रही। अब तो सोसायटी और कमेटी बन गयी हैं, वे ही राज्य चलाती हैं। सो इसपर भी जरा-जरासी भूमिके पीछे राष्ट्रोंमें झगड़े चलते रहते हैं। जब तक परकी दृष्टि रहेगी, परके संचयमें हित मानता रहेगा, तब तक यह जीव अपने आपमें नहीं रह सकता है, वह बाहर डोलता रहेगा।

देखो यह आत्मा बिल्कुल अकेला है, यह जीव बिल्कुल असहाय है। किसी भी समय इस जीवका मरण हो जाये तो वह शरीरको छोड़कर अकेला ही चला जायेगा। इस जीवका संगी साथी कोई नहीं होता अगर शुद्ध ज्ञानकी बात अपनी ही इस जिन्दगीमें रख लें और अपने ही ज्ञानसे चलें अर्थात् यह सब रहते हुए भी उन चीजोंका मोह छोड़ दें और अपना सच्चा ज्ञान बना लें तो सुखी रह सकते हैं। परन्तु भैया हो क्या रहा है, जब तक जिंदा हैं, घरमें रह रहे हैं तब तक दो मिनटको भी मोह नहीं छोड़ सकते और मरने पर सब छोड़ जाना ही पड़ेगा। परन्तु जिन्दा रहते हुए गम नहीं खाते हैं। जब तक शरीरमें प्राण हैं तब तक मोह करते ही रहेंगे। न सुखसे रह सकेंगे, न खा पी सकेंगे, न कुछ त्याग कर सकेंगे, न कुछ परोपकार कर सकेंगे। जिन्दगी यों ही बिता देंगे।

एक जगह किसी कवि ने लिखा है कि कंजूस लोग सबसे बड़े दानी कहलाते हैं। जो कंजूस होते हैं वे पैसा नहीं खर्च कर सकते, न खा सकते, न पी सकते, न दूसरोंकी सेवामें लगा सकते, ऐसे जो कंजूस होते हैं उनको सबसे बड़ा दानी कहा है। कैसे दानी बतलाया है कि देखो उस धनमें से कुछ भी अपने लिए खर्च नहीं करते और अन्तमें सारा का सारा एकदम दूसरोंके लिए छोड़ जाते हैं। इसको मान लो, सर्वस्व दान करके चले जाते हैं। अपने लिए उसमें से कुछ नहीं किया और सारा का सारा दूसरोंके लिए छोड़ दिया। तो यह कितना बड़ा दान है। तो वह कंजूस सबसे बड़ा दानी हुआ।

अरे भैया, हंसो न, बात तो ठीक है। वह दानी कैसे हुआ ? उसके परिणाम तो जिन्दगीभर गंदे रहे, उसने पाप किए, मलिन परिणाम रखे, वह अगर सबको ले जा सकता

तो क्या एक पाई भी छोड़ता ? सो सबने इन बातोंमें घुटने टेक दिए । किस बात पर कि मरण पर एक पाई भी साथ नहीं जाती । जब तक जिंदगी है तब तक माना करते हैं पर घुटने यहाँ टेक देते हैं । वे मरने पर कुछ भी साथ नहीं ले जा सकते हैं । सो जोवित अवस्थामें जैसे परिणाम किये उन परिणामोंके फलोंमें यह जीव उसी संस्कार में उसी भावमें लीन है सो ऐसे कंजूस लोग मरकर उस सम्पत्ति पर सर्प बन जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं है मगर सर्प होकर भी क्या उस धनको खा लेंगे ? नहीं ।

मोही जीव के ऐसे संस्कार हैं, उनमें वासना भरी है । उनमें ऐसा भाव भरा हुआ है कि परमें ही दृष्टि रहेगी । जब तक इस जीवकी दृष्टि परमें रहेगी तब तक वह अपने आप में नहीं आ सकता है और जब तक यह जीव अपने आपमें नहीं आता तब तक यह सुखी नहीं हो सकता है । सो परकी दृष्टिको त्यागकर भैया, अपने आपमें आवो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ ।

भोगे योगे न शान्तिस्त्विच्छाहीनां वर्तते हि यः ।
शान्त्याधारः स एवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४२॥

जिसके जब तक इच्छा है तब तक उसे शांति नहीं है चाहे वह भोगमें रहता हो, चाहे योगमें रहता हो, चाहे त्यागवृत्ति बना ली हो और चाहे घर कुटुम्बमें रमता हो पर जब तक इच्छा है तब तक उसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती है । भैया, शांतिका आधार तो वे खुद ही हैं, किन्तु शांति ढूँढ़ते हैं परद्रव्योंमें । सो जहाँ परमें दृष्टि गई तहाँ अशांति है । जब मोह छाया हुआ है, मूढ़ता सिर पर सवार है, बेटे, पोते इत्यादि मलिन गंदे कषाय वालोंमें ही मोह ममता लगाये हैं यह रोग एकको नहीं है, लोकमें प्रायः सभीको है ।

गांवोंमें घरके गाय, बछड़े इत्यादि? सवेरे जंगलमें चरनेके लिए छोड़ दिए जाते हैं और वे ही पशु शाम होते ही उसी घर चले आते हैं तो वे गाय, बछड़े इत्यादि भी उस घरसे बँधे हैं । कभी-कभी किवाड़ खोलकर वे घरके अन्दर घुस जाते हैं । अगर घरके अन्दर न घुसे तो दरवाजेमें ही खड़े रहकर दरवाजा खुलनेकी प्रतीक्षामें वे खड़े रहते हैं । देखो उन पशुओंको भी मोह सता रहा है । उसी तरह मनुष्यके भी मोह लगा है । मनुष्य भी बाहर-बाहर भ्रमण करके आयेगा और घरमें ही विश्राम लेगा । इसलिए वे भी घर से बँधेहुए हैं, वे स्वतन्त्र होकर विचार ही नहीं सकते हैं । सो इन सब बन्धनोंका कारण इच्छा है ।

यदि इच्छा है तो व भोगोंमें हो शांति है और न योगमें ही शांति है यदि अन्य वृत्तिसे परका मोह छोड़ दो तो शांति वहाँ रहती है । मोहमें बसे रहनेसे तो अशांति ही

रहती है। घरमें किल-किल मची रहती है। घरमें छोटे-छोटे बच्चे कहीं रो रहे हैं, कहीं माँ उन्हें डाँट रही है, कहीं कुछ हो रहा है इस तरह बैठे-बैठे ही रात दिन दुःख बने रहते हैं। कहीं स्त्रीने बच्चोंको गालियाँ दे दीं, कहीं बापने बच्चेको पीट दिया, इस तरह से परिवारमें क्लेश ही क्लेश रहते हैं। परन्तु जैसे गोबरके कीड़ेको गोबरमें रहना पसन्द है, उसीमें रहकर वह खुश रहता है उसी तरह हम आप लोग जो गृहस्थीमें फँसे हुए हैं, वहीं गृहस्थीमें ही रहकर प्रसन्न रहते हैं। इस माया मोहमें ही अपना चैन मानते हैं।

जरा घरके ऊपर भी क्लेश देखो। कहीं एक बच्चा चिल्ला रहा है, कहीं एक गोदी में चिल्ला रहा है, कहीं भाई वचनबाण छोड़ रहा है तो कहीं स्त्री माँका झगड़ा हो गया अनेक परेशानियाँ गृहस्थीमें रहती हैं। अगर स्त्री माँके झगड़ेमें पुरुष स्त्रीका पक्ष लेता है तो लोग उसे कहते हैं कि यह इसकी असभ्यता है, और अगर माँका पक्ष लेता है तो चैन से नहीं रह सकता। कितने-कितने संकट इस संगमें हो जाते हैं, परिग्रहमें हो जाते हैं। सो ये सब संकट कैसे बने ? परमें इच्छा है, लगाव है, आशा रखे हैं, दूसरोंके बीच बस रहे हैं सो सारे संकट छाये हैं। कहीं सुख नहीं है। सुख तो वहीं है जहाँ इच्छा न हो।

एक बार किसी महाराजने किसी दूसरे राजा पर चढ़ाईमें विजय प्राप्त कर ली। उस चढ़ाईमें उस राजाके कुटुम्बके सभी लोग मारे गये। अंतमें महाराजाको ऐसा विवेक उपजा कि अब वह राज्य न ले और उसके कुटुम्बमें जो कोई बचा हो उसको ही यह राज्य सौंप दे। ऐसा सोचकर राजा अपने वंशजको तलाश करनेके लिए निकला। एक आदमी जो घर गृहस्थ छोड़कर जंगलमें रहता था वही केवल बच गया था। महाराजा उस पुरुष के पास गये, बोले कि जो कुछ चाहते हो ले लो। मतलब उसका यह था कि सारा राज्य जब देनेके लिए तैयार हूँ तो इससे बढ़कर क्या मांगेगा ? सो कहा कि जो इच्छा हो ले लो। वह बोला—मैं जोकुछ चाहता हूँ आप देंगे ? तो राजा बोला—हाँ हाँ दूँगा।

जङ्गलनिवासीने कहा—राजन् ! हमें ऐसा सुख दो कि जिससे बाद फिर दुःख न आवे। भाइयो ! बोलो कि है कोई ऐसा सुख जिसके बाद फिर दुःख न हो ? ऐसा कोई भी सुख नहीं है कि जिसके बाद फिर दुःख न हो। ज्ञानी पंडित बननेमें ऐसा सुख है कि जिसके पीछे दुःख नहीं है, पंडित बननेमें तो ऐसा नहीं है, अगर परमार्थ ज्ञानी बन जाय जाय तो वह कुछ बाहरी चीजें चाहेगा ही नहीं। तो सुख उसे अपने आप हो जायेगा। जगत्में कोई ऐसा सुख नहीं है जिसके पीछे दुःख न हो। सो महाराजने हाथ जोड़ दिये कि क्षमा करो, मैं इस चीजको तो नहीं दे सकता। दूसरी और कोई चीज माँगिये।

वह बनवासी फिर राजासे बोला कि हमको ऐसा जीवन दो, जिन्दगी दो कि

कभी फिर मरण न हो। बताओ ऐसी कोई जिन्दगी है कि जिसके पीछे मरण न हो ? महाराजाने फिर हाथ जोड़ दिये, कहा—कुछ और माँगो। उसने कहा–अच्छा और कुछ नहीं तो हमको ऐसी जवानी दो कि जिसके बाद फिर बुढ़ापा न आवे। सो वह हाथ जोड़ कर वापस चला गया। उसने सोचा कि यह तो कुछ नहीं चाहता है। यह तो अपने आत्माकी मौजमें मस्त है। तो ऐसे ही लोग जो इच्छारहित होते हैं वे ही शांतिके आधार हैं, उनको ही शांति प्राप्त होती है।

भैया, ? दिल्लीमें एक जैन सेठ था। जिस समय सन् ५७ के समयके गदरमें लूट-मार हो रही थी उस समय उस सेठने तिजोरियोंसे हीरे जवारात गहने इत्यादि जो कुछ भी थे खोलकर बाहर रख दिये। चार लूटने वाले आये। सेठजी बोले–आप लोग परिश्रम न करें, जो कुछ भी घरमें धन था, हमने निकालकर बाहर रख दिया। इतनी बात देखकर चारों लुटेरोंके मनमें असर हुआ। वे बोले–सेठजी, अब हम लोग आपका धन नहीं लुटेंगे। हम अपने दो आदमी इस धनकी रक्षाके लिए छोड़ जाते हैं। कोई भी इस घरके अन्दर नहीं घुसने पायेगा। देखो लूटने वालोंको भी ज्ञान प्राप्त हो गया। यदि इच्छा है तभी क्लेश हैं। इन इच्छावोंसे सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। इन इच्छावोंसे पूरा नहीं पड़ेगा।

कृपां कर्तुं न शक्योऽन्यो मय्यहमेव तत्क्षमः ।
ततोऽन्याशां परित्यज्य स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥४-४३॥

मुझ पर कोई दूसरा पुरुष कृपा नहीं कर सकता है। हम पर हम ही कृपा रख सकते हैं। सुखका आचरण खराब हो और चाहें कि दुनियामें आदर मिले तो क्या मिल सकता है ? नहीं। तो अपने कियेका फल अपनेको ही मिलता है। कभी कोई खोटी गैल चले और चाहे कि सम्मान मिले तो क्या मिल सकता है ? नहीं। अच्छा बोलेगा, सदा-चारसे रहेगा। तो दुनिया यश गायेगी अथवा सुखके साधन मिलेंगे। यदि ऐसा नहीं है तो सुख न मिलेगा। मुझ पर कृपा करनेके लिए कोई दूसरा समर्थ नहीं है मैं ही मुझ पर कृपा कर सकता हूँ।

रावणके खोटे परिणाम जब हुए तो वह चाहता था कि परिवारसे मदद मिले तो कैसे मदद मिल सकती थी ? परिणाम तोउसके खोटे हो गये थे। खोटी राह चलने वालेके फिर मित्र नहीं रहते हैं। रावणका भाई विभीषण तक रावण साथ छोड़कर रामसे जा मिला था। यदि खुद अच्छा रहे तो काम बनता जायेगा, नहीं तो काम नहीं बननेका है। परमार्थसे देखो तो खुद अच्छे भी चल रहे हैं और लोग बड़ा साथ भी दे रहे हैं तो भी लोग मुझ पर कृपा नहीं कर रहे हैं। लोग जो साथ दे रहे हैं उनको रुच गया है तो वे

कषायसे अपना काम कर रहे हैं। सो इस लोकमें मुझ पर कृपा करने वाला समर्थ नहीं है। तब हमें क्या करना है कि अन्य पदार्थोंका व्यामोह छोड़ना है।

भैया, जितने भी जगत्के पदार्थ होते हैं वे पदार्थ स्वयं परिपूर्ण होते हैं और उन पदार्थोंमें उनका ही सब कुछ है, दूसरोंका उनमें कुछ नहीं है। जैसे तुम्हारे जीवनमें तुम्हारा ही तो जीव है। हम तो बाहर बैठे हैं, हम अपना विचार करते हैं तुम अपना गुनतारा ही हो तो हमारे जीवसे तुम्हारा सम्बन्ध तो कोई नहीं रहा। कुछ भी तो आपके और हमारे जीवमें सम्बन्ध नहीं है। भले ही हम आपकी एकसी मंशा है, पर दोनों ही अलग हैं। हम अपने स्वभावसे अपनी परिणति करते हैं और तुम अपने स्वभावसे अपनी परिणति करते हो। कोई दूसरा न तो मेरा कुछ काम कर रहा है और न मैं किसी दूसरेका काम कर रहा हूँ।

यद्यपि समान विचार होनेसे काम मिल-जुलकर होता रहता है फिर भी हम अपने स्वरूपसे अपना परिणमन करते हैं। वास्तवमें मिल-जुलकर काम नहीं होता है देखो एक ही चक्कीमें दो औरतें आटा पीसती हैं, एक साथ पीसती हैं, हिल-मिलकर गाना गाती हुई पीसती हैं, मगर एक औरत दूसरी औरतका काम नहीं करती है। वह अपना परिणमन करती है और वह अपना परिणन करती है। जीव सब न्यारे-न्यारे हैं। एक जीव दूसरे जीवका कुछ नहीं कर देता है। भले ही हम मिल-जुलकर रहें, पर हम अपना परिणमन करेंगे। कोई जीव किसी दूसरे जोवका अधिकारी नहीं है, मालिक नहीं है। सब अपने-अपने मालिक हैं। इस कारण कोई जीव किसी दूसरे जीव पर कृपा नहों करता है।

मुझे किसी दूसरेसे कोई आशा भी नही है बेकारमें आशा करते हैं तो उस आशा का फल बढ़िया नहीं होता है। उस आशासे आकुलताएँ ही होती हैं, फंसाव होता है, झंझट लग जाते हैं। और जब तक किसीका परिचय नहीं है, लगाव नहीं है तब तक आनन्दसे हैं। पर अज्ञानावस्थामें एक जीव दूसरे जीवके लगाव बिना नहीं रह पाता। कुछ न कुछ राग करता ही है सो इस अज्ञानके ही कारण जीवका पदार्थोंमें लगाव होता है। एक आशा होती है। उस आशामें ही यह जीव दूसरेमें बँध जाता है। सुख दुःख कुछ भी हो, आपके भीतरमें सच्चा ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

भैया, सच्चा ज्ञान जगे बिना जीवमें शांति बिल्कुल नहीं हो सकती है। यदि बाहरी पदार्थोंमें ही दृष्टि रहेगी तो दसों प्रकारके भाव बनेंगे, दसों प्रकारकी अशाएँ बनेगी सो बाहरकी दृष्टि हटे और अपने आपके स्वरूपमें ही अपने आपका निश्चय हो तो शांति मिलेगी अन्यथा शांति न मिलेगी। यदि हम लड़कोंके बारेमें, भाईयोंके बारेमें कुछ चाह करें उनसे आशा करें तो दुःख ही मिलेगा। हम आप उनके पीछे सोच-सोचकर दुःखी होते रहते हैं।

जब तक उनसे मोह नहीं छूटेगा, उनसे आशा नहीं छूटेगी तो इन बाह्यसे ही कोई लाभ न हो सकेगा। जैसे किसी चीजका हठ करते हैं तो उससे नुकसान ही होता है। उसी तरह उनमें हठ करनेसे नुकसान ही रहेगा। उनमें ही अपना लगाव रखनेसे बड़े-बड़े दुःख आते हैं। यदि इन दुःखोंसे हटना है तो परका लगाव छोड़ो। परकी आशा छोड़ो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

सुखं नैराश्यमेवास्ति दुःखमाशैव केवलम्।
स्वदृष्टेः काचिदाशा न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–४४॥

सुख तो नैराश्यमें होता है अर्थात् कोई आशा न रहे वहाँ सुख होता है। गृहस्थीमें रहते हुए भी यदि मनुष्य धर्मके काममें ऊँची ही बात सोचे तब ही धर्म कर सकता है और अगर वह ऐसा ही सोचे कि हम तो गृहस्थ हैं, दसों प्रकारके सम्बन्ध हैं तो हम लोगोंकी आशा कैसे छूट सकती है? हम लोगोंका तो इसीसे पूरा पड़ेगा, ऐसा पहिलेसे ही सोच रखा है तो उस गृहस्थमें धर्मकी उन्नति नहीं हो सकती है। धर्मकी उन्नति तो तब होगी जब अपने में बहुत ऊँची बात सोचें। जैसे कि साधु संत सोच सकते हैं। गृहस्थ अपने ज्ञानसे ऊँचे भाव सोच सकते हैं। गृहस्थ अपने ज्ञानसे ऊँचे भाव रखकर अल्प संयममें भी यथायोग्य विशेष निम्नलिखितरूप धर्म कर सकता है—सुख आशाके अभावमें है। जिस चीजकी आशा लगी है उस चीजकी ओर ही दिमाग है। तुम्हारा दिमाग जैसा है वैसा होता नहीं है तभी तो दुःखी होते हो। सो दुःख इसी बातका है कि जैसा चाहते हैं वैसा होता नहीं है। जीवको इतना ही तो दुःख है। यह दुःख तब मिटे कि जैसा हम चाहें वैसा हो जाये या फिर उसे चीजकी आशा ही नहीं करनी चाहिये और न ही चाह करनी चाहिये।

किसी मामलेमें सुख तभी हो सकता है कि या तो इच्छा ही न करें या जैसा चाहें वैसा काम बन जाये, मनमाफिक काम हो ही कैसे सकता है? कितना ही महापुरुष क्यों न हो जैसा वह चाहे वैसा हो जायेगा क्या? वैसा काम नहीं हो सकता है। छोटे आदमीको छोटी भी चाह है तो वह चाह पूरी नहीं होती। दोनों ही जैसा चाहें वैसा काम हो जाय यह तो नहीं हो सकता है। यह उपाय तो गलत है कि जैसा चाहें वैसा काम बन जाय, पर यदि यह उपाय बन जाय कि हम किसी चीजको चाहें ही नहीं तो दुःख फिर रह ही कहाँ सकते हैं? इच्छाके अभावका उपाय बन तो सकता है, पर ऐसा कोई प्राणी आज इस जगत् में नही दिखाई पड़ता है जिसके कुछ चाह न हो। ऐसे आदमी तो दिख जाते हैं कि बहुत बड़ी-बड़ी चाहें खत्म कर दीं, उनमें घरकी चाह न रही, ऐश-आरामकी चाह न रही, ऐसे व्यक्ति तो मिल जाते हैं। मगर जिनके बिल्कुल चाह न हो ऐसे व्यक्ति आजके युगमें इस

लकमें नहीं दिखते हैं। बड़ी-बड़ी चाहें मिटो जायें, साधारण चाहें रह जायें तो चलो यही अच्छा है। यथार्थज्ञान जग जाये तो चलो यही अच्छा है, सारी चीजें रहते हुए भी आशा खत्म हो जायेगी। आशा ही से क्लेश होते हैं। कोई आशा कर लो कि लो दुःखी हो गये।

एक नाईने एक सेठकी हजामत बनायी। हजामत बनाने में २-३ जगह छुरा लग गया या मार दिया। खून निकल आया। सेठने हजामत बन जानेके बाद नाईसे पूछा कि कितनी जगह छुरा मारा? नाईने सोचा कि छुरा कई जगह लग गया है, अब तो मजदूरी भी न मिलेगी, पर डरते हुए उसने कहा कि दो जगह लग गया है। दो जगह लगनेसे उस सेठने उसको दो रुपये दे दिए। नाईने सोचा कि हमें तो डर लगता था कि सेठजी कुछ भी नहीं देंगे, पर दो रुपये कमानेका बड़ा ही अच्छा उपाय है। एक दिन एक बाबूजी की हजामत बनाने लगा। दो छुरे उसके भी लगा दिए। सोचा कि इनसे भी एक दो रुपया मिल जायेगा। बाबूजी ने १०-५ जूते मारे। अब वह सोचने लगा कि हमारा हिसाब कहाँसे गलत हो गया? सेठके दो छुरे मारे थे तो उसने दो रुपये दिये थे। यहाँ कैसे हमारा हिसाब गलत हो गया? भैया! सेठने तो इसलिए रुपये दिये थे कि इसके कुछ आशा लग जाये कि फिर ये हजामत ठीक बनाने लगे।

किसीको क्लेशमें डालनेकी सुगम औषधि यह है कि उसको कुछ परिग्रह दे दें जिससे उसकी तृष्णा, आशा बढ़ जाये। जिसका अपने कुटुम्ब परिवारमें कषाय रहेगा, कुटुम्ब परिवारसे आशा रहेगी उसे क्लेश ही रहेगा। जो अपने बच्चोंकी खुशामदमें ही रहेगा, उसे क्लेश ही मिलगे। जो अपने मित्रोंसे, कुटुम्ब परिवारके लोगोंसे कुछ आशा न रखेगा उसे सुख मिलेगा। अब देख लो किसी बड़े आदमीके यहाँ नौकर तो खुश रहते हैं और मालिक या बड़ा आदमी जिसका फर्म चलता है उसे क्लेश रहते हैं, और दो रुपयेका मजदूर गाता हुआ आता है और गाता हुआ ही चला जाता है। मालिक रातभर जागता रहता है, अभी इसका हिसाब ठीक करना है, रजिस्टर भरना है, इसीमें वह व्याकुल रहता है। रात-दिन चिंता लगी रहती है कि कहीं नुक्सान न हो जाये।

भैया! मजदूर तो सुखी रहते हैं, क्योंकि उन्हें तो दो रुपयेसे ज्यादाकी आशा ही नहीं है। सेठको किसी दिन लाख बच जायें, किसी दिन हजार बच जायें। टोटा पड़े तो किसी दिन ५० हजारका टोटा पड़े, तो किसी दिन ७० हजारका टोटा पड़े, इस तरहका उतार-चढ़ाव रहता है। सदा बेचैनी बनी रहती है। यदि आशा न रहे तो सुख है और यदि आशा है तो दुःख है। तब दुःख मिटानेमें क्या चाहिये? आशा न रहे यही तो चाहिये। आशा न रहे इसका कोई उपाय है? इसका उपाय है कि आशा जिसका स्वरूप नहीं है,

उसमें ऐसी दृष्टि हो कि यही तो मैं चैतन्यमात्र हूं, इसमें आशाकी कोई तरंग ही नहीं है। इसका काम तो केवल देखने जाननेका है, ज्ञाता दृष्टा रहने का है। ऐसी आशारहित अपने स्वभावकी दृष्टि करें तो उसके आशा नहीं रहती है। जो अपनेको आशारहित बना ले वह सुखी हो जाता है।

इन्द्रोऽप्याशान्वितो दुःखी गताशोऽसंगकः सुखी।
स्वाथ्यमेव गताशत्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–४५॥

देखो इन्द्र भी हो और आशा करे तो वह दुःखी है। इन राजा महाराजा लोगोंको न खाने-पीनेकी कमी है, न कपड़ोंकी कमी है, न किसी प्रकारका दुःख है, फिर भी वे दुःखों से दुःखी रहते हैं। उन दुःखोंका कारण क्या है ? उनके दुःखोंका कारण केवल आशा ही है। उनके आशा रहती है इसलिए वे दुःखी रहते हैं। एक कबीर साहबका दोहा है—

माया मरी न मन मरा, मर मर गये शरीर।
आशा तृष्णा न मरी, कह गये दास कबीर॥

माया मर गयी, जो कुछ वैभव पाया था वह नष्ट हो गया। मन मर गया, वृद्ध हो गये, सब कुछ बरबाद हो गया, पर आशा न मरी। ज्यों-ज्यों कमजोर होते जाते त्यों-त्यों आशाओंका प्रसार होता जाता है। आशाका मनसे ताल्लुक नहीं है, शरीर जीर्ण हो गया तो क्या हो गया, पर आशा तो जीर्ण नहीं होती है। सो आशाका ऐसा फल है कि इन्द्र भी हो और आशा रखे तो वह भी दुःखी हो जाता है, औरकी तो बात ही क्या है ?

सुखी कौन है ? जिसके आशा न रहे। चाहे उसकी कौड़ी न हो, वस्त्र भी न हों, ऐसी ही स्थिति हो, मगर आशा न रहे तो वह सुखी है। इसको कहते हैं गताश्य, नैराश्य, आशाका न रहना यही जीवका उत्कृष्ट स्वास्थ्य है। स्वास्थ्यका अर्थ क्या कहते हैं कि भाई तुम्हारा स्वास्थ्य अब कैसा है ? लोग समझते हैं कि तबियत, हालत, शरीरकी दशा अब कैसी है ? लोक व्यवहारमें स्वास्थ्यका अर्थ यह लगाया जाता है, पर इसका अर्थ यह नहीं है। स्वास्थ्यका अर्थ है कि स्वमें ठहर जाना। अपने आत्मामें, अपने उपयोगमें स्थिर हो लें। इसीको कहते हैं स्वास्थ्य कैसा है–ये वचन पूछे तो अर्थ यह कि तुम्हारी आत्मा अब सावधान है कि नहीं। किंतु लोग बतलाते यह हैं कि हां स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक है याने कि तंदुरुस्ती ठीक है, शरीरकी हालत ठीक है–ऐसा उल्टा जवाब देते हैं।

कोई बहिरा आदमी बाजारसे भुट्टा खरीदकर लिए जा रहा था। रास्तेमें एक किसान खेत जोत रहा था। सो उसने उस बहिरे आदमीको आवाज दी कि भाई राम-राम। वह तो बहिरा आदमी था।, कुछ न सुनता था, समझा कि मुझसे कुछ कहता है।

उसने समझा कि यह पूछ रहा है कि क्या लिए जा रहे हो ? उसने कहा कि मैं भुट्टा लिए जा रहा हूँ । फिर पूछा कि घरमें बाल बच्चे तो राजी खुशी हैं ? उसने यह समझा कि पूछ रहा है कि भुट्टोंका क्या करोगे ? उसने कहा कि सारोंको भूनकर खावेंगे । कैसा अटपटा उत्तर है ? इसी तरह कोई पूछता है कि आपका स्वास्थ्य कैसा है ? तो अटपटा उत्तर देते हैं । पूछते तो हैं कि अब आत्माकी क्या स्थिति है ? आत्मा सावधान है कि नहीं ? आत्मा में शांति है कि नहीं ? पूछते तो यह हैं और जवाब देते हैं कि शरीर हट्टा-कट्टा है, निरोग है । इस प्रकारका अटपटा उत्तर देते हैं ।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि अपनी आत्मामें स्थिर रहें, किसी भी पदार्थकी आशा न करें । जब कोई आशा न रहे तो यह जीव अपने आपमें ही विश्राम लेगा, क्योंकि जीव का स्वभाव तो कुछ न कुछ चेतनेका रहता है । यदि यह बाह्यपदार्थोंमें न चेतेगा तो अपने आपको देखने जानने लगेगा । इसीमें सुख है । इसलिए अपने आपके आत्मस्वरूपको देखें और सुखी होवें ।

आशा गतास्तदा सिद्धिर्नाभिलष्यं यतस्तदा ।
स्ववृत्तिस्तत्पद तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४६॥

हम सब आत्मा सभी सिद्धिमय हैं । जो सिद्ध हुए हैं और उत्कृष्ट सिद्ध हुए हैं, जैसी सिद्धि मुक्त आत्माओंने पाई है वैसे ही सिद्धिका हम सबमें मादा है । इसलिए हम सब स्वयं सिद्धिमय हैं । जैसे जीव सिद्धिके लिए तरसते हैं कि हमको अमुक चीज सिद्धिनहीं है । सिद्धि करना है, वे सब सिद्धि असिद्धियां सब आत्मा ही की कलायें हैं, लेकिन इन सिद्धियों में बाधा है तो एक आशाकी बाधा है । किसी परकी आशा लग गयी तो सारी सिद्धियां रुक गई । जैसे किसी सुरम्य चीजके देखनेमें बीचमें कोई पर्दा आ जाये तो सारी सुरम्य चीज का आवरण रुकने लगेगा । इसी प्रकार जितनी सिद्धियां हैं, जितने चमत्कार हैं, जितने सब वैभव हैं उनके ऊपर एक विषाशाका आवरण लगा है कि ये सिद्धियाँ रुकी हैं । सिद्धियां तो आत्माका परिणमन है ।

विद्यासिद्ध, ज्ञानसिद्धि, आत्माका प्रताप तेज–ये सब आत्माके परिणमन है । आत्मा का ही कोई परिणमन हो सकता है । पमार्थसे एक द्रव्यके परिणमनको दूसरे द्रव्यका परिणमन नहीं रोकता है । निश्चयसे उस दृष्टिके परिणमनको रोकने वाला उस ही द्रव्यका कोई परिणमन तेज प्राप्तिका होता है । जितनी सिद्धि हैं, ज्ञानकी सिद्धि अथवा आत्माकी सिद्धि हैं, सबको रोकने वाला आत्माका ही कोई परिणमन होना चाहिए । हम आशा करते हैं इस कारण प्रगति रुकी हुई है । हम सिद्धि के योग्य नहीं बन पाते हैं । और जिस समय

आशा नष्ट हो जाती है उसी समय सारी सिद्धि प्राप्त हो जाती हैं।

हम भगवानके आगे दर्शन करने आते हैं, पर आशा लेकर आयें तो न तो वह सिद्धि मिलती है और न वर्तमानमें पूज्य पुण्य मिलता है। भगवानके दर्शन करके संसारी जीव आशा रखते हैं, न तो वह चीज मिलती है, क्योंकि वे अधर्मको साथ लेकर चल रहे हैं तो पुण्य कहाँ तक फल देगा ? दूसरे मोक्षमार्ग भी रुक गया। प्रभुदर्शनका वास्तविक लक्ष्य समाप्त हो गया। सो प्रभुके जब दर्शन करने जायें तो इच्छा कुछ नहीं चाहिये। यह भाव बने कि हे प्रभु ! मुझे कुछ नहीं चाहिये, ऐसा फकीर दिल होकर प्रभुके दरबारमें जाये तो कुछ सिद्धि हो सकती है। आशा खत्म हो तो सिद्धि है। यही मोक्षमार्गकी बात है, परमार्थकी बात है। परिवारकी बातोंसे गृहस्थीको मेल नहीं लगाना चाहिये। जब परमार्थ की ओर हम चलें तो अपनेको गृहस्थी भी नहीं समझना चाहिये। जैसे हम साधनामें लगें प्रभुकी भक्तिमें लगें, और लगे रहे तो उस समय हम अपनेको गृहस्थी न अनुभव करें कि मैं दो लड़कों वाला हूं, मैं ऐसी पोजीशन वाला हूं। इस बातका तो ख्याल नहीं रखना चाहिये, क्योंकि परमार्थके काममें लगनेकी इसने योजना बनायी है।

भैया ! जिसके यह आशा जब तक रहे तब तक वह पनप नहीं पाता है और बतावो भैया ! इस जगत्में इच्छा करने लायक वस्तु कौनसी है ? कौनसी चीज ऐसी है कि जो मेरे पास रहे और मुझे शांति दे सके। प्रत्येक वस्तु पृथक् है, उसका परिणाम उसके अनुसार है, उसका संयोग वियोग जितना जब जैसा होता है, उन पर मेरा अधिकार नहीं है। परपदार्थ कोई भी शांतिके कारण नहीं होते हैं। मेरी शांतिका हेतु तो मेरा ही दर्शन है, मेरा ही आलम्बन है। एक निज एकत्व पर दृष्टि हो तो शांति मिले। इस जगत्में इच्छा करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है। मैं अपने आपमें ही लीन रहूं, यदि ऐसी वृत्ति रहे तो यह मेरा उद्धार करने वाली है।

भैया! जब इन चर्मचक्षुओंको बाहर पसारकर देखो तो एक लालसा आ जाती है। फलां मिनिस्टर कैसे बढ़ रहे हैं, कितनी उन्नति पर हैं ? जब देश धार्मिक रूपसे चलता है तो उस देशकी प्रसिद्धि अधिक हो जाती है फिर यत्न कर, चलकर वहाँके लोगोंमें धर्मके मामलोंमें शिथिलता बढ़ जाती है, फिर तृष्णायें बढ़ने लगती हैं। जगत्के लिए मैं कुछ बनकर रहूं ऐसी भावना वाले धर्मकी साधना नहीं कर सकते हैं। परपदमें शांति नहीं, वह निज पर क्या है ? अपना सहज चैतन्यभाव है। 'मैं रहूं आपमें अपने आप लीन' ऐसी वृत्ति हो तो उसीमें शांति है, उसीमें सुख है। सो अपने आपमें ऐसी भावना बनें और अपने स्वरूहमें झुककर अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होवो।

यावन्मूर्च्छाऽस्ति कस्मिंश्चित्तावन्निःशल्यता न हि ।
स्ववृत्तौ नास्ति मूर्च्छाऽतः स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥४-४७॥

जब तक इस जीवके किसी भी पदार्थकी मूर्छा है तब तक इस जीवके निःशल्यता कभी नहीं हो सकती । वे मूर्छा कहते हैं दोषोंको । लोकमें मूर्छाका अर्थ है कि भ्रम बुद्धि करना, मतलब परमें अहम् बुद्धि करना, यही मूर्छा है । सो ठीक ही है जब तक हम किसी परपदार्थमें लीन हैं तब तक मूर्छा रहती है परन्तु जब अपने भीतरमें लीन हैं तब तक होश बना रहता है । जो परपदार्थसे ही बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनाते हैं, भीतरमें उमंग बना बना-कर बाह्य पदार्थोंमें ही लीन होते हैं उनके होश कैसे आयेगा ? उनके तो बेहोशी बनी रहती है । भीतरमें होश उनके नहीं है । ऐसी मूर्छाको बेहोशी कहो, ममता कहो एक ही बात है। ममताका ही नाम बेहोशी है ।

भैया! जब तक मूर्छा है तब तक इस जीवको निःशल्यता नहीं हो सकती । मूर्छाको ही बेहोशी कहते हैं, इसमें तो कुछ शक नहीं है । यह मूर्छा जब तक रहती है तब तक निः-शल्यता नहीं आती, यह समझ जगनेमें ही कल्याण है कि मैं सहज चैतन्यमात्र हूँ । इस आत्मामें अपने आपकी सत्ताके कारण जैसा इसका स्वरूप है वही मैं हूँ, इस प्रकार अपना स्वभाव उपयोगमें निकट लाकर इस आत्मामें मिलना चाहिए, ऐसी वृत्ति हो तो मूर्छा मूर्छा नहीं है, बेहोशी नहीं है । भोगोंको जानकर कुछ यत्न करना, विस्तार बनाना, फैलाव बनाना यही तो सब बेहोशी है । जितना ही अपने आत्माके स्वभावके निकट आवे उतनी ही सावधानी है ।

यदि मूर्छाकी स्थिति बनेगी तो वह अपने आपको सतायेगा और यदि सद्गुण करके, भगवान्‌की भक्ति करके अपना उपयोग ज्ञानानुभवका बनायेगा तो बेहोशी नहीं है । हे प्रभु! मूर्छारहित परिणामका आदर करूँ । इन मूर्छाके परिणाममें क्या रखा है ? अपने अपने घरमें देख लो कि कोई १० वर्षमें मरा, कोई २० वर्षमें मरा, कोई ५० वर्षमें मरा तो कोई कभी मर गया । पर जबसे यह जीव पैदा हुआ तबसे मूर्छाका ही तो काम किया। जब बच्चा दो वर्षका हो जाता है तभीसे उसमें मूर्छा आ जाती है। भला उसके घरसे उसके रहते-रहते कोई समान तो ले जावे । बचपनसे ही उस बच्चेमें मूर्छाका प्रारम्भ हो जाता है । सबने अब तक मूर्छा तकका ही काम किया, उससे कुछ हाथ लगा हो तो बतलावो सब रीतेके रीते बैठे हैं ।

आप अपनेको अनुभव करके देख लो—अकेले ही हो, केवल हो, जैसे हो सके वैसे ही हो, कुछ साथ नहीं है । जो अपने आत्मस्वरूपको अपने दिलमें बसाये रहता है उसका

कोई दुश्मन नहीं है। यदि कोई दुश्मन है तो मोह ही है। यह मोह पतनके लिए, दुर्गतिके लिए आता है। खूब देख लो, ज्यादा राग हुआ तो पतन है। जो हमारा जैसा इष्ट है उसको देखकर हम फूलें नहीं। अपना रक्षक तो अपनी दृष्टि है, आत्मदया ही अपनेकी रक्षा कर सकती है। सो इन क्लेशोंसे हटो, मूर्छाको अपनेसे हटाओ और अपने स्वरूपको देखकर अपने आपमें सुखी होवो।

देहिनां देहभोगानां दुःखं संयोगतस्ततः।
संयोगं कस्य वांछानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४८॥

शरीर और भोग दोनोंका जो संयोग है यही माया है, यही दुःखका कारण है या तो देहका संयोग जीव चाहता है या भोगोंका संयोग जीव चाहता है। दो ही तो चीज हैं। चाहने के लिए इन मोहियोंको देह और भोग है। देहमें तो आया खुदका शरीर जिसमें कि यह मोही रहता है। भोगोंमें आये पंचेन्द्रियके विषय और छटवां मनका विषयभूत अनेक अटपट ख्याल ये ही तो सब भोगते आये हैं। देहमें आया शरीर और बाकीमें आयीं और सारी चीजें। इनका जो संयोग है उन्हींसे तो इन देहियोंका ऐसा देखना जानना बन गया है। जहाँ तक देखते हैं, सभी इस शरीरमें ही उमंग रखे रहते हैं। अपनेमें सद्बुद्धि आये, उनसे चित्त हटे तो ज्ञानप्रकाशका अनुभव हो। उसमें होने वाली जो सहज निराकुलता है उस निराकुलताका स्वाद आये तो उसका उसे स्पष्ट पता होगा, पश्चात् कि समस्त संयोग दुःख रूप है।

इन दुःखोंका कारण है जो चीज जैसी है उसको वैसी न मानना वैसी न जानना है। बस इसीसे तो दुःख है। मोटे-मोटे दृष्टान्त ले लो घरमें कोई तीन महीनोंसे बीमार हों बड़ी कठिन बीमारी हो जैसे कह लो कि दूसरे स्टेजकी टी० बी० हो गयी हो, बहुत दिनों से बीमार हो, उसके बचनेकी कोई आशा न हो, ऐसा बहुत दिन पहलेसे ज्ञान हो गया, महिनों पहिलेसे ज्ञान हो गया, उसकी सेवा भी करते रहें और अगर वह भी गया तो घर वालों के दिलमें इतना धक्का नहीं पहुँचता है, क्योंकि उसके मर जानेका ज्ञान पहिलेसे था। और अगर कोई हट्टा-कट्टा हो, घरका प्यारा हो, वह अचानक गुजर जाये तो बतावो उसके घरके लोगोंको कितना दुःख होगा ? इसका बहुत ही बड़ा दुःख होगा क्योंकि पहिलेसे कुछ मालूम न था।

इसी तरह अनित्य तो चीज है और उसे नित्य मान बैठे तो जो कुछ समागम मिले हैं वे सब विनाशीक तो हैं ही, वे नष्ट होने वाले हैं, उनके नष्ट होने पर दुःख होगा ही। देखो भैया, अपने घरके मिले हुए समागमके विषयमें कोई यह ख्याल नहीं करता कि मिट

जाने वाली चीजें है। दूसरोंकी चीजें मिटने वाली हैं यह झट समझमें आता है ये चीजें जब मिटती हैं तो उनमें आसक्ति करनेका फल क्या होता है कि तीव्र क्लेश उठाने पड़ते हैं। जैसी बात है तैसा न मानना, यही दुःखका कारण है। अभी कोई विपत्ति आ जाये, प्राणों पर संकट आ जाये तो दुःख होगा। क्यों दुःख होता है कि मनमें आ गया कि हाय हम मर जावेंगे, बरबाद हो जावेंगे।

मैं क्या हूँ ? मैं एक सत् हूँ, चैतन्य हूं, अविनाशी हूं, मरने वाला नहीं हूं, सदा रहने वाला हूँ, ऐसो दृष्टि आये और यह सोचें कि यह समागम झूठा है, मायारूप है और फिर समागममें सर्वत्र मौजूद हैं। जहाँ यह जीव जायेगा तहाँ समागम तैयार है। कैसा भी हो समागमका जो आदर है वह व्यामोह मात्र है। यह छूटता है तो इसका खेद ही न होना चाहिए। ये समागम मेरे नहीं हैं, ये तो मेरेसे अत्यन्त दूर हैं। शुद्ध दृष्टि करके देखो तो ये बाहरी पदार्थ हम आपसे अत्यन्त दूर हैं। इस आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाला यह शरीर भी तो इस आत्मासे अत्यन्त दूर है। जितना दूर हजारों कोसमें रहने वाला पदार्थ है उतना ही यह मेरे एकत्रावगाहमें रहने वाला शरीर भी इस निजक्षेत्रसे अत्यन्त दूर है।

स्वरूपदृष्टि करके देखो–किसीके स्वरूपमें अन्य कोई मिला हुआ नहीं है। जितने दुःख इस जीवको है वे इस जीवके देह और भोगोंका संयोग विकल्प पाकर हो जाते हैं। जितने भी संयोग हैं उन संयोगोंसे दुःख ही होते हैं। तो बाह्य पदार्थोंका संयोग जब होता है तभी दुःख होते हैं। यदि संयोग न हो तो दुःख भी क्यों हों ? अर्थात् संयोग न हो तो वियोगकी अवस्था ही क्यों हो, जितने भी लोग हैं वे पत्नियाँ हैं या अन्य कोई हैं वे क्या हजार वर्ष तक रहेंगे ? अभी हो बतावो चाहे पत्नीका वियोग हो, होगा तो अवश्य तब तो होगा। वियोगका कारण तो संयोग ही है। यह संयोग ही सब जीवोंके दुःखका कारण है। सो इस संयोगमें रुचि न करें तभी सुख प्राप्त हो सकता है।

भैया, जितने भी परपदार्थ हैं उनसे कुछ नहीं मिलता है। हम स्वयं अन्य पदार्थों बारेमें ख्याल बनाकर दुःखी हो रहे हैं। उन बाह्य पदार्थोंसे हमें दुःख आता हा तो बतलावो ये तो हैं और परिणमते रहते हैं। इतनी ही तो बात है। इन सब पदार्थोंकी सत्ता अलग है, वे सब हैं, और अपनेमें ही परिणमते रहते हैं। अगर परपदार्थोंका निमित्त पाकर हमें दुःख आते हैं, तो परपदार्थोंका इसमें कोई कसूर नहीं है जितने भी कष्ट होते हैं वे दूसरों के द्वारा नहीं होते हैं। अपनेमें ही उनका ख्याल करके दुःख बना लिये जाते हैं।

जब दूसरे पदार्थोंसे दुःख नहीं होते हैं तब ख्याल बनाना व्यर्थ है कि परवस्तुवोंसे हमें दुःख आते हैं अज्ञानसे दुःख होगा प्राकृतिक बात है। प्रभु जिनेन्द्रके शासन में यह स्पष्ट घोषित है कि इस जगत्में सुख और दुःखका प्राप्त होना यह सब ज्ञानके ऊपर निर्भर है। यदि अपनेमें सम्यग्ज्ञान है तो सारे क्लेश हट जावेंगे। वस्तुवोंका संयोग करके तो दुःख न मिटेंगे।

भैया, यह दुर्लभ नरजीवन पाया है, इसमें भी उच्च बुद्धि प्राप्त हुई है, उच्च विचार प्राप्त हुए हैं, श्रेष्ठ धर्म प्राप्त हुआ है यदि सम्यग्ज्ञान न किया तो सब व्यर्थ ही चले जायेंगे और यों ही अगर मर गये तो समझो सारी लुटिया डूब जायेगी। ऐसी वांछा बने कि हमें परपदार्थोंका उपयोग नहीं करना है। किसी भी पदार्थ की वाञ्छा न करके अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होना है।

यदाप्नोति सुखं स्वस्थो न तल्लेशं प्रतिष्ठितः।
स्वास्थ्ये शं न हि रागेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१॥

अपने आपकी आत्मामें स्थित होने वाला जीव जिस सुख को प्राप्त करता है उस सुख के लवलेशको भी बड़े-बड़े दुनियाके प्रतिष्ठित पुरुष भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। पंचेन्द्रियों का विषय है—रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द, और इनके अतिरिक्त और जितनी भी झंझटें हैं वे सब सबके विषय हैं। जितना भी वैभव आये तो लालयायित रहना, दुनिया में अपनी इज्जत चाहना, इज्जत बढ़ाने का यत्न करना—ये सब मनके विषय हैं। जो असंज्ञी जीव हैं। उनमें मनके विषयोंकी झंझटें नहीं है, पर उनमें इज्जतके परिणमन आते हों ऐसी बात नहीं है।

संज्ञी जीव मानते रहते हैं सन्मान अपमानके सुखःदुख सो मानने वाले जीवोंका यश बेकार है प्रतिष्ठा पायी, सन्मान किया, ये तो लोभ के साधन हैं। दुनिया सबके लिये तरसा करती है। सो सुखमय तो सहज ज्ञानस्वरूप यह अपने आप है, अपने सत् के कारण है। एक उस स्वरूपका ही अपना उपयोग बना रहें उसे तो कहते हैं आत्मामें स्थित है। और आत्मामें न ठहरें बाहरके पदार्थोंमें ही दृष्टि रहे, बाहरी पदार्थोंमें ही मोह ममता रहे ये सब कहलाते हैं प्रतिष्ठाके सुख। इन दोनों सुखोंमें कितना अन्तर है? स्वस्थितिमें किसी परवस्तुको आश्रय न करके स्वयं होने वाले सुख का परिणमन है, और प्रतिष्ठामें अनेक प्रकार के लोगोंका आश्रय करके विचित्र ख्याल बनाना ही दुःखका परिणमन है। केवल कल्पनामात्र सुख है।

काल्पनिक सुखके पीछे दौड़नेसे प्रतिष्ठामें सुख प्राप्त नहीं कर सकते, प्रगति नहीं कर सकते। मनका काम विवेक करना था, कोई ऊँचा लाभ उठानेका था, उपयोगको ज्ञान-देवके दरबार तक पहुँचा देनेका काम था। और यदि इज्जत प्रतिष्ठामें मुग्ध हो गया तो एकदम पतन हो गया। जैसे एक ज्ञान चौपरका पर्चा होता है, जिसमें कहीं-कहीं पर साँप बने होते हैं, उन साँपोंके मुँहके पास गोट पहुंच जाये तो नीचे पतन हो जाता है। यदि एक गोट सीढ़ीके पासमें है तो वह गोट ऊपरको चढ़ा दी जाती है। जब नम्बर बदला और ऊँचेके खंडमें बड़े साँपके मुंहमें गोट आ गयी और मुंहमें वहाँसे वह गोट गिरी तो बिल्कुल नीचे आ जाती है। इसी तरह इस मनुष्य पर्यायको पाकर यदि गिरे तो बिल्कुल ही नीचे गिर जायेंगे।

सबसे बड़ा नाता है यही प्रतिष्ठाकी दृष्टिका। जो सबसे ऊपरसे खानेमें नाम बना है वह बड़ा साही है। जितना विशेष लोकोत्सर्ग हो गया उतना ही अधिक प्रतिष्ठाभाव हो सकता है याने वह बड़ा नाम बन जाता है। सो इस बहुत बड़े मनुष्यपर्यायमें आये तो यहाँ से गिरेंगे तो बहुत विकट गिरेंगे। जो बड़े ऊँचेसे गिरता है उसको अधिक चोट आती है।

भैया, प्रभुके दर्शन मिलें ऐसा भी मनका उपयोग किया जा सकता है, उसका उपयोग धर्मध्यानमें भी किया जा सकता है, उसका उपयोग चिंतावोंमें भी किया जा सकता है, अपने-अपने अन्तस्तलके ध्यान में भी लगाया जा सकता है और यहाँ न लगाकर इन विषयों की ओर लगाया तो विषयोंमें ज्यादा तेज जा सकता है। पशुवोंका क्या है कि उनका किसी प्रकारके इन्द्रियविषयोंको करना है तो वे एकदम गंवारपनसे करेंगे। परन्तु मनुष्यों को अनेक कलायें याद हैं। कविता बनाना, अच्छे ढंगसे बोलना इत्यादि कलावोंसे विषयों की वासनाका कोई गुण बढ़ाकर मग्न हो सकता है।

मनुष्यके हित करनेके जो साधन हैं उनमें उनकी इज्जत और प्रतिष्ठाके साधन भी हैं। अब यह बताओ कि ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें यहाँसे मरकर किसी दूसरी जगह भी पैदा हो गये तो यहाँका कुछ सम्बन्ध रहेगा क्या ? नहीं।

कोई किसीकी प्रशंसा करता है तो वह वहाँके मायामय स्वरूपोंको देखकर स्वयं माया-मय हो उनकी ही प्रशंसा यह कर दिया करता है। उससे कुछ भी तो लाभ नहीं है, पर हठ इतना है कि जैसे कहावतमें किया करते हैं कि पंचोंका हुकुम सिर माथे है, परन्तु पतनाला यहींसे निकलेगा। पूज्यपाद स्वामी जी की बात सिर माथे, मगर अज्ञानका पत-नाला यहींसे निकलेगा। जो कुछ करोगे उसका फल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। "चार दिन की चाँदनी फिर अंधेरी रात।" बाह्यदृष्टिमें सर्वत्र देखा, भैया! दुःख हैं, झंझट हैं, जिधर देखो उधर ही स्पष्ट रूपसे झंझट ही दिखाई पड़ते हैं, पर वे सब झंझट, वे सब परेशानियाँ

इस जीवको अच्छी लग रही हैं। जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज सत्य लगती हैं। वैसे ही ये सब बाह्य चीजें सत्य लग रही हैं। जैसे स्वप्नमें देखते हैं कि शेर सामने आ रहा है, साँप काटनेके लिए दौड़ रहा है या राज्यपद मिल रहा है, ये सब सत्य लगते हैं। उसी प्रकार इन बाह्य चीजोंसे जो आनन्द मिलता है वह भी सत्य लग रहा है। यह माँ है, यह भाई है, यह सब सत्य लग रहा है। अरे ! ये सारे झंझट हैं।

जैसे स्वप्नमें देखी हुई चीज झूठ कब मालूम हो सकती है जबकि नींद खुल जाये। इस मोहकी नींदसे पूरा नहीं पड़ेगा। प्रतिक्रमणमें यह कहा करते हैं—'मिच्छामें हुक्कड़ं होज्ज।' अब इसका कितना अर्थ है ? अगर लोग सुनेंगे तो कहेंगे कि चार सौ बीस कर रहे हैं। लोग पुस्तक निकाल लेते हैं और पढ़ते हैं कि "मिच्छामें हुक्कड़ं होज्ज।"" याने सारे पापोंको कहा जाता है कि मेरे पाप मिथ्या हों। अरे ! मेरे पाप मिथ्या हो जायें यह न कहो। ज्यादासे ज्यादा यह कह लो कि ये पाप आगे न हों। यदि यह कहलाओ तो भी गनीमत है। वे तो सीधा यों ही कह लेते हैं कि मेरे पाप मिथ्या हों। ऐसा कह देते हैं कि जिसके आगे कहने की गुंजाइश ही न हो। क्या ऐसा ही कहना ठीक है ? परमार्थसे देखो तो इसमें ज्ञानकी बातें भरी हैं।

ये प्रतिक्रमण करने वाले ज्ञानी संत जब सहजस्वभावकी दृष्टिका स्वाद लेते हैं तो आत्माका जो ध्रुव स्वरूप है उस स्वरूपमय अपनी प्रतीतिकी अनुभूति करते हैं तब पश्चात् यह जितना परिणमन है संसारमें वह सब उसे नाटक मालूम होता है। इस नाटकमें पुण्य और पापके सब भाव आ गये। यह नाटक ही उपाधिका निमित्त पाकर हो गया है, इस मुझमें स्वरसतः नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें यह सब परिणमन मिथ्या है कि नहीं ? स्वभावदृष्टिकी यह बात है, सहजस्वरूपकी निजकी बात है। उस दृष्टिमें यह सब संयोगज भाव मिथ्या हुआ अर्थात् इसका ऐसा स्वरूप दृढ़ रहा कि जिसके आगे अन्य सब बातें मिथ्या हैं, नाटक हैं। दूसरी बात यह है कि मिथ्याका अर्थ है संयोगभाव। मिथ्यामें मिथ्या धातु है कि जिससे मिथुन और मैथुन शब्द बना, उससे ही मिथ्या बना। मिथ्यात्वका अर्थ अब घटा लो। उपाधिके संसर्गका निमित्त पाकर होना यह मिथ्यात्वकी बात है। वह अर्थात् विभाग उसके स्वरूपमें हो, स्वभावमें हो, उसके ही खुद एकत्वसे निरपेक्षतया हो ऐसी बात नहीं है। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूप हूं। ये सब विभाग पराधीन ही हैं, अध्रुव हैं सो मिथ्या हैं।

भैया, सब दृष्टिका प्रताप है यदि दृष्टि मिथ्यात्वकी है तो इससे सदा दुःख ही बने रहेंगे। यदि स्वास्थ्य रहेगा, स्वयंमें स्थिति होगी तो आनन्द रहेगा। साधन तो सभी

अपने आपके हैं, अपने स्वरूपसे बाहर अपना कोई साधक नहीं है। अपना उपयोग अपने सहजस्वरूपको ही अंगीकार कर रहा है, ऐसी स्थिति हो तो उसमें जो आनन्दको प्राप्त करता है उस आनन्दको बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पुरुष भी रंचमात्र भी नहीं पा सकते हैं।

आजके जमानेमें पंडित नेहरूको सब जानते हैं। जिसका देशमें विदेशमें नाम चलता है ऐसे प्रतिष्ठित पुरुषको भी वह आनन्द नहीं प्राप्त होता, जो स्वस्थितिका आनन्द है। अपने आपकी साधनामें रहनेसे ही सत्य आनन्द है। रागमें सुख नहीं है। रागोंको तो वेदना ही बताया है। रागोंसे तो जिधर जावो ठोकर ही मिलती है। जो तुम्हारा भला चाहते हों उनके पास पहुँचो तो ठोकर मिलती है।

वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि कोई भी वस्तु किसी पर कृपा नहीं कर सकती है। कोई कि भाई हमें बड़ा दुःख है, हमारा आधा दुःख बंटा लो तो उसके दुःखको बंटा ले ऐसा कोई नहीं हो सकता है। चाहे यह हो जाय कि मोह होनेके कारण वह भी दुःखी हो जाय, नया-नया दुःख वह भी मोल ले ले, पर वह उसके दुःखको नहीं बटा सकता है। इस लिए प्रभु जिनेन्द्र देवका उपदेश है कि यदि विपत्तिके पीछे ही दौड़ते रहे, मोह ममतामें ही रहे तो बड़ा भारी खतरा है। यदि इस खतरेसे बचना चाहते हो तो राग, द्वेष, मोह आदिको छोड़ो, अपने आपके निजस्वरूपको देखो, अपने भीतरकी यात्रा करो तो शिवमय बन जावोगे, यह प्रभुका उपदेश है और यही आचार्योंने ग्रन्थोंमें कहा है कि सबोंको छोड़र अपनी और आवो, इसमें ही तुम्हें शांति प्राप्त हो सकती है।

चिन्तेच्छया ततः क्लेशो गताशः सौख्यसागरः।
गताश्यं मंगलं स्वास्थयं स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥५-२॥

जीव पर कितने संकट हैं ? भिन्न-भिन्न प्रकारके संकटोंको सोचते जावो। संकट विकट हो जाते हैं आखिर उनका मूल मामला क्या है ? इसकी खोज जब करने चलो तो मिलता क्या है ? केवल इच्छा। इच्छाके कारण ही इतने बड़े संकटोंका बोझ लद गया। यह क्या मामूली बात है कि यह जीव शरीरके बंधनमें फंसा है। यहाँसे हट नहीं सकता है। शरीर जाये तो आत्मा साथमें घिसटता रहता है। आत्मा जाये तो शरीर भी साथ-साथ घिसटता जाता है। आत्मा छूट जाये तो मरनेके बाद यह स्थूल शरीर तो नहीं जाता किन्तु सूक्ष्म शरीर अर्थात् कार्माण शरीर और तेजसे चिपटा चला जाता है।

भोगोंको चाहने वालोंको दुःख तो आते ही हैं देखो एक तो वे मनुष्य हैं कि जो भूख प्यासके मारे परेशान रहा करते हैं और दुःखी हुआ करते हैं और दूसरे वे जो हटटे कटटे हैं, जहाँ गये तहाँ अच्छे आरामसे रहते हैं। अच्छा भोजन भी आनन्दसे करते हैं। चारपाई

पर पड़े हैं फिर भी ख्याल बना-बना कर दुःखी हुआ करते हैं। दिखाऊ स्थितिमें तो मौज में हैं, किसी भी प्रकारकी तकलीफ नहीं है, फिर भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनाएं करके ख्याल बना करके दुःख बना लिया करते हैं।

भैया, ख्याल बना करके तो लोग दुःखी हो जाते हैं। नहीं तो खाने पीनेकी सामग्री है, पहिननेके लिए कपड़े हैं, फिर दुःख काहेका ? और चाहिए ही क्या ? दुःख तो सबके झूठे हैं, पर भीतरमें वेदना तो सांची है। शरीरके इन झूठे संकटोंको भी भीतरसे वेदनारूप में देखो तो सच्चे लगते हैं। ये जो अटपट संकट इस जीव पर घिर गये हैं उन सबका मूल कारण क्या मिलता है ? केवल इच्छावोंका असर। एक भावात्मक चोज न करते तो क्या था ? और कर डाला तो इतनी विपत्ति है।

जैसे कोई किसी जगह किसीके लट्ठ मारे, झगड़ा हो जाये, विवाद बढ़ जाये तो वहाँ पर कोई आकर पूछता है कि आखिर क्या मामला है ? क्यों झगड़ा हुआ? तो उत्तर क्या मिलता है कि हुआ क्या, छोटीसी बात हो गयी है। अन्तमें देखते हैं तो क्या मिलता है कि ये बैठे थे और वहाँसे निकले तो इन्होंने उसको राम-राम नहीं कहा या कहा कि यह बड़ा घमंडी है। इसीसे विवाद बढ़ा और यह नौबत आ गई। तो देखो मूलमें बात कितनी छोटी है ? जरासी बातमें मार हो गयी। कोई-कोई जगह तो ऐसा झगड़ा हो जाता है कि जिस में कुछ भी कारण नहीं रहता। इसी तरह इतना जगजालका रूपक बन गया है, इसमें नाना प्रकारकी मलिनताएं बन गई हैं। एक दूसरेके भ्रम, मोह, राग द्वेष हो गया है, नाना संकट आ गये हैं। इसके मूलमें क्या निकला ? केवल इच्छावोंका असर।

भैया, एक कथानक है कि एक सेठजी थे। उसके एक धोबी कपड़े धोया करता था। एक दिन धोबी सेठके घर कपड़े देने गया। उस दिन धोबी रो रहा था कारण उस दिन धोबीकी गधीका एक बच्चा मर गया था। जिस गधेका नाम धोबीकी बच्चीने गंधर्वसेन रखा था। सेठने धोबीसे पूछा—क्यों रो रहे हो ? धोबीने कहा कि अरे तुम्हें मालूम नहीं, आज गंधर्वसेन मर गये हैं। सेठने कहा—अरे गंधर्वसेन जी मर गये ? धोबी बोला—हाँ गंधर्व-सेन मर गये सेठने यह सुनकर अपनी मूँछ बनवा ली। एक सिपाही सेठको मिला तो सिपाहीने सेठसे पूछा कि सेठजी, आज मूँछ क्यों बनवा दो ? तो सेठने कहा—अरे अभी तुम्हें मालूम नहीं, सारी रैयत, सारी प्रजा अपनी-अपनी मूंछ बनवावेगी, क्योंकि गंधर्वसेन की मृत्यु हो गयो है। अब सिपाहीने भी मूँछ बनवा ली। सिपाहीको कुछ ऑफिसर मिले, थानेदार, तहसीलदार आदि तो उन्हें भी सिपाही द्वारा ज्ञात हुआ कि गंधर्वसेनजी की मृत्यु हो गयी तो उन सबने भी अपनी-अपनी मूँछ बनवा ली। जब सब दरबारमें आकर बैठे

हुए थे, थानेदार, तहसीलदार इत्यादि सबमें बात चली कि वे कौन थे गंधर्वसेनजी, जिनकी मृत्यु हो गयी। तो थानेदारने कहा–मुझे सिपाहीने बताया। सिपाहीसे पूछा गया तो उसने कहा कि सेठ साहबने बताया। सेठ साहबने बताया कि हमें धोबीने बताया। धोबीसे पूछा गया तो धोबीने बताया हमारे घरकी गधीका एक बच्चा मर गया था, उसका नाम हमारी बच्चीने गंधर्वसेन रखा था। उसीके मरजानेसे मुझे दुःख रहा और मैं जब रोता हुआ सेठ के यहाँ गया तो सेठके पूछने पर मैंने बता दिया कि आज गंधर्वसेनकी मृत्यु हो गयी है।

देखो इस छोटीसी बातसे कितनी हलचल मच गयी। इसी तरह यह सारा विकट संकटजाल कितना इस जीवने बना लिया है ? बिना किसी कामके, बिना किसीं प्रयोजनके इस जीवने संकट बना लिया है इन भाव कर्मोंसे ही वे बाह्यपदार्थोंमें बंध गये हैं, अन्यथा उनका क्लेश पानेका और क्या कारण है ? बतलावो। भावकर्म ही क्लेशोंके कारण हैं और स्वयं क्लेश रूप हैं। द्रव्य कर्मोंका उदय उन क्लेशोंका कारण है। द्रव्य कर्मोंके उदयका कारण क्या है ? बतलावो। उन जीवोंका विभाव परिणमन ही उन द्रव्यकर्मोंके बंधनेका कारण था सो उसका विपाक आया, यहीं उदय होनेका कारण है। यह तो बड़ा अंधेर छा गया है। इच्छाएँ जो जीवोंको सुहा गयी हैं, जिनमें कोई सार नहीं है, अपने संकटोंके मूल कारण हैं। मोह लगा है, अज्ञान छाया है, वस्तुस्वरूपकी दृष्टि नहीं है, तो इतनी बात का बतंगड़ क्या बन गया ? यह सारा जगजाल।

इन संकटोंके दूर होनेका उपाय है वस्तुस्वरूपका ज्ञान। ये संकट वस्तुस्वरूपके ज्ञान से ही दूर हो सकते हैं। इच्छाएँ हो जानेसे चिंताएँ हो जाती हैं, क्लेश हो जाते हैं। इन क्लेशोंको दूर करनेके लिए मैं अपने ज्ञान स्वरूपको देखूँ और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

आकिञ्चन्भवं स्वास्थ्यं सुखस्वरूपकम्।
न किंचिन्मे न किंचिन्मे स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥५-३॥

स्वास्थ्य कैसे उत्पन्न होता है ? ऐसे प्रश्नोंमें कहा है कि स्वस्थ होनेका उपाय आकिंचन्य भावना है। ये जीव पदार्थोंको अपना कुछ मानकर उनकी ओरका विकल्प कर रहे हैं अर्थात् परकी ओर झुक रहे हैं। जब परकी ओर झुक रहे हैं तो अपनी ओर कैसे आ सकेंगे ? जब परका झुकाव मिटे तो अपने आपमें स्थिति हो। परमें झुकाव तब ही मिटेगा जब यह भावना हो कि जगत्में मेरा कहीं कुछ नहीं है। बात ऐसी ही है अन्यथा ऐसी भावना करनेके लिए कहा ही कैसे जाये ? बात और तरहकी हो और भावना और तरह की बनानेको कहा जाये तो यह विपरीत मार्ग है।

मेरा जगत्में कहीं कुछ नहीं है, क्योंकि समस्त परपदार्थ अपने स्वरूपके दृढ़ किलेमें है। जैसा कि मैं अपने स्वरूपके दृढ़ किलेमें हूँ। किसी भी पदार्थसे कुछ भी बात उस पदार्थसे बाहर नहीं निकल सकती। इसलिए सभी पदार्थ सुरक्षित हैं। किसीको गालियाँ दें और उनको सुनकर कोई गुस्सेमें आ गया तो गाली देने वाले पुरुषसे गुस्सा उसमें नहीं आया। गाली देने वाला तो अपने आपके कषायसे अपनी पर्याय कर चुका है। इतने तक ही उसका काम था। बहुत दूर खड़ा हुआ दूसरा पुरुष जो निश्शंक था, निर्दोष था उन गालियोंको सुनकर अपने भीतर ख्याल बनाता है व दुःखी होता है और गुस्सेमें आ जाता है। परपदार्थके काम उस ही अपनेमें समाप्त होते हैं, इस कारण किसी पदार्थसे किसी किसी दूसरे पदार्थका कुछ नहीं होता है।

भैया, हम जो यह भ्रम लिए हुए हैं कि हम बच्चोंको पालते हैं, उनकी रक्षा करते हैं सो देखो कितनी विचित्र बात है ? पुण्यका उदय उन बच्चोंका अधिक है कि आपके पुण्यका उदय अधिक है बतलावो ? अरे उन बच्चोंका ही पुण्य अधिक है जिनके पीछे हम आप रात-दिन परेशान रहते हैं। जिन बच्चोंको बड़े प्रेमसे खिलाते, बोम्बेसे बग्गी मंगाते, खिलौना मंगाते, नौकर लगाते, बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहिनाते, उनकी चाकरी करते तो अब यह बतलाओ कि पुण्योदय अधिक आपका है कि उन बच्चोंका ? इन बच्चोकी ममता में पड़े रहनेसे चिंताएँ बनी रहती हैं।

जगत्में कहीं भी अपना कुछ माना तो वहाँ विपदायें हैं। बतलाओ जरा अपनेमें इतने संकट कहाँसे पैदा हो गये ? अपनी ही गल्तीसे तो ये सारे संकट खड़े हो गये। भीतर में यह बुद्धि आये कि यह मेरा है, यह उसका है तो केवल भाव ही तो किया, पदार्थको नहीं बिगाड़ा और कुछ ऐब नहीं किया, बाहरमें किसीका नाश नहीं किया, भीतरमें यह सोच लिया कि मेरा कुछ है, इतनेमें इतना बड़ा संकट हो गया कि ये सारे बन्धन हो गये, फंसाव हो गये। मिलेगा क्या ? केवल पाप। यह मेरा है, यह उसका है खूब मानो, पर मेरा तो वह बनने का नहीं, क्योंकि वे भिन्न पदार्थ हैं। उन भावोंसे मिलेगा क्या ? केवल पाप, केवल कर्मबन्ध, केवल दिलमें दुःखी होना। मिलना कुछ नहीं। इसलिये जो कुछ चाहते हो उसमें मिलेगा क्या ? केवल खाक और कुछ नहीं आता।

एक सेठजी थे। उन्होंने नाईसे हजामत बनवायी। सेठजी बहमी थे। हजामत बनवाते जाते और सोचते जाते कि मेरी जान तो इसके हाथमें है। कहीं छुरा मार दे तो बड़ी आफत आ जायेगी। सो सेठजी कहते हैं कि देखो अच्छी तरहसे हजामत बनाना हम तुम को कुछ देंगे। उसने कहा—अच्छा हजूर। जब हजामत बन गई तो सेठने अठन्नी निकालकर

दी । उस नाईने कहा कि हमें अठन्नी नहीं चाहिए, हमें तो कुछ चाहिए । मोहर दी । कहा हमें यह भी नहीं चाहिए । हमें तो कुछ चाहिए । अब तो सेठजी परेशान हो गये । कुछ क्या चीज कहलाती है ? कुछ कोई चीज हो तो उसे दूँ । नाईने कहा कि आपने तो हमें कुछ देनेका वायदा किया । सेठ हैरान होकर नाईसे कहता है कि भैया, देखो, आलेमें गिलास रखा है उसे ले आओ, दूध पी लें । मैं तो परेशान हो गया । गिलास आलेसे उठाने गया, ज्यों ही गिलास उठाता है उसकी दृष्टि उस दूधमें ही जाती है । देखा कि इसमें क्या है ? दूधके अन्दर उसे कुछ काला-काला नजर आया । बोला कि इस गिलासमें कुछ पड़ा हुआ है । सेठजी कुछ आशुवृत्तिके थे । बोले कि क्या इसमें कुछ पड़ा हुआ है ? तो नाई बोला कि हाँ । सेठने कहा कि उसे तू उठा ले, क्यों कि तूने कुछ लेनेका वायदा किया था । तो उसे जिद करनेसे क्या मिला ? कोयला ।

जो हठ करता है उसे क्या मिलता है ? कोयला अर्थात् पाप कलंक का कोयला परपदार्थों को जो चाहता है उसे मिलेगा कुछ नहीं । पदार्थोंको अपना मानते जाओ । २०, २५, ३०, ३५, ४० वर्ष उनसे संयोग ही कर लो, यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह मेरा घरद्वार है ऐसा मानते जाओ । यह तो एक एकांकी नाटक सा हो रहा है । एक ही तरफसे हो रहा है । दूसरी तरफसे उत्तर कुछ नहीं मिलता । उन बाह्यपदार्थोंमें उजाला कुछ नहीं है दूसरे पदार्थोंमें कुछ कर देनेसे उन पदार्थोंसे इज्जत कुछ नहीं है वे सब मेरे लिए मौन हैं मैं हाथ-पैर जिस हिलाता हूँ, वजन उठाता हूँ,वह सब अपनी ही तरफसे उठाता हूँ ।

जैसे पहले बिना बोलता सिनेमा था, तो पर्दे पर जो आदमी बना होता था । वह अपने ओंठ केवल हिलाता रहता था, हाथ-पैर हिलाता रहता था न बोलता सिनेमामें ऐसा नजर नहीं आता था कि यह इससे कुछ कह रहा है । केवल मुँह पर्दे पर चलता रहता था । उसका शरीर उस पर्दे पर चलता फिरता रहता था । उनका परस्परमें कुछ सम्बन्ध सा नहीं नजर आता था । तितर-बितर चित्र नजर आते थे । इसी तरह ये सब बिखरे हुए चित्र सामने हैं । किसीका किसीमें कुछ नहीं है । इन पदार्थोंमें चाहनेका जो विकल्प रखते हैं वे अपने स्वरूपमें स्थित नहीं हो सकते अर्थात् उनका स्वास्थ्य नहीं बन सकता यहाँ स्वास्थ्यका मतलब शरीरकी तन्दुरुस्तीसे नहीं है । स्वास्थ्यके मायने समता, समाधि, शांति, निर्विकल्प परिणमनसे है ।

सुख तो स्वाथ्यमें भरा ही है । आनन्द तो अपने आप स्थित होनेपर ही है । यह भावना होनी चाहिए कि मेरा कुछ नहीं है । देखिए आँखके आगे तिल बराबर भी कागज लगा दिया जाय । तिलके आगे तो सारा पहाड़, सारा लोक जो दिखनेमें आता है वह सब ढक

जायगा। कोई कहे कि बड़ा गजब है। तिलके दानेके बराबर ही तो कागज चिपका हुआ है, मगर यहाँ सब ओझल हो गया, ढक गया। जैसे जरासे कागजकी ओटमें सब कुछ ढक जाता है, इसी तरह अणुमात्र रागसे भी यह आत्मस्वरूप ढक गया।

कोई कहे कि न तो हम किसीको सताते हैं, न खोटा व्यवहार करते हैं, चुपचाप रहते हैं, २०० रु० महीना किराया आता है, हम पुरुष स्त्री दो जने हैं, खूब आनंदसे गुजारा होता है। हम किसीकी बुराईमें नहीं पड़ते, किसीको कभी कुछ बुरा नहीं कहते। मुझे दुनियाके किसी पदार्थमें राग नहीं है। मैंने सबका राग छोड़ दिया, पर थोड़ा स्त्री भरका राग हैं और बाकी राग छोड़ :दिया। तो वह तनिक हो या मनिक, राग है तो सारा आत्मस्वरूप ढका है। राग है तो ज्ञानानुभव नहीं हो सकता है। हम कह रहे हैं उस राग की बात जहाँ भीतरमें यह बुद्धि है कि मेरा हो तो है अर्थात् अनन्तानुबन्धी रागकी बात। मिथ्यात्वकी बातें हैं तो आत्माका कल्याण नहीं हो सकता।

भैया ! अपनेमें ऐसी श्रद्धा आनी चाहिए कि मैं निर्मल हूँ। जगतके सब पदार्थोंसे हटा हुआ हूँ जैसे कि मुनि रहते हैं। ऐसे भाव न बनें कि वे तो मुनिराज हैं, उनकी श्रद्धा पूरी है। वे समझ रहे हैं कि मेरेमें श्रद्धा कुछ नहीं है। सो हम क्रोध करें, अपने घरके दो-चार प्राणियोंको समझ लें कि मेरे हैं। इस प्रकारके विचारोंसे तो क्रोधका मार्ग बना ही रहेगा। साधुमें और गृहस्थमें चरित्रकृत भेद है, श्रद्धामें भेद नहीं है। श्रद्धासे हम जगतके समस्त पदार्थोंसे परे न्यारा अपने आपको निरख सकते हैं। यदि हम ऐसा कर सकते हैं तो समझें कि धर्मपालनके कदममें चल रहे हैं।

मेरा कुछ नहीं है ऐसी बार-बार भावना करो। कुछ समय जबरदस्ती भी गाते रहो कि मेरा कुछ नहीं है। फिर अन्तरमें भी ऐसी भावना हो जायेगी कि उपाय तो असली वस्तुस्वरूपके ज्ञानका करना है। जब यह बात बैठ जाती है कि जगत्में मेरा कुछ नहीं है तब इस भावनासे ही स्वास्थ्य पैदा होता है, आत्मामें स्थिरता होती है। ऐसा स्वास्थ्य करके अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

यदा यत्कर्त्तुमायात्वायातु चेन्न मया कृतम्।
ज्ञप्तिमात्रविधौ शक्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४॥

जिस समय जो बात करनेमें आती हो आवो, जो बात मुझ पर गुजरती हो, गुजरे, फिरभी उसे मैंने नहीं किया। यह हो रही है ज्ञानीको भावना जिसने अपने सहजस्वरूप पर दृष्टि दी है। यह मैं एक शुद्ध चैतन्य वस्तु हूँ। मेरा स्वयं काम तो केवल जानना देखना है।

और यह अन्दाज हो रहा है कि राग द्वेष विषयकषाय झगड़े–ये भाव तो पर्यायमें हो रहे हैं। जो कुछ करनेमें आ रहा है, आवे, तो भी वह मेरे द्वारा किया हुआ नहीं है, क्योंकि मैं तो केवल जाननेके काममें ही समर्थ हूँ। मेरा काम जानना देखना है। बाकी और काम उपाधिके संसर्गसे उत्पन्न होते हैं। इस तरह अपने शुद्ध स्वरूपको देखने वाले ज्ञानी इन सब बखेड़ोंसे विरक्त रहते हैं।

भैया, अपना काम तो केवल जानना देखना है। यदि ऐसा ख्याल है तो घरमें रहते हैं तो आनन्द, कहीं भी रहें तो आनन्द। कुटुम्ब परिवारके लोगोंसे हितकी बात समझा दी जाय, प्रेमसे बात समझा दी जाय तो भी वे नहीं समझेंगे और डाँट डपटकर समझाया जाय तो भी वे नहीं समझ सकेंगे। जो लोग कुटुम्ब परिवारके लोगोंमें अपना हित नहीं समझते वे देखने जानने वाले ज्ञानी जीव हैं। घरके ये जो चार जीव हैं उनसे शांति न प्राप्त हो जायगी। यदि परके स्वभावके ज्ञातामात्र रहो तो शांति होगी।

एक किसान और किसानिन थे। किसानिन शांत थी और किसान क्रोधी था। उसने बहुत चाहा कि इसे कुछ पीट लें, मगर शांतिके कारण किसानिनको किसान कभी पीट न सका था। निम्न श्रेणीके जो लोग रहते हैं वे स्त्रीको एक दो बार पीट लेने पर ही अपनेको मर्द समझते हैं। ऐसी कुबुद्धि उनमें छायी हुई है। आषाढ़के महीनोंमें वह किसान एक दिन खेत जोत रहा था। दोपहरमें रोज-रोज स्त्री उसके लिए रोटी ले जाया करती थी। तब किसानने एक षडयन्त्र रचा। एक बैलका मुंह पूरबको किया, एकका पश्चिमको किया और जुवां दोनों बैलोंकी गर्दन पर रख दिया। उसने यह सोचा कि ऐसी विचित्र हालत देखकर कुछ न कुछ तो बोलेगी ही, क्या लड़कों बच्चोंका गुजारा इस तरह हो जायेगा ? इस तरह से कुछ न कुछ तो कहेगी ही, सो हमें पीटनेका मौका मिल जायेगा। स्त्री आई और बाहर से ही सब तमाशा देख लिया। उसकी समझमें झट आ गया कि आज पीटनेका कार्यक्रम बनाया है। वह आई व बोली कि चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा, इससे हमें क्या प्रयोजन ? हमारा काम तो केवल रोटी देनेका है, ऐसा कहकर रोटी धरकर चली गयी। किसान बैठा ही तकता रह गया। यह ज्ञानका ही फल है जो वह निर्बाध रह सकी।

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, ज्ञायकस्वरूप हूँ, सबसे निराला हूँ। अन्यकी परिणतिसे मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है। ज्ञानकी स्थिति इस प्रकारके परिणामके अतिरिक्त अन्य कल्पनाओंसे आ सकती है क्या ? क्या ऐसी भी कोई माँ है कि बच्चेको बिना पानी छुवे तैरना सिखा दे ? ऐसा तो नहीं हो सकता है। अगर हम अपनेमें ज्ञान करना चाहते हैं तो जो ज्ञायकस्वरूप ही उसका ज्ञानोपयोग द्वारा स्पर्श करें, तभी प्रभुके पास पहुँच सकते हैं, हम

अपने जीवनको सफल कर सकते हैं। ऐसा उपयोग करनेसे ही हम अपना मन शान्त रख सकते हैं। ईर्ष्या, माया, मद, लोभ इत्यादि तो व्यर्थकी बातें हैं।

अब तो प्रायः यह जमाना है कि बाल बच्चोंके लिए तन, मन, धन सब खत्म कर दो। फिर भी सत्कार नहीं मिलनेका है। यदि अपना जीवन सफल बनाना है तो एक घंटा रोज स्वाध्याय करो, चर्चा करो। यदि हम अपने ज्ञानका चमत्कार करना चाहते हैं तो अपने आपसे ही कर सकते हैं। घरके तीन चार प्राणियोंके नौकर बने रहनेसे, समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेनेसे, शरीरको सुख देनेके साधन प्राप्त कर लेनेसे अपना कल्याण नहीं होगा।

कुछ भी हो आप प्राचीन ग्रन्थोंका नियमित अध्ययन करो, यदि उन प्राचीन ग्रन्थों को नहीं समझते हो तो उनके अनुवादरूप सरल ग्रन्थोंको रख लो। उन सरल ग्रन्थोंसे अपने छोटे-छोटे बच्चोंको शिक्षा दो। मगर नियम बना लो कि रोज एक घंटा स्वाध्याय करेंगे। मिल-जुलकर सब लोग एक घंटेका समय दिया करो। आपसमें एक दूसरेसे धर्मचर्चा किया करो। ऐसा केवल एक सालका नियम बना लो। केवल एक घंटा समय स्वाध्यायमें लगावो तो देखो एक सालमें ही कितनी बुद्धि आ जायेगी। पर करना कुछ न पड़े और बुद्धि आ जाये यह तो नहीं हो सकता है।

भैया, जुट जावो ज्ञानार्जनमें। जिस वाक्य या प्रकारका अर्थ नहीं समझमें आता है उनको नोट करते जावो। जब कभी विद्वत्समागम मिले, यहाँ ऐसे प्रतिवर्ष मेलेमें विद्वत्समागम होता ही है। दूसरे वर्ष जब फिर मेला लगेगा तो हम लोग आयेंगे, कोई दूसरे आयेंगे, वे भी इसी प्रकारसे समझायेंगे। तो भैया अब जो कुछ सोचकर इस मेलेमें आये हो यह एक नियम अवश्य लेकर जावो। अपना समय व्यर्थ ही गप्पोंमें मत बितावो। बाकी समय अपनी कमाईमें लगावो, पर एक घंटा समय स्वाध्यायमें जरूर दो। यहाँसे सब लोग स्वाध्यायका एक घंटा धर्मचर्चाका नियम लेकर जावो, यही मेरी कामना है।

शास्त्राण्यधीत्य स्वास्थयं न सर्वविस्मरणाद्विना ।
तस्माद्विकल्पनास्त्यक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–५॥

स्वास्थ्य सर्वोत्तम कल्याण है। स्वास्थ्यके मायने हैं अपनी आत्मामें स्थितहो जाना। स्वास्थ्य कब हो, जब कि किसी भी परमें स्थिति न हो। अपने आपमें स्थित होते तब बनेगा जब किसी भी परमें हम न ठहरें। अपने आपमें ठहरना ही अपना स्वास्थ्य है। हम किसी भी परमें न ठहरें। स्वमें स्थित हो, सर्व परको भूल जायें। अनेक शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया जाये तो भी सबको भूले बिना स्वास्थ्य नहीं हो सकता। इसलिए जिसको शांति

चाहिए वह सबको भूल जाये। सब प्रकारकी कल्पनावोंको भूलकर अपने आपको खोजे, अपने आपमें रहे तो यह जीवन सुखी हो सकता है।

जरा बतलावो कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, ऐसा मानना उद्यम है या नहीं? यह मेरा है, यह उसका है, इसके फलमें हानि ही हानि है। रोटी खानेके लिए मात्र कोई राग करे वह भी ठीक है, पर खानेके लिए ही नहीं, बल्कि लोगोंके हृदयसे उठता है राग मोह कि यह मेरा है। यही इस जीव पर संकट है। पुत्र है, धन है, कुटुम्ब है, इनको अपना मानते रहो, मेरा कोई नुक्सान नहीं, पर वास्तवमें ये किसीके हैं नहीं। वे तो वे तो परपदार्थ हैं। वे तो अपनी परिणतिके अनुसार परिणमेंगे। हम चाहे कुछ और तरह से परिणमेंगे, तब केवल क्लेश ही होगा।

सो भैया, अभी जान लो ना कि सब भिन्न हैं, सब एक समान हैं। जैसे घर वाले हैं वैसे सब हैं। ऐसा मान लो और दृढ़ हो जावो तो अभीसे ही शांति मिले। न घर में अशांति है और न धनके कम होनेसे अशांति है, अशांति तो केवल व्यर्थकी कल्पनावोंसे ही है। परको मान लिया कि ये मेरे हैं, घरके लोगोंको, पुत्र स्त्री वगैराको मान लिया कि ये मेरे हैं बस इतना माननेसे ही अशांति है। जिसका जो प्रदेश है, जिसका जैसा स्वरूप है वह उसमें ही है। जो दूसरे जीव हैं वे अपने ही स्वरूपमें हैं। वे अपने स्वरूपसे बाहर नहीं हैं। किसीका लक्ष्य करके कितना भी राग करते रहो, पर वे तुम्हारे कभी हो ही नहीं सकते हैं। वे अन्य पदार्थ हैं। वे खुदके अपने रूपमें परिणमते रहते हैं और अपना कषाय करते हैं। आप अपने कषायरूप परिणमते रहते हो और वे सब अपने कषाय रूप परिणमते रहते हैं।

भैया, सब झूठे स्वप्नों जैसी बातें हैं। कुटुम्ब है, धन है, वैभव है, ये सब मेरे हैं। ये लोग मुझे अच्छा कहें ऐसी आशाएँ रखते हैं। ये जो कलंकित लोग हैं, मोही हैं, अज्ञानी हैं, बुद्धू हैं, उनसे आशा करते हो कि ये मुझे अच्छा मान लें—यही व्यर्थका दुःख है। जरा मीठे मोहकी बात देखो—कहते हैं कि लोग धर्म करो। धर्मका ही एक बहम लगा लो। धर्म कहाँ होगा? धर्म तो अपने आत्मस्वरूपकी पहिचान है जिससे कषाय मिटतीहै। धर्म और किसी जगह नहीं है। आपको अपने स्वरूपकी पहिचान हो कि मैं सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। इसका ऐसा दृढ़ परिचय हो, जिससे जब चाहो अपनी ओर झुक सको तो इसी बलसे कषाय मिटेगी, यही धर्म है।

धर्मके नामपर कषाय करना, ईर्ष्या करना, इससे फायदा कुछ नहीं है। जो धर्मके

नाम पर कषाय करते हैं, ईर्ष्या करते हैं वे धर्मको लूट लेते हैं और अज्ञानको सजाते हैं वे अधर्म ही तो कर रहे हैं। धर्म तो स्वाथ्यकी बात है। सबको भूले बिना यह स्वास्थ्य नहीं उत्पन्न हो सकता है। इसलिए सारे विकल्पोंको त्यागकर अपनेमें अपने आप सुखी होनेका यत्न करो। सुखी होनेका और कोई उपाय नहीं है।

लोग अपनेको बड़ा अच्छा मानना चाहते हैं कि लोग मुझे बहुत अच्छा कह दें। ये नाक, कान, थूकके पिंड वाले लोग मुझे अच्छा कह दें। इन सबको भुला दो तो विलक्षण आनन्द प्राप्त होगा, मुक्तिका मार्ग मिलेगा। इन बाहरी बातोंसे क्या मिलता है? इन बाहरी चीजोंका तो दान कर दो अर्थात् सन्यास कर दो। यदि सुखी होना चाहते हो तो सुखी हो लो। अपनी उदारता दिखावो, जो कुछ भी उसे समझो कि मेरा कुछ नहीं है। हम तो प्रभुमें लीन होंगे। हम तो अपने प्रभुमें लीन होनेकी धुन सवार करेंगे, ऐसी उदारता दिखावो। किसी भी चीजकी इच्छा न रखो। अपने आपको शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनुभव करो। अपने आपमें झुको तो शांतिका मार्ग मिलेगा।

ज्ञात्वालसः श्रमं व्यर्थं नेत्रोन्मेषनिमेषयोः।
स्वस्थ्यः सुखी स एवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–६॥

देखो जो ज्ञानी पुरुष है, जिनका ज्ञानसे प्रेम है, स्थिर होकर ज्ञाता दृष्टा मात्र रहने के ही यत्नमें हैं तो वे परके कामके लिए महान् आलसी बन जाते हैं। और देखो तो सही कि बड़े ऊँचे ज्ञानी योगी पुरुष इन नेत्रोंको उघाड़ने और बंद करनेमें भी आलस्य करते हैं। परपदार्थोंके लिए ज्ञानी पुरुषोंको इतना आलस्य होता है। वे अपने स्वरूपको देखनेमें ही प्रयत्नशील रहते हैं। वे जानते हैं कि आखें उघाड़ने और बंद करनेसे कुछ भी न मिलेगा। उनको क्या करना है? उनको परपदार्थोंके देखनेका ध्यान भी नहीं रहता है। वे जब थक जाते हैं तो जान-बूझकर आँखें खोलते हैं। उनके लिए आँखोंका खोलना मींचना कुछ नहीं है। वे अपने ज्ञानका ही स्वाद ले रहे हैं।

अब जरा यहाँकी बातें तो देखो—ये संसारी गृहस्थ लोग जो दूसरोंके पीछे दुःखी होते हैं, चार पैसे आने पर ही अपने कर्मोंको सफल समझते हैं। जब चार पैसेकी कमाई हो जाती है तो वे समझते हैं कि मैंने आज कुछ काम किया। वे अन्याय करके धन संचय करनेमें अपना बड़प्पन समझते हैं। यह अज्ञानका ही तो फल है। मिलता-जुलता कुछ नहीं है। घूरेके पास कोई साँड पहुँच जाये तो उसे सींगोंसे उलेझे, दहाड़ मारे, अपने पैर फेंके, पूँछ उठावे और गर्दन ऊँची करे, अपनेमें घमंड करे और समझे कि मैंने बहुत काम किया,

तो उसने कौनसा बड़ा काम किया ? घुरा उलीचा ।

मनुष्योंका श्रेष्ठ मन मिला है, इस मनुष्ययोनिमें ही आत्मकल्याण कर सकते हैं । आत्माके संमयमें आ सकते हैं । हम पैदा इसलिए हुए हैं कि आत्मकल्याण करें । इस लिए हम पैदा नहीं हुए कि धन संचय करें । इस धनको तो भाग्य पर छोड़ दो । धन तो भाग्यके अनुकूल ही हो जायेगा । तो जैसी चाहो वैसी व्यवस्था बना लो । रही दुनियामें इज्जतकी बात । दुनियामें इज्जत धनके कारण नहीं है । इज्जत तो सदाचार तथा परोपकार करनेमें है । सदाचार परोपकार इत्यादि करनेसे ही इज्जत बढ़ती है । कितना भी धन हो और दुराचार हों, दूसरोंका बिगाड़ करने वाला आचरण हो तो उसको इज्जत मानते हैं क्या ? भले ही धन ऐंकनेमें चार आदमी प्रशंसा करदें, दस बीस हजार मिल जायें पर इसमें इज्जत नहीं है ।

भैया! इज्जत तो सदाचार और परोपकार है । धन हो तो और न हो तो, इससे इज्जत नहीं मिलती है । हम मनुष्य क्यों हुए ? इस बात पर विचार तो करें । केवल मोह ही करनेके लिए हम जिंदा रहे क्या ? राग करते हैं तो हम राग करनेके लिए जिन्दा है क्या ? जितने घरके लोग हैं उन सबके लिए धन पैदा करके रख जाओगे तो उससे तुम्हें क्या मिला ? वे भी तो सब तुमसे भिन्न हैं । जैसे और सब लोग हैं वैसे ही ये घर वाले लोग हैं । यदि धन पैदा होता है तो धर्मके लिए खर्च करो । जितना बच्चोंके लिए धुन सवार है उतना दूसरोंके लिए करो । दानको बात ऐसी ही है कि वह सदा धर्मके लिए रहती है, खानेको खअच्छा नहीं खायेंगे, जिन्दगी भर किसीको पानी देंगे, पर अन्तमें क्या करते हैं कि यह बनादें, वह बनादें । जिन्दगी भर तो कंजूसी की , पर अन्तमें केवल नामके लिए कुछ न कुछ बनवानेको तैयार रहते हैं । उनके धर्मका कोई पागलपनसा सवार रहना है । मरते समय ही वे बीस-बीस हजार रुपया खर्च कर देंगे, उससे कुछ नहीं होता है । यदि यदि उसे भी कभी दो आने, चार आने, रुपया, दो रुपया दान करते तो ऐसा धर्म करनेसे लाभ भी था । पीछे जो बचे उसे भी दे डालें, मनाही नहीं है, पर जिन्दगी भर तो सूखा रूखा खाया, धनको जोड़कर रखा और भिखारीको कभी भीख न दी हो, पर अन्तमें कहते हैं कि भैया ! यह बनवानेके लिए ३ हजार लगा दो, इसके लिए १० हजार लगा दो, ईंट पत्थरकी दीवारमें ही कुल खर्च कर देते हैं ।

जिन्दगी भर जितने संक्लेश किये वे ठीक नहीं । यदि उस धनको शिक्षाके लिए लगाते तो भी ठीक था । जिन्दगी भर दूसरोंसे इज्जत पानेकी उत्सुकता बनी रही, पर

इज्जत भी न पायी। इस धनसे अपनी जिन्दगीमें मजा भी नहीं ले पाया, इसलिए अब मरते समय कुल धन खर्च करना चाहते हैं कि रहेगा तो कुछ नहीं, सब छूटना ही है। जो धन वैभवको व्यर्थ मानता है वह ज्ञानके ही व्यर्थ मानता है। धन खर्च करते हैं तो वे धर्म के लिए नहीं खर्च करते हैं वे धर्मशाला बनवाते हैं। पर कहते हैं कि इसमें हमीं रहेंगे। बतलाओ इसमें धर्म कहाँ रहा ?

जो दूसरोंको सहयोग देते हैं उनकी उदारता तो देखो। धर्म उसे हो कहते हैं। धर्म कहीं दूर नहीं है। धर्म तो अपना विशुद्ध ज्ञान बनाने में है। वही जीव सुखी है जो स्वस्थ है। इसलिए तन, मन, धन, वचन न्यौछावर करके भी अपने आपमें ज्ञान पाया तो समझो कि इसने सब कुछ पा लिया। सब कुछ मिले पर आत्मज्ञानको न जगाया तो कुछ नहीं किया। यह आत्मज्ञान क्या करोड़ रुपयोंसे बड़ा है ? अरे! करोड़ क्या ? इस जगत्में जितना भी धन वैभव है सब हो जाये तो भी आत्मज्ञानके बराबर मूल्य नहीं हो सकता। इस आत्मज्ञानकी विभूतिके सामने संसारका समस्त धन वैभव व्यर्थ है।

भैया, चाहे जितना भी धन वैभव इकट्ठा कर लें पर वह धन वैभव भी उन्हें कलंकित करेगा। जन्ममरणका पात्र होना ही पड़ेगा। इस मेरेपनका भाव छूटे तो ठीक है। आप कहेंगे कि त्यागी पुरुषोंके कर्तव्यकी बात कह रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि घर द्वार, स्त्री पुत्र परिवार छोड़ दो। छोड़नेकी बात नहीं कही जा रही, यथार्थ ज्ञान करनेकी बात कही जा रही है। अगर छोड़नेकी सुबुद्धि जगे तो और भी भला है।

यहाँ यह बात कही जा रही है कि परिवारमें रहते हुए भी अपनेको पृथक् समझो। अपनेको पृथक समझनेमें कुछ बिगाड़ होता है क्या ? कुछ भी तो बिगाड़नहीं होता। उनकी पृथक् सत्ता है। देखो जब कोई मर जाता है तो कुछ न कुछ भाव ऐसा हो जाता है कि यह मेरा नहीं था। पर यदि ऐसा ही ख्याल जिन्दा रहतेमें कर लें तो सुखी हो जायें। होता तो आपका कोई है नहीं। आपका केवल इतना ही बस है कि यह भाव कर लो कि ये मेरे हैं। और भी देखो यहां सारी बातें उल्टी चल रही हैं। जैसे लोग लोग मरे पर श्राद्ध करते हैं ना कि पिता मर गया तो पंडाको गेहूँ दे दो पिताके पास पहुँच जायेंगे। गाय दे दो तो पिताके पास पहुंच जायेगी। जब तक पिता जिन्दा रहा तब तक मांगनेसे पानी भी नहीं दिया। अब मरने पर श्राद्ध करते हैं। तो सोचो तो कि लोगोंमें कितनी असावधानी छाई हुई है। जो करना चाहते हैं जिन्दामें करें। सारी बात विवेककी है। यदि विवेक है तो उससे लाभ है। धर्मकी बात यह है कि ज्ञान हो, कषाय मंद हो, परोपकारकी वृत्ति जगे तो

धर्म होगा। यदि ऐसा नहीं है तो धर्म नहीं है। तो ऐसे ही पुरुष जो ज्ञानसे सावधान होते हैं वे ही पुरुष स्वस्थ हैं और उन्हीं पुरुषोंको सुख है। सो भैया विपरीत सारी कल्पनाओं को छोड़कर अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

दिशेदीशोपि साक्षाच्चेद्विना स्वास्थ्यान्न मगलम्।
सुखदुःखे स्वयंदायी स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–७॥

अपना मङ्गल, अपना कल्याण अपने आपमें ठहरे बिना नहीं हो सकता। दूसरोंका उपदेश वचन कितना ही मिले, साक्षात् भगवान ही उपदेश क्यों न दे रहे हों तब भी अपने आपका श्रद्धान ज्ञान आचरण हुए बिना अपनेको शाँति, मुक्ति, आनन्द, मङ्गल, कल्याण न मिल सकेगा। यह जीव अपने सुख और दुःखका स्वयं जिम्मेदार है, दूसरा कोई उत्तरदायी नहीं है। घरमें, कुटुम्बमें, परस्परमें कितना ही स्नेह हो, कितनी ही मित्रता हो, उसमें किसी अन्यसे कोई लाभ मिल जाये ऐसा नहीं हो सकता। अपने सुख और दुःखके जिम्मेदार हम आप सभी अपने आप हैं।

जगत्में पदार्थोंका परस्परमें विभावके विषयमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध तो होता है, पर कर्ता कर्मभावोंका रंच भी सम्बन्ध नहीं होता है। परिणमने वाला पदार्थ यदि अशुद्ध उपादानका है तो वह कब किस निमित्तको पाकर स्वयं अपनी बनावट कर लेता है। यह सब परिणमने वाले पदार्थोंकी एक कला है। परिणमने वाले पदार्थ तो निरन्तर प्रतिक्षण परिणमनके लिए उतारू हैं। परिणमनशीलता तो एक स्वभाव है। परिणमे बिना कोई नहीं रह सकता है। सो परिणति चलता जाती है। अब किस योग्यता वाला किस उपादान का पदार्थ कैसा निमित्त पाकर किस प्रकार परिणमता रहता है, ऐसी उन विविध परिणतियोंमें मूल कारण तो परिणमने वाले पदार्थकी कला है।

जैसे दर्पण है, उस दर्पणमें छायारूप, प्रतिबिम्बरूप परिणमनेकी उसकी योग्यता है। वह दर्पण सन्निधिमें आये हुए, गुजरते हुए पदार्थोंका निमित्त पाकर वह नाना रूप परिणमता रहता है। ऐसे परिणमनकी विशेषतामें कला तो उस दर्पणकी ही है। वह दर्पण जैसी उपाधि की सन्निधि पाता है वैसा अपनेको परिणमा लेता है। उस परिणमनमें उपाधिकी कुछ वहाँ कला नहीं होगी। कला तो परिणमते पदार्थकी है। पर वह उस ढंगकी है कि जैसे निमित्त को पाये, उसमें अगर परिणमनकी योग्यता है तो उस रूप परिणम जाता है। यह परिणमन की कलाका प्रताप है। उस विभावके होने पर यद्यपि यह बात है कि निमित्तकी सन्निधि बिना होता नहीं। इतने पर भी स्वरूप पर दृष्टि देते हैं तो निमित्त वहाँ अपनी कला नहीं

खेलता है। निमित्त जो कुछ खेलता है वह अपने आपमें खेलता है। सो उनमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होकर भी कर्ता कर्म भाव नहीं है। इस बातको ठीक-ठीक परखनेमें सब बातें सामने आती हैं।

अब बात सोचनेकी यह है अशुद्ध विकासके परिणमनका ढंग तो यह है और शुद्ध विकासके परिणामका ढंग क्या है? भैया, शुद्ध विकासके परिणमनका ढंग यह है कि अशुद्ध विकासके परिणमनका जो निमित्त है उस निमित्तका अभाव अशुद्ध विकास छूटता है और शुद्ध परिणमन होता है। वहाँ भी परिणमने वाले पदार्थकी कलाका प्रताप है। वह शुद्ध परिणमनकी योग्यता वाला अमुक-अमुक प्रकारके परपरिणमनको निमित्त पाकर स्वयमेव परिणम जाता है, दूसरोंकी परिणतिको साथ लेकर नहीं परिणमता है, चाहे कितना भी यह जीव उल्टा परिणमता रहे।

मोहसे बढ़कर और कोई खोटा परिणमन है क्या! राग द्वेष मोहके बराबर खोटा परिणमन नहीं है। सबसे अधिक खोटा परिणमन मोह है, भ्रम है। ऐसा भ्रमरूप परिणमन भी जीव स्वयं करता है। दूसरे पदार्थोंकी परिणतिको लेकर करता हो ऐसी बात नहीं है। हाँ उसमें निमित्त है कर्मोदय। परन्तु जीवोंमें ऐसी कला है कि ऐसी उपाधिको निमित्त मात्र पाकर अपने आपकी परिणतिसे यों परिणम जाता है। मोही जीवको कर्ता कहते हैं। ज्ञानी जीवको अकर्ता कहा है। इसका सीधा अर्थ यह नहीं लगाना है कि ज्ञानी कर्ता नहीं है अज्ञानी परका कर्ता है, यदि ऐसी बात मान लें इसका अर्थ यह है कि परमात्मा तकसे भी अधिक बलिष्ट यह अज्ञानी है जो कि परका कर्ता बन जाता है। सो भैया, न तो ज्ञानी परका कर्ता है और न अज्ञानी परका कर्ता है। वस्तुकी व्यवस्था कहीं गलत नहीं हो सकती है।

अज्ञानी परका कर्ता है, इसका अर्थ यह है कि अज्ञानी अपने विकल्पसे अपनेको परका कर्ता मानता है। सो पदार्थोंको कर्ता मान लेना, यह भी एक अज्ञानी जीवकी परिणमात्मक क्रिया है। यह पद्गल परिणमात्मक क्रिया नहीं है। जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने परिणमनसे अनन्य हैं, तन्मय हैं कुछ समयके लिए। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके पर्याय से तन्मय नहीं होता। किसी परके गुण से किसी परके द्रव्यका तन्मयपना नहीं हो सकता। ऐसी वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टि हममें प्रबल हो जिसके प्रतापसे सब हमारा विष खत्म हो जाय।

भैया, जो विष लग रहे हैं उनमें प्रधान एक विष है कि यह जीव चाहता मैं लोगों

की दृष्टिमें अच्छा कहलाऊँ, यह बड़ा विष है। आजकल इसने बड़ी प्रगति कर ली है। भाई, धर्मकी चाह नहीं रही, कुटुम्बकी चाह नहीं रही, कुटुम्बमे मन नहीं भरता, धर्मकी धुनि लग गयी, शोध करने लगा, तपस्या करने लगा, बड़े-बड़े त्याग भी कर लिए और प्रगति भी कर ली, पर मैं लोगोंकी दृष्टिमें अच्छा कहलाऊँ, इस प्रकारका महाविष जो अपने विकल्पोंकी दाढ़में बसा हुआ है उसे न छोड़नेसे यह फल होता है कि निरन्तर आकुलताएँ रहती हैं। खूब विचारसे सोचो कि मैं किन लोगोंसे अच्छा कहलानेका परिणाम रखता हूँ ? किनसे ? जो नष्ट स्वयं हो जायेंगे, जो मलिन हैं, जो जन्ममरणके चक्रमें फँसे हुए हैं, जिनमें कुछ मिल भी नहीं सकता है, उनसे यह चाहा जा रहा है कि मैं ठीक कहलाऊँ, अच्छा कहलाऊँ।

भैया ! कुछ तो खुदसे बात करनेमें अपना यत्न करना चाहिए। मैं चैतन्यस्वरूपात्मक हूं। मैं रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित हूँ। ज्ञानानन्दघन आत्मत्त्व हूँ। मुझको कोई पहिचानता है क्या ? कोई पहिचान करेगा तो वह अपने खुदका बल लगाकर खुदके परिणमनरूप पहिचान करेगा, मेरेको कभी नहीं पहिचानेगा। जब मुझे कोई जानता ही नहीं है तो मैं अन्यमें नाना गोरखधन्धे करके व्यर्थमें दुःखी हो रहा हूँ ?

बाहरसे तो कुछ मिलता ही नहीं है। सो साक्षात् भगवान भी मुझे उपदेश देने वाले क्यों नहीं मिलें, पर मुझे कल्याण मिलेगा तो मेरे ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे मिलेगा। भगवानका दर्शन उपदेश तो एकमात्र सूर्यकी तरह है। लो मार्ग दिख गया, कानसे सुन लिया, सुनकर भी भीतरमें अपने अज्ञानका बल लगाना है तब मार्ग दीखेगा।

भैया, अनेक तरहकी कल्पनाएँ अज्ञानमें उठती हैं। हमारे रहते हुए भी होती रहती हैं और हम न रहेंगे तब भी होंगो। जो हो रहा है वह हो रहा है। परिणमने वाले पदार्थ अपनी कलाका खेल करते चले जा रहे हैं। सब अपने परिणममें ही अर्थात् अपनी ही मात्रा परिणतिसे वे परिणमते चले जा रहे हैं। हम जीव भी चाहे मोहरूप परिणमें, चाहे रागरूप परिणममें, सब अपनी ही परिणतिसे परिणमनते है। कोई एक परिणति दो द्रव्यों में नहीं हो जाती है। और कोई भी एक द्रव्य दो द्रव्योंमें परिणमन नहीं करता है कि मैं अपना ही परिणमन कर लूँ और दूसरेका भी कर लूँ।

अगर चार आदमी मिलकर गाना गा रहे हैं, संगीत हो रहा है, सितार बज रहा है, कोई कुछ गा रहा है कोई कुछ ? देखो, इस प्रसंगमें परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध विकट हो रहा है। सब एक दूसरेकी हूं में हूं ले रहे हैं, एक स्वरसे मिले हुए हो रहे हैं,

सारे बाजे एक किस्मके बज रहे हैं, फिर भी ऐसा नहीं है कि तबले वालेकी आपकी परिणतिसे नाचने वालेके पैर उठ रहे हों। हो रहा है अनुकूल काम। उस ठापेके अनुसार उसके पैर उठ रहे हैं। कभी उल्टा उठ जाये, कभी सीधा उठ जाये तो ऐसा नहीं है। इतनी बात होकर भी वे सब परस्पर सबसे न्यारे हैं। वे उनके स्वर सुन रहे, हँस रहे, इतना झुकाव है, फिर भी वास्तवमें किसीका किन्हीं दूसरों पर झुकाव नहीं है। उनकी अपनी-अपनी कलाका जुदा-जुदा खेल हो रहा है। दूसरा कोई भी नहीं झुक रहा है। अज्ञानी उन्हें देखकर कहते वाह-वाह अच्छा वे परस्पर खीरसी पका रहे हैं। खीरसी तो पक रही है मगर सब अपना-अपना काम कर रहे हैं। कोई किसी दूसरेका काम नहीं कर रहा है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर असर पैदा नहीं करता है, पर परिणमने वाले पदार्थ विभावकी योग्यता वाले हैं तो परका निमित्त पाकर स्वयं अपने आप अपना असर उत्पन्न कर लेते हैं। अच्छा जरा निर्णय कर लो, असर क्या चीज है, द्रव्य है कि गुण है कि पर्याय है। अगर गुण है तो त्रैकालिक रहना चाहिए। असर को एक पर्याय कह सकते हैं। असर जिसमें है उससे उस समय भिन्न है तो वह परिणमने वाले पदार्थमें है। स्वयं अपने आप में यह असर उत्पन्न किया गया है स्वयंकी अपनी ही परिणतिसे। वह असर यदि विभावरूप है तो परका निमित्त पाकर परिणमा है। अन्य किसीको परिणति लेकर, छाया लेकर उसने अपना काम नहीं किया। इसमें दोनों बातोंका समावेश है कि निमित्तनैमित्तिकका सहजसम्बन्धी जगत्में अटल चल रहा है तिस पर भी सब पदार्थ स्वयं अपने आपमें सर्वस्वमय बने हुए हैं।

जो अपने घरमें जीव हैं, मान लो वे जीव न आते और जगत्में जो अनन्त जीव पड़े हैं उनमेंसे कोई अन्य जीव अपने घरमें आता तो क्या उससे मोह करनेमें आप गम खाते? कोई भी आता, आप उससे मोह कर बैठते। हाँ यदि उसकी किसी परिणतिसे आपको अपने विषयोंमें बाधा जंचेगी तो मोह छोड़ दोगे, उस मोहकी दिशा बदल दोगे। हम अपने सुख दुःखके ही उत्तरदायी हैं स्वयं जिम्मेदार हैं। सो अपनेसे दुःख मेटना है, आनन्दमें आना है तो उसका उपाय है सम्यग्ज्ञान।

विश्वं सुखांशमूलं न शं ज्ञानत्यागयोः फलम्।
सुखदुःखे स्वयंदायी स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–८॥

यह सारा संसार, यह जगत्का सारा वैभव मेरे सुखका रंचमात्र भी कारण नहीं है

सुख परिणमन आत्माके आनन्दगुणका परिणमन है। जैसे आत्मामें ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण आदि अनेक गुण हैं, इसी तरह आत्मामें आनन्द नामका एक गुण है। सो जब शुभकर्मका उदय होता है तो आनन्दगुण सुखरूप परिणमता है और जब अशुभ कर्मोंका उदय होता है तब आनन्दगुण दुःखरूप परिणमता है और जब कर्मोंका लेश नहीं रहता है तब आनन्दगुण शुद्ध आनन्दरूप परिणमता है। दूसरा कोई पदार्थ हमें सुखी नहीं करता। सुखकी आशा रखते हैं कि लड़केका विवाह होगा, बहू घर आयेगी, बड़ा सुख होगा कितनी आशा रखी थी' किन्तु सबका कषाय जुदा है। बहूको जैसे सुख प्रतीत हो वैसे ही कषाय बनेगी। सास समझती है कि यह मेरे विरूद्ध बर्ताव करती है सो वह दुःखी हो जाती है। सुखकी तो आशाकी थी बेटे बहूसे और इसी आशामें खूब मन लगाकर पालन-पोषण किया था और देख-देख कर सुखी होते थे।

कोई भी परपदार्थ अपने सुखका कारण नहीं है। सुख परिणमन अपनेमें ही बसे हुए अनन्त गुणोंके परिणमनसे होता है। दूसरोंसे सुख नहीं आता है। दूसरे पदार्थोंमें दो ही तरहके पदार्थ हैं चेतन और अचेतन। अपने आपकी आत्मासे अन्य जो जितने चेतन है अनन्तानन्त वे सब मेरे लिए पर हैं। और जितने अचेतन हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल वे सबके सब भी मेरे लिए पर हैं। अचेतनमें तो सुख नामक गुण ही नहीं है, उनसे मेरेमें सुख कहाँसे आये ? और इस चेतन पदार्थमें सुख नामक गुण तो है मगर उनका गुण उन्हींके लिए है। उन्हींमें ही वह तन्मय है इस कारण परपदार्थोंसे अपनेको सुख कैसे मिलेगा ? किसी भी पर द्रव्यसे अपनेको सुख नहीं मिलता, किन्तु अपनेमें अपने ही प्रकार के विकल्प बनाकर, अनेक प्रकारका ज्ञान करके सुख अथवा दुःखका अनुभव करते हैं। यदि देखा जाय तो परसमागम मेरे सुख में बाधक हैं। जिनको समझते हैं कि ये परपदार्थ मेरे सुखमें साधक हैं। वे साधक नहीं हैं। यह सुखमें बाधक हैं, वह मुझे नहीं चाहिए। पाई-पाईको संभालो, मुझे कुछ नहीं चाहिए। एक परमाणुमात्रभी राग हो तो उसके सम्यग्दर्शन नहीं रहता। परमाणुमात्र भी राग हो तो उसके सम्यग्दर्शन रहे अर्थात् राग हो और उसे ही आत्महित मान लें तो वह सम्यग्दृष्टि कैसे ? कोई किसी घरमें अकेला हो, स्त्री हो और कहे कि देखो हमने सबका राग छोड़ दिया, केवल एक स्त्री भरका राग रह गया, बाकी सब राग मैंने छोड़ दिये, केवल एक स्त्री भरका राग रह गया तो क्या उसका ९९ प्रतिशत मिथ्यात्व नष्ट गया ? अरे ! शत प्रतिशत मिथ्यात्व है। पर-

मात्र भी अगर राग है, जरा भी राग है। पर्यायबुद्धिकी बात कह रहा हूं कि यह राग मेरा ही है, यह राग मेरे हितरूप है, यह न समझकर रागसे अपनेको भिन्न नहीं देख सकता तो ऐसी स्थितिमें मिथ्यात्व ही है।

अब सम्यग्दृष्टि जीव विचारता है—किसी भी वैभवकी मुझे चाह नहीं है मेरेको तो मेरा जो स्वरूप है, मेरा जो आनन्द है बस वही मेरा है। तब वह सारे बाहरी सुखोंसे अपनेको दूर करता है और अपने आपमें आनन्दका अनुभव करता है। यों कह लो कि किसीने बहका दिया था, मामूली सुखमें अब बहम मिट गया। यह सारा विश्व मेरे सुखका रंच भी कारण नहीं है। सुख होता है तो वह अपना ही परिणमन है। अपनी ही परिणति से होता है। दूसरे सुख नहीं पैदा कर देते। सब भवितव्यता ज्ञानकी कला पर निर्भर है। यों कह लो कि मैं किसे जानूँ तो सुख हो जायगा और मैं कैसा जानूँ तो आनन्द हो जायगा ? बस उन जाननेके प्रकारों पर ही सुख दुःख और आनन्दका निर्णय है। बोम्बे या कलकत्तामें कोई काम चल रहा हो और कल्पनामें यह यह आये कि दो लाखका टोटा है चाहे हो गया हो मुनाफा, वहाँ जरूर कष्ट बनता है कि हाय मुनाफा हो रहा था और टोटा पड़ गया। कदाचित् टोटा पड़ा हो और यह खबर फैली हो कि मुनाफा है तो कल्पनाएँ करके वह मौज मान लेगा।

मौज कहते हैं किसे ? मालूम है ? 'म' के मायने हैं नहीं और 'ओज' के मायने हैं प्रभाव, प्रताप, कांति। अर्थात् जहाँ प्रभाव, प्रताप, कांति न रहे उसे मौज कहा जाता है। पंचेन्द्रियके विषयभोगोंके सामने देख लो, मौज नहीं रहती बल नहीं रहता, प्रताप नहीं रहता और ज्यादा समझना हो तो कोई जैसे खा रहा हो, कैसे खाता है ? कैसे हाथ चलाता है ? कैसे मुख चलाता है ? इसका अगर फोटो हो तो फोटोमें भी खूबसूरती नहीं आयेगी। किसी चीजको कोई रागपूर्वक देखता हो तो उसकी मुद्रा विकट रहेगी, उसका फोटो लेनेमें ठीक नहीं आयेगा। सब विषयोंकी बातें भी कर लो, पर जहाँ पर ओज नहीं रहता, उसे मौज कहते हैं। ये विषय सुख तुम्हारे हितकारी नहीं हैं। परपदार्थोंके सुखसे मुड़ना कैसे हो ? तो विषयकषायोंसे बढ़कर कोई अच्छी चीज मिले तो विषयोंसे मुड़ना बनेगा, अन्यथा इन विषय सुखोंसे मुड़ना कैसे होगा।

कोई भिखारी ५-७ दिनकी बासी रोटियाँ अपनी झोलीमें भरे है। वह इसलिए कि किसी दिन भीख न मिले तो भूखा तो न रहेगा। कई दिनकी रोटियाँ झोलीमें डाले रहता है और कोई दयालु सेठ कहे कि ये तेरी रोटियाँ फफूंद गई हैं, खराब हो गई हैं, इन्हें

फेंक दो तो क्या वह रोटियाँ फेंक देगा ? वह भिखारी बहक जायेगा और अगर सेठ कहे कि जो ये रोटियाँ तेरे सामने रखी हैं तो वह भिखारी उन रोटियोंको फेंक देगा कि नहीं ? फेंक देगा क्योंकि उससे बढ़कर चीज मिली है । तो विषय सुखोंमें जो लगाव है यह न रहे, मिट जाये, यह तब हो सकता है कि इससे बढ़कर कोई आनन्दकी चीज मिले, तभी विषयसुखोंसे मुड़ना हो सकता है ।

आप दूसरेके यहाँ जब भोजन करते हों तो दसों तरहकी चीजें परोसी जाती हैं । जो स्वादिष्ट चीज है उसको लेनेके लिए मामूली चीजको मना कर देते हो कि ये चीज मेरे पास है, नहीं चाहिए । अव्वल तो यह देखो कि केवल कल्पनाकी बात है कि स्वाद किसमें ज्यादा है ? पूड़ी मिठाइयोंमें स्वाद अधिक है या साग रोटीमें । पूरा विचार करके देखोगे तो साग रोटीमें स्वाद अधिक है। पूड़ी मिठाइयोंसे जल्द ऊब जावोगे, घबड़ा जावोगे, चित्त हट जायेगा, पर अपनी जो कल्पनाएं बना रखी हैं कि वह कीमती चीज है, इसमें ज्यादा स्वाद है । खैर तुम्हें यदि विषय कषायोंसे भी अधिक कोमती चीज मिले तो तुम उनसे मुख मोड़कर खा सकते हो, अन्यथा नहीं ।

यह विषयकषायोंका खिलौना परका खिलौना है, आत्मीय आनन्दका खिलौना तो निजी खिलौना है । जैसे निजी खिलौना बालकको न मिले तो दूसरेके खिलौनेको देखकर रिसा जाता है । पर उस रिसा जानेसे रोना मिट जायेगा क्या ? उसका खिलौना रख दो तो रोना बन्द हो जायेगा । तुम इस परखिलौनेके पीछे पड़ रहे हो, दुःख भोग रहे हो, परपदार्थ अपने रूपसे परिणम रहे हैं, ये मोही जन सोचकर दुःखी हो रहे हैं । हाय यह यों क्यों नहीं परिणम गया ? दुःखी हो रहे हैं । परखिलौनेके पीछे भाग रहे हैं और अपने खिलौने या आनन्दभावकी दृष्टिमें जो स्वयं आनन्दमय हैं, उपयोग नहीं देते । हाय ! "आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।"

मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूँ आनन्द प्रकट करनेके लिए मुझे कुछ करना ही नहीं है, बाहरसे कुछ नहीं लाना है, बाहरमें कोई योजना नहीं बनानी है, परमात्मास्वरूपका विश्वास अन्यत्र नहीं करना है । वह स्वभावसे यहीं है, पर जो उल्टे कार्य हैं उनको बन्द करना है, जो बाधाएँ आई हैं उनको दूर करना है । इसी कारण इसको कहते हैं—"टंकोत्कीर्णवत् ज्ञायकस्वरूप ।" टंकोत्कीर्णवत् याने उकेरे हुए प्रतिविम्बकी तरह यह आत्मस्वरूप है । इसमें दो बातें आती हैं—एक तो टंकोत्कीर्णवत् प्रतिबिम्बकी तरह निश्चल है ज्ञायकस्वभाव । जैसे टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमा निश्चल है, उसका हाथ नहीं मोड़ सकते, कोई अवयव चलाय-

मान नहीं कर सकते। इसी तरह आत्मस्वरूप भी अपने रूपसे चलायमान नहीं हो सकता।

टंकोत्कीर्णवत् दृष्टान्तमें मर्मकी दूसरी बात क्या है कि जैसे एक बड़ा पत्थर कारीगर के सामने रख दें और बता दें कि देखो इस पत्थरकी बाहुबलीकी मूर्ति बनाना है। कारीगर उसे सूक्ष्मदृष्टिसे देखता है। फिर कहता है कि अच्छा बन जायेगी। बाहुबलीकी मूर्ति उस कारीगरकी निगाहमें आ गई। अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टिसे उसने मूर्तिको देख लिया। उसे पत्थरमें यह दिख गया कि मूर्ति यह है, मूर्ति बनी बनाई है। उसे मिट्टी वगैरा लाकर नहीं बनाना है, किन्तु चारों तरफसे ढकने वाले जो अवयव हैं उनको हटाना है। उन पत्थरोंको हटाते-हटाते, जब सब हट जायेंगे तो मूर्ति प्रकट हो जायेगी। उस हटानेमें भी कैसी क्रिया होती है कि पहिले तो लम्बे-चौड़े हाथ मारते रहते हैं, फिर भी संभालकर कि बीच में न टूट जाये, लम्बे चौड़े आवरक पत्थर बाहर निकल जाते हैं। मूर्तिका साधारण आकार आ जाता है, फिर बड़ी सावधानी करते हैं। जब और पत्थर निकल जाते हैं तो और सावधानी करते हैं, फिर अत्यन्त छोटी छेनी हथौड़ी आदिसे उन पत्थरोंको अलग करते हैं। तो कितनी तरहके उसके आवरकोंको हटाना पड़ा ?

यही बात इस जीवकी है। जिसके आत्माका परमात्मविकास होना है तो उस कारीगरको इसका परकात्मतत्त्व दीख गया है। यह आत्मा देखनेकी चीज नहीं है, ज्ञान द्वारा देखनेकी वस्तु है अर्थात् जो शुद्ध सहज आनन्दका अनुभव है उसके द्वारा विपत्ति होती है कि परमात्मस्वरूप यह है। उसको प्रकट करनेके लिए कोई चीज नहीं लगानी है, किन्तु उसमें जो बाधक हैं उनको दूर करना है। फिर भी और देख लो, शरीरसे उसे न्यारा करना है तो शरीरसे न्यारा अपनेको समझो। इसमें ज्यादा सावधानी नहीं बरतना है। विवेकसे यह बतलावो कि यह जुदा है। शरीरकी मिट्टी आत्माके निकल जानेपर पड़ी रहती है। इस शरीर से अपनेको न्यारा समझो। अपनेसे चिपटे हुए बाधक जितने भी पदार्थ हैं सबको न्यारा करो। सबको न्यारा किया, हटाया, अब और भीतर बढ़ते जा रहे हैं विभाव पर हैं, निमित्त पाकर होते हैं। भीतर चलकर वितर्क, विकल्प, विचारोंको हटावो और चलकर छुटपुट ज्ञानको हटावो। यह ज्ञान भी मेरा नहीं है। मैं तो अखण्ड हूँ। यह खण्ड ज्ञान है। इस प्रकार अखण्ड ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिमें समाधि हो जाती है तो उस बलसे ये सब विकार दूर हो जाते हैं और परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। प्रकट होनेमें चीज नहीं लपेटनी पड़ती, किन्तु जो आवरक लग गये थे उन चीजोंको अलग करना पड़ा।

इस प्रकार टंकोत्कीर्णवत् यह ज्ञायकस्वभाव है। इसका अर्थ यह है कि यह अपनेसे

अपनेमें प्रकट होता है। और इसी तरहकी सभी बातें हैं। यह जो साँसारिक मौज है यह भी विकल्प करके प्रकट होता है, अन्य पदार्थोंसे नहीं प्रकट होता। यह तो अपने ही ज्ञानका एक परिणमन है किसी परपदार्थसे सुख मुझमें आता हो ऐसी बात नहीं है। इस कारण समस्त जगत्के पदार्थ भी इस जगत्के सुखके अंशमात्र भी कारण नहीं हैं और वहाँ पर जो सुख है, आनन्द है वह तो ज्ञान और त्यागका फल है। ऐसा जानकर कि सुख अपनेमें अपनेसे प्रकट होता है, इस निजमें अपने लिए तुष्ट रहूँ और अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

अद्वैते स्वेऽस्तु दृष्टिर्मा द्वैतेऽद्वैते न संभ्रमः।
विपज्जन्म न मृत्युर्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-६॥

अपने आपके एक अद्वैत आत्मतत्त्वसे दृष्टि हो, किसी द्वैतपर दृष्टि मत हो, अपने आपके मात्र स्वरूप पर लक्ष्य हो, अपनेसे भिन्न किसी भिन्न पदार्थमें दृष्टि न हो। यह बात कही जा रही है आत्मकल्याणकी। गृहस्थ अवस्थामें अनेक द्वैतोंका सम्पर्क रहता है। धनका उपार्जन, कुटुम्बका पालन, समाज और देशकी रक्षाका भी विचार—ये सब बातें गृहस्थावस्थामें होती हैं। इन सबके होते हुए भी ज्ञानी गृहस्थीको यह विश्वास बना रहता है कि किसी द्वैत पर भिन्न अर्थ पर दृष्टि लगाना अपना समय खोना है, फिर भी वह पद ऐसा है कि जिस पदमें द्वैतोंसे वास्ता पड़ता रहता है। स्वाद तो उस ज्ञानी गृहस्थके भीतर की वृत्तिमें और आत्माके विश्वासमें आता है।

एक विनोदका चुटकला है कि बादशाह और बीरबल थे। बादशाह बीरबलसे बोला कि बीरबल, आज रातको मैंने स्वप्न देखा। बीरबलने कहा—कहो महाराज। बादशाह ने कहा कि मैंने स्वप्नमें देखा कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे। रास्तेमें दो गड्ढे मिले जो पास-पास खुदे हुए थे। एक गड्ढेमें तो भरा था गोबर और दूसरेमें भरी थी शक्कर बीरबल मैं तो शक्करके गड्ढेमें गिर पड़ा और आप गोबर मलके गड्ढेमें गिर पड़े। बीरबल बोले—महाराज हमारा आपका न जाने कैसा दिल है कि जो कुछ तुमने स्वप्नमें देख वही हमने देखा। हमने भी देखा कि हम घूमने जा रहे हैं रास्तेमें दो गड्ढे मिले, सो तुम गिरे शक्करके गड्ढेमें और हम गिरे गोबर मलके गड्ढेमें। मगर इसके आगे थोड़ा और देखा कि हम तुमको चाट रहे थे और आप हमको चाट रहे थे। तो बीरबलको स्वाद किसका आ रहा था? शक्करका। और बादशाहको स्वाद किसका आ रहा था? गोबर अथवा मलका।

ऐसे ही भैया, बाह्यपरिस्थितिसे गृहस्थीकी दशा गोबरमें पड़ी हुई जैसी है। चारों ओरकी आफत है, घर है, देश है आये गयेका सम्मान है। साधु लोग आते हैं, चाहे नाराज होकर, गुस्सा होकर चले जायें, पर गृहस्थ ऐसी वृत्ति रखता है कि साधु नाराज न होने पायें, गुस्सा न होने पाये। ठीक-ठीक ये चले जायें। धार्मिक मामलोंमें, सामाजिक मामलोंमें तो क्षुब्ध हैं, गोबरमें पड़े हुए हैं। मगर ज्ञानी गृहस्थ जिसकी दृष्टि निर्मल है, जिसने अपने आपके स्वरूपका यथार्थ परिचय पा लिया है कि मैं सबसे न्यारा हूँ, केवल अपनी सत्तामात्र चैतन्यस्वभावी एक आत्मतत्त्व हूँ। ये जो अपने उपयोगमें वर्तता है ऐसे ज्ञानी गृहस्थको स्वाद किस बातका आता है ? उसे उसकी निर्मलतासे शुद्ध आनन्दका स्वाद आता है। और एक पुरुष भावुकतामें आकर या किन्हीं झंझटोंमें आकर या कुछ विरक्त हो जाये जिसके कारण गृहस्थीको छोड़ देता है, त्याग वृत्ति आती है, उसकी परिस्थिति बाहर से शक्करके गड्ढेमें पड़ी हुई है, क्योंकि दुकानकी चिंता नहीं, खानेकी चिंता नहीं, भूख लगी तो अनेक बुलाने वाले होते हैं। कुछ चिंता नहीं, कुछ फिक्र नहीं। शक्करके गड्डेमें पड़े हुए बाहरके त्यागी हैं पर भीतरमें अपने आपके स्वभावकी दृष्टि नहीं करते। कोई उसकी खबर ही न होवे और भी बाहर-बाहरकी बातोंमें ही चित्त होवे या जिन विषय कषायोंसे ऊबकर गृहस्थ हटना चाहता है और कदाचित् त्यागी जन उन विषयकषायोंकी ओर झुकना चाहता है, कुछ-कुछ ख्याल करता है कि गृहस्थीमें बड़े सुख हैं, इनको तो मौज आ रहा है, तो उसे स्वाद किसका आया ? गोबरका, आकुलतावोंका, मलिनताका। स्वाद आता है। दृष्टिसे और दृष्टिके अनुसार बनती है सृष्टि। जैसी दृष्टि हो वैसी ही उस जीवकी सृष्टि बनती है। दुनियाकी सृष्टि करने वाला परमात्मा है, ऐसी जो प्रसिद्धि है साधारण जन समाजमें वह बात कैसे बन गयी, फैल गयी ? इस पर जरा विचार तो करो। बात तो मूलमें यह है कि जीव जितने हैं, वे सब अपनी कल्पनाओंसे अपनी सृष्टिसे अपनी परिणति पाते चले जा रहे हैं ओर अर्थ पर्याय, व्यञ्जन पर्यायरूप होते चले जा रहे हैं अर्थात् अपनी कलासे अपनी सृष्टि नाना रूप बनाते चले जा रहे हैं। इन सब जीवोंको सहजस्वरूपमें देखो तो वे सब ईश्वरस्वरूप हैं। ईश्वर उसे कहते हैं कि जो ऐश्वर्यशाली हो, अपना काम करने में अपने आप समर्थ हो, दूसरेकी प्रतीक्षा, परिणति, पराधीनता लगती न हो उसे ईश्वर कहते हैं।

एक गाँवपति जमींदारकी किसी विदेश, बाहरी गाँवसे कोई अटक नहीं रहती है। गेहूं उसके खेतकी मिट्टीसे पैदा होते हैं, मिट्टीका तेल मिट्टीमें पैदा होता है, कपड़ा यह भी

मिट्टीमें पैदा होता, शक्कर आदि भी मिट्टीसे पैदा होती है। जैसे गाँवपतिको, जमींदारको किसी दूसरेसे कोई अटक नहीं है तो उन जमींदारोंको ईश्वरका जैसा कहते हैं। जैसे कहते हैं ना कि "इक गाँवपति जो होवे सो भी दुनिया दुःख खोवे।" जमींदार लोग स्वयं अपना काम बना लेते हैं। किसी अन्यकी अटक नहीं रहती। इससे वे गाँवके ईश्वर कहलाते हैं। अटक तो वहाँ भी चल रही है, पर इन आत्मतत्त्वोंको तो देखो, इनकी तो अत्यन्त स्वाधीनता है।

आत्मा है और परिणमता है—यह तो है कर्तापन और जिस रूप परिणमता है वह परिणाम इसने पा लिया, प्राप्य हुआ वह है कर्म और अपनी ही परिणतिक्रियाके द्वारा अपने परिणाममें पाया है, यह है उसका साधन, करण और जिस रूप भी यह परिणमा उस परिणमनका प्रयोजन फल इसको उसी समय मिल जाता, यह है उसका सम्प्रदान और यह अपने पूर्वपर्यायोंसे विलग होकर नवीन परिणतिमें आता है, वह ध्रुव ही है, यह है उसका उपादान। सम्बन्ध तो उसका कारक नहीं है। संस्कृतमें से, सम्बन्ध नामकी बात तो अट-पट है और यह परिणम गया, जिस रूप परिणम गया, उसको उसके आत्मप्रदेशोंमें देखो, एक अद्वैतमें देखो, यह है अधिकरण। केवल एक वस्तुके स्वरूपको देखो तो इसने अपनेमें किया, अपने द्वारा किया, अपने लिए किया, अपनेसे किया। इसका यह सृष्टिका काम कैसा स्वतंत्र है और उस काममें यह प्रभु है, समर्थ है, इसलिए सब जीवोंका नाम ईश्वर है और ये सब इसलिए अपनी-अपनी सृष्टिमें निरन्तर लगे हुए हैं।

जैसे प्रसिद्धि है ना कि जगत्को ईश्वरने बनाया। उसने सोचा कि "एकोऽहं बहु स्याम् से' मैं एक हूँ, मैं बहुत रूपोंमें होऊँ। उसकी मंशा हुई तो मंशा होते ही सृष्टि बन गई, उसे ज्यादा परिश्रम नहीं करना पड़ा। उसकी मंशा हुई इच्छा आयी, भाव आये और सृष्टि बन गई। यह बात तो सब जीवोंमें होती है इस जीवके हाथ पैर तो हैं नहीं कि किसी चीजको ठोंके, पीटे, बनाये। जीव तो एक अमूर्तवस्तु है। यह भाव करता है और सृष्टि बन जाती है, मंशा करता है और रचना हो जाती है। निमित्तनैमित्तिक सहज सम्बन्धपूर्वक रचना हो जाती है। इस प्रकार हम और आप सब अपने आपके भाव बनाते रहनेके काम में लगे हैं। जब हम भाव बनाने मात्रके अधिकारी हैं तो हम क्यों नहीं भाव उत्तम बनाते जिससे मुफ्त ही मेरी सृष्टि बन जाये। हम भाव बनाते हैं और सृष्टि करते रहते हैं। केवल भावोंकी ही तो बात है।

जैसे बच्चे लोग बैठकर पंगतका खेल करते हैं कि इनकी ओरसे पंगत हो रही है। बड़ा पत्ता हो तो उसको पत्तल मान लिया और छोटे पत्तेको रोटी मान लिया, बड़े कंकड़ को गुड़की भेली मान लिया और छोटे कंकड़को चने मान लिया। अब देखिये भाव बनानेसे

ही कंकड़, चने और गुड़की भेली हो गई केवल भाव ही किए ना, सो हे बच्चे लोगों, इन भावों से ही रोटीको जगह उसे पूड़ी क्यों नहीं मान लेते ? चनोंको बूंदी क्यों नहीं मान लेते ? अर्थात् परोसते समय यह कहा कि लो यह पूड़ी है, लो यह बूंदी हैं। एक बच्चेके भावकी बात कह रहे हैं। यह मात्र दृष्टान्त है। रोटी गुड़ परोसनेमें ही अपनी मौज ले रहे हैं तो ऊँची चीज कहकर खेलनेकी मौज लें। वहाँ पर भी सारी करामात भावोंकी ही है यह भी देखो कि वहाँ तो केवल खेल है, पर यहाँ तो यह बात गुजरती है कि खोटे भाव किए कि वही आकुलताएँ हो गयी। कांति घट गयी, झेंप हो गया, दुःख हो गया। यह तो भीतरमें बात गुजरी और कालान्तरमें बाहर क्या गुजरता है कि कीड़े बन गये, पशु बन गये, नारकी बन गये, लो खोटे भावोंसे यह गुजरता है और बजाय उन खोटे परिणामोंके उत्तम परिणाम हो जायें तो आनन्द आये। यदि अच्छा परिणाम किया है तो व्यवहारमें भी परिणाम अच्छा है।

सद्व्यवहारके लिए सबसे पहली बात तो यह है कि हम दूसरोंका आदर करें। दूसरों का हम आदर करते हैं, आदरके वचन बोलते हैं तो वहाँ कोई शंका नहीं रहती है। बड़े प्रेमसे बोल बर्तावकेकर्मोंको करते हैं। जो सुनते हैं वे भी प्रसन्न रहते हैं। आगेका समय भी ठीक-ठीक गुजरता है। और किसीका अपमान करो, निरादर करो, दुर्वचन बोलो, इसका क्या फल है कि दुर्वचन बोलनेके पहिले बोलने वालोंको अपनेमें संक्लेश करना पड़ता है, हिम्मत बनानी पड़ती है, भीतरमें एक दुःख अनुभव करता है। पहले तो यही खोटी बात गुजरी, और दुर्वचन निकल गया तो फिर वापस नहीं आता।

जैसे धनुष तानकर बाण छोड़ दें तो वह वापस नहीं आ सकता। बाणके छूट जानेके बाद हाथ जोड़कर ऐसा निवेदन करें कि ऐ बाण, लौट आवो, मुझसे भूल हो गयी, मेरी गल्ती हो गयी, मुझे खबर नहीं रही, ताव आ गया था, दिमाग दुरुस्त न था, ऐ बाण लौट आवो, ऐसा निवेदन करनेसे बाण वापिस हो जाता है क्या ? नहीं। इसी तरह जब बोलते हैं तो धनुषका सा आकार मुँहका बन जाता है। जैसा टेढा धनुष होता है वैसे मुंह हो जाता है। जब धनुष चढ़ाते हैं तो बाँस तो टेढ़ा है ही, डोरी भी टेढ़ी हो जाती है। इसी तरह जब बोलते हैं तो मुँह भी टेढ़ा हो जाता है और दुर्वचन बोलने वालेका मुख तो बड़ा लम्बा चौड़ा धनुषाकार मुँह बनता है। शांतिसे बात करने वाले का मुख चौड़ा नहीं बनता है खोटे वचन बोलें तो उसके मुखका बहुत बड़ा धनुषाकार बन जाता है। इस मुखधनुषसे कुछ भी हो, मर्मभेदी वचन बाण निकल गया तो निकल जानेके बाद अब वचनोंसे प्रार्थना करो कि ऐ वचन, वापिस हो जावो तो नहीं हो सकता है। इसीसे दुर्वचन बोलनेके बाद क्षमा मांगो तो बड़ी कठिनाईसे हो पाता है। क्षमा सद्व्यवहार यह है कि दूसरोंके सम्मान

की बातें बोलें, आदरकी बात बोलें। इस तरहसे खोटा वातावरण बढ़िया हो सकता है।

यदि सद्भाव होता है तो सृष्टि उत्तम होती है। जब भावोंसे ही सारी बात हमसे गुजरती है तो विवेक यह कहता है, बुद्धिमानी यह कहती है कि अपने भाव निर्मल हों, शुद्ध हों, सब जीवोंके प्रति सुखी रहनेकी भावना हो, किसी जीवको अपना विरोधी न समझें यह सद्भावोंकी सबसे प्रधान बात है। कोई भी हो, ऐसे भी हो कोई कि विरोधसे जो चलता रहता है, कुछ बिगाड़ करनेका यत्न करते रहते हैं तो इस पर भी सोचो तो सही कि वह मेरे विरुद्ध नहीं कर रहा है। उसका कषाय परिणमन इसी प्रकारका उत्पन्न हो रहा है, सो वह अपना कषाय परिणमन कर पाता है, इसके आगे कुछ नहीं कर पाता है। अव्वल तो उसके निमित्तसे मेरा कुछ बिगाड़ नहीं होता है। मैं तो अपनी कल्पना मानता हूँ तब बिगाड़ कर लेता है।

भैया, सोचो तो सही कि जब भी हमें कोई दुःख होता है तो उस दुःख में हमारा अपराध है कि दूसरोंका अपराध है? हमारे दुःखमें हमारा ही अपराध है। एक यह बात अगर घर कर जाये कि हम जब-जब दुःखी होते हैं तब अपने ही कसूरसे दुःखी होते हैं, दूसरेके अपराधसे हम दुःखी नहीं होते हैं। सो जब हम दुःखी होंगे अपना अपराध निरखने लगेंगे कि मैंने अपराध किया है, मुझे दुःख क्यों हुआ? मुझे तो दुःख हो ही नहीं सकता था। यह तथ्यकी बात अपनी अनेके घटनावोंमें घटावो। जब-जब दुःख लगे हों उन प्रसंगों में देख लो कि इसमें मैंने कसूर क्या किया जो दुःख हुआ? हमारे कसूरके बिना दुःख हो ही नहीं सकता अब एक समस्याका उत्तर लो, जब कि हम तो सदाचारसे रहते हैं। किसीका बिगाड़ नहीं करते हैं, किसी प्रकारका कोई असद्व्यवहार भी नहीं है, तिस पर भी कोई बैरी हमें गालियाँ दे, अपयश करे, यहाँ वहाँ सदवा तद्वा बके सो वहाँ यह प्रश्न होता है कि मैंने तो कुछ भी अपराध नहीं किया, फिर यह दुःख क्यों हो गया? मेरी कोई बात खोटी हो तो यह बात ठीक है कि मेरे अपराधसे मुझे दुःख हुआ है, किन्तु मैं दूध का धोया हूं, मैं कुछ मलिनता भी नहीं करता हूं, पापवृत्तिमें नहीं करता हूं मेरा क्या कसूर है?

अब इसका समाधान देखो–इससे कसूर पहिला तो यह है कि उस ओर तुम्हारी दृष्टि क्यों गयी कि उसने ऐसा क्यों किया? यह ऐसा क्यों कर रहा है? तुम अपनी परिणति में आत्मबुद्धि ऐसी फंसाये हो कि तुम वहाँ संकट अनुभव कर रहे हो। संकट कुछ है नहीं। ज्ञान वेदा जाता है। इतनी ही तो वेदना है, इसके आगे कुछ नहीं, पर तुम स्वभाव दृष्टिसे चिगकर और अन्य-अन्य विकल्पोंमें आ गये, बस यही तुम्हारा कसूर है और इस कसूरके कारण तुम दुःखी हो रहे हो। और भी दूसरी बातें सोचो तो फिर यह लगेगा कि

पूर्व जन्ममें खोटी प्रवृत्ति की थी, मेरा यह आजका कसूर नहीं है, पहलेका है। सो अब जो दुःख हो रहा है वह अपने ही कसूरसे दुःख हो रहा है। दूसरेके अपराधसे दुःख नहीं होता है। एक यही बात जीवनमें उतारकर चलो तो बहुत सी परेशानियोंको दूर कर सकते हो।

मेरी दृष्टि अद्वैतदृष्टि हो, द्वैतमें नहीं। एकको ही लक्ष्यमें लेना है, जान लेना है, वहाँ जो गुजरता है, उत्तम गुजरता है। अद्वैत भावमें न विपत्तियाँ हैं, न जन्म है, न मरण है, न कोई संकट है। उस अद्वैतबुद्धिसे चिगे कि विपत्तियाँ भी हैं, जन्म भी है, मरण भी है, सब कुछ है। सो मैं अद्वैत भावना करूँ, और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

यत्र कुत्राप्यवस्थायामस्मि तत्रैव यत्नतः।
कृत्वा सत्याग्रहं शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१०॥

मैं किसी भी अवस्थामें होऊँ उस ही अवस्थामें यत्न करके और सत्यका आग्रह करके शांत होता हुआ अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। जगत्में कौनसी स्थिति ऐसी है कि जिस स्थितिमें आप संतोष कर सकें कि बस अब हमें पूर्ण सुख हो गया है। क्या ५० हजारकी स्थितिमें कोई संतोष कर लेगा? ५० हजारकी स्थिति हो जाने पर वह उससे आगे की बात देखेगा। फिर कितनेमें संतोष कर लेगा? क्या लाखमें, क्या करोड़में? किसी परमें संतोष कियाही नहीं जा सकता, क्योंकि जब परका लक्ष्य है, तब ऐसी स्थितिमें अमौलिकता स्वयं बर्त रहे हैं, वहाँ वे संतोष कैसे कर लेंगे?

लोग सोचते हैं कि अभी साल दो सालमें यह काम कर लेंगे या लड़का काम करने लायक बन जायेगा तो मैं सर्व चिंतावोंको छोड़कर केवल धर्मसाधनामें लगूँगा। पर वह समय ज्यों-ज्यों गुजरता जाता है शांत तो रहना दूर रहा, और भी अशान्ति बढ़ जाती है, बीमार बहुत हो गये तो बीमारीकी अवस्थामें यह सोचने लगते हैं कि अब तो और कुछ नहीं करना है, इस बीमारीसे निवृत्ति हो जाये तो केवल धर्मसाधनामें हीं लगूंगा, देर नहीं लगाऊँगा। क्योंकि यदि बीमारीमें गुजर गये तो फिर मामला ही साफ हो गया। धर्म न कर सके, इसका बड़ा खेद है। अब इससे निवृत्ति हो जानेपर केवल धर्मसाधनामें ही लगेंगे, ऐसा सोचता है। पर बीमारीसे निवृत्ति होने पर वे विचार धीरे-धीरे उड़ते जाते हैं और उसी स्थानमें आ जाते हैं जो बीमारीके पहलेकी स्थिति थी—राग, रंग, मोह वही सब बातें आने लगती हैं।

कोई सोचे कि मैं कुछ समय बाद जब आजीविका स्वतन्त्र बना लूँगा या अन्य बात बना लूंगा तब मैं धर्मसाधनामें आगे बढ़ूंगा तो आगेका समय आने पर वह फिर असंतोष

में बढ़ जाता है और वे अपनी इच्छायें, धार्मिक अभिलाषायें पूर्ण नहीं कर सकते। सो भैया, कुछ भी अवस्था हो इस सम्बन्धमें अभीसे ही धर्मसाधनाकी क्रिया करनी चाहिए। मनमें यह नहीं आना चाहिये कि मैं इतना कर लूं फिर फुरसत खूब मिल जायेगी तब धर्मसाधना करूँगा। जैसी भी स्थिति हो, गरीबीकी स्थिति हो, संकटकी स्थिति हो और जिस-जिस प्रकारकी स्थिति हो, इस स्थितिमें ही मार्ग निकालना, विभाग करना, धर्म साधना करना उचित है।

. भैया ! धर्म तो एक भावनाका नाम है। सद्भावना, शक्तिचिंतन, रागद्वेषरहित अपनी वृत्ति बनाना यह सब धर्मका पालन है और व्यवहारमें पूजा, वंदनादिक जितनी भी क्रिया की जाती हैं वे सब इस धर्मकी साधनाके लिए की जाती हैं। किसी भी अवस्थामें हों उस ही अवस्थामें यत्न करके और सत्य जो निज आत्मतत्त्व है, यथार्थ सहज अपने आपके ही अस्तित्वके कारण जैसा जो कुछ मैं हूं उसका आग्रह करके, विचार करके, आलम्बन करके, विश्वास करके शान्त होऊँ और अपने आप सुखी होऊँ। यदि आगेकी स्थिति सोचते हो कि मैं ऐसा बन जाऊँगा तब यह धर्म करूँगा तो यह पता नहीं कि अभी तो सोच रहे हैं कि आगे निवृत्तिकी स्थिति आयेगी, पर यह भी तो संभव है कि इससे अधिक मोह और लगाव की स्थिति बन सकती है।

जैसे कोई कहता था, कोई क्या यहींकी बात है। एक माँ जी कहती थीं वर्षों पहले कि मेरा बच्चा संभल जायेगा तो हमें खूब निवृत्ति हो जायेगी और कोई चिन्ता न रहेगी तब मैं धर्मसाधना करूँगी। बादमें पूछा तो बोली कि अब यह पोता हो गया तो इसको भी खिलाना पिलाना पड़ता है। अब भी सोच लो कि वह पोता समर्थ हो जायेगा तब निवृत्ति मिल जायेगी क्या ? इसके आगे एक बात और आ जायेगी। जैसे-जैसे लम्बा टाइम कटता जाता है तैसे-तैसे लेनेके देने पड़ जाते हैं। पर धर्मक्रियाके लिए ज्ञानार्जनके लिए अपने आपमें एकाकी शांत वातावरण रखनेके लिए हम वर्तमानमें यत्न करेंगे नहीं और आगामी कालको सोचते हैं कि ऐसा करेंगे। तो यह पता नहीं कि आगे समय आये तो उस समय भाव किस प्रकारके बन जायें पता नहीं कि उस स्थितिसे कुछ गिरेंग कि ऊँचा उठेंगे।

एक जगह प्रश्न व उत्तर किया है कि "त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषा संसारसंततिच्छेदः" विवेकी पुरुषको, विद्वान् पुरुषको बहुत ही जल्दी कौनसा काम कर लेना चाहिए ? यह प्रश्न है। उत्तरमें कहा गया है कि संसारकी संततिका छेद कर लेना चाहिये। संसारकी संतति है मोह, तो उसका विनाश कर लेना चाहिये . सांसारिक पदार्थोंसे मोह हटा लेना चाहिए। सो सोचते यह हैं कि इतना मोह और अभी कर लें, फिर इसके बादमें मोहका

नाश ही कर लेंगे। इसका मोह और कर लेनेका मतलब यह है कि मोह और आगे आयेगा। देखो भैया, ६ खण्डकी विभूतिके मालिक चक्रवर्ती, बड़े राज वैभवमें रहते हुए भी अपने ज्ञानको सावधान रख सकते हैं। निर्लेप, सबसे पृथक् अपने आपमें झुके हुए रह सकते हैं तो क्या इस अल्प समागममें रहकर सबसे अलग अपने आपके विचारोंमें किसी भी समय नहीं रह सकते ? सब अपना प्रमाद है और जिस प्रमादमें ऐसा भाव आता है, अजी देखा जायेगा अभी तो ठीक है, आगे देखा जायेगा उस प्रमादसे हम अपनी बरबादी कर रहे हैं। सो निष्प्रमाद होकर अपने आपकी साधनाके लिए इसी समयसे यत्न करना चाहिये।

एक ऐसी किम्बदन्ती है भैया ! कि एक बार नारद घूमनेके लिए नरक गये। सो वहाँ पर खड़े होने तककी भी जगह नहीं थी, झट वहाँसे झुंझलाकर चले आये। बादमें बैकुण्ठ गये तो वहाँ साराका सारा स्थान खाली पड़ा था, केवल विष्णु महाराज लेटे हुए थे। नारद बोले—महाराज, नरकमें तो इतनी भीड़ है कि खड़े होने तककी भी जगह नहीं है और यहाँ सब खाली पड़ा है, केवल आप अकेले पड़े आराम कर रहे हैं, यह कैसा पक्ष-पात है ? विष्णु भगवान्ने कहा कि अच्छा मैं तुम्हें इजाजत देता हूँ कि जितने जीव तुम चाहो यहाँ ले आवो। नारदने मनुष्यलोकमें आकर सोचा कि अब किससे स्वर्ग चलनेके लिए कहें ? पहले बूढ़ोंसे ही कहें। एक बूढ़ा व्यक्ति मिला, नारदने कहा कि चलो हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें। भैया ! स्वर्ग बिना मरे कोई जा नहीं सकता है यह बात तो सब जानते हैं। बाबाजी भी जानते थे। सो बाबाजी ने दो-चार गालियाँ सुनायीं। बोला कि हमीं तुमको मिले फाल्तू, जावो किसी दूसरेको ले जावो। इसी तरहसे नारदजी ५-७ बूढ़ोंके पास गये, पर कोई भी वहाँ जानेके लिए तैयार न हुआ।

अब नारदने सोचा कि कोई भी बूढ़ा जानेको तैयार नहीं होता है, तो अब जवानोंके पास जाएँ। सो नारद अब जवानोंके पास आए। एक दो से कहा कि चलो भाई हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें। एक १९ वर्षका जवान बालक मिला जो कि मंदिरके चबूतरे पर बैठा माला फेर रहा था। नारद बोले—बेटा, चलो हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें, तो वह तैयार हो गया। दस कदम तो चला और फिर बोला कि महाराज, मेरी एक बात तो सुनो, अभी-अभी सगाई हो चुकी है, दो तीन दिन शादीके हैं। घरके अन्दर सब कुछ प्रबन्ध हो चुका है। बराती भी आ रहे हैं, सो आप कृपा करके ५ वर्षके बाद आना तब हम चलेंगे। कहा—अच्छी बात। शादी हो गई। ५ वर्षके बाद नारद उसके पास आए। बोले—बेटा चलो। लड़का बोला कि यह एक बच्चा हो गया है, इसको जब तक पैरों पर न खड़ा कर

दें तब तक कैसे चल सकते हैं, तो कृपा करके आप २० सालके बाद आना, हम जरूर चलेंगे। २० वर्षके बाद नारद आए, बोले—बेटा चलो। तो वह आदमी बोला कि बेटेकी शादी हो गयी है। अब पोतेका तो मुख देख लें। कृपा करके आप १० वर्षके बाद आना तब हम चलेंगे। दस वर्ष बीत गये। नारद आये, बोले–बेटा अब चलो। तब वह पुरुष बोला कि महाराज, बड़ी गृहस्थी हो गयी। बड़े परिश्रमसे धन कमाया है, पुत्र कुपूत हो गया है, यह सारा धन बरबाद होगा, इसलिए इस भवमें अब हम न जा सकेंगे। कृपा करके आप दूसरे भवमें आना तब हम आपके साथ जरूर चलेंगे। तो वह मरकर साँप बन गया और जहाँ पर धन गड़ा था उसी जगह पर रहने लगा। अब वहाँ भी नारद गए, बोले–अब तो चलो तो वह अपने इशारेसे फन हिलाकर कहता है कि पुत्र कुपूत हो गया। मैं धनकी रक्षा के लिए यहाँ साँप बन गया। मैं अब तो नहीं जा सकता।

नारद जी फिर स्वर्ग आए व बोले–महाराज, स्वर्ग आनेके लिए कोई भी तैयार नहीं होता है। आपका इसमें कोई पक्षपात नहीं। एक कथानक है उसमें आत्मतत्त्वकी बात यह है कि जगत्में जीव ऐसा ही अनजान है कि जिसमें अंतः प्रेरणाकी बात, अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपके दर्शनकी बात नहीं होती है और बाह्यदृष्टिसे बाहर बाहरका डोलना ही बना रहता है, यह महान खेदकी बात है अन्य कोई खेदकी बात नहीं है। दुकानमें घाटा पड़ा, कुछ और हो गया तो हो गया, परिवारमें इष्टका वियोग हो गया, उनका कुछ संकट नहीं। ये तो बाहरके पदार्थ हैं, जैसी उनकी स्थिति है वैसा होता ही रहेगा। मुझ पर संकट तो मोहका है। इस मोहके स्वप्नमें यह असार बात भी सार नजर आती है, विनाशीक चीज अविनाशीक नजर आती है, अशरण तत्त्व शरण नजर आता है, यही बड़ा संकट है।

भैया, एक कोई गाँव है, सच्ची घटना बतला रहे हैं। उस गाँवमें एक बढ़ई रहता रहता है। वहाँसे जो कोई मुसाफिर निकलता है वह उस बढ़ईसे तो पूछता है कि फलाने गाँवका रास्ता किस तरफ है? तो वह बढ़ई हँसी मुसखरी करता है। क्या? कि गाँव तो पूरबमें है और बता दिया दक्षिणको कि इस तरफसे जाना है। और साथमें यह कहता जाता कि देखो इस गाँवमें सब लोग मजाकिया हैं, झूठ बोलकर हँसी करने वाले हैं। सो गाँवमें तुम किसीसे रास्ता पूछोगे तो वे उल्टा ही रास्ता बतावेंगे। अब वह मुसाफिर आगे चलता है तो जैसे बच्चोंको मना कर दें तो उनकी इच्छा उसी कामके लिये होती हैं। इसी तरह वह मुसाफिर भी गाँवमें किसीसे पूछता है वे बेचारे सही बताते हैं पर वह मुसाफिर दिल्लगी मानता है। किसीसे फिर पूछता, तो वे बेचारे भी बताते हैं, पर मुसाफिरके तो एक बात जम गयी कि उस गाँवके सब लोग मजाकिया हैं। उसने समझा

कि सब उल्टा बता रहे हैं। गाँव तो दक्षिणमें है और बताते पूरबमें हैं, सो दक्षिणके रास्तेसे धीरे-धीरे दूसरे गाँवमें पहुँच गया और वहाँ पूछा तो उसे लौटना पड़ा।

इसी तरह सबसे बड़ा दुःख तो भ्रमका है। राग द्वेषसे भी बढ़कर और कुछ कह सको उससे भी बढ़कर अधिक संकट जो हैं वे भ्रमसे हैं, मोहसे हैं। क्योंकि भ्रम एक ऐसा जाल है कि उसके कारण जीव संसारमें घिरा ही रहता है। उसको मुक्तिका मार्ग नहीं मिल पाता अर्थात् स्वयं मुक्तिस्वरूप जो यह आत्मतत्त्व है, सबसे निराला केवल अपने चतुष्टय-रूप जो यह स्वयं सहज आत्मतत्त्व है उसकी दृष्टि नहीं हो पाती है। सो सबसे बड़ा कष्ट है हम आप किसी पर तो यह है एक मोहका संकट और इस मोहमें ये सब बातें ऐसी दिखती हैं कि यह मेरा ही तो है, यह घर मेरा ही तो है। ये स्त्री पुत्र मेरे ही तो हैं, यह वैभव मेरा ही तो है, मैं ऐसा ही तो हूं, असत्य बात सत्य-सत्य समझमें आ रही है।

जैसे स्वप्नमें जो कुछ दिखता है वह सब सत्य लगता है। इसी प्रकार मोहके आशय में यह दृश्य सत्य लगता है। क्यों भैया ! स्वप्नके साथ तो सब सत्य जान पड़ता है ना ? अगर स्वप्नमें कोई साँप दिख जाये और वह खानेको दौड़े तो सोते हुएमें भी चिल्ला उठते हैं। स्वप्नकी बात सत्य नजर आती है। इसी तरह मोहके कालमें सब कुछ सत्य नजर आता है। तत्त्वकी बात तो यह है कि कुछ भी सत्य नहीं है। मैं तो केवल मात्र अपने चेतन-स्वरूपको लिए हुए एक सत् हूँ। पर भ्रममें यह सब दिखता है कि यह सब कुछ सत्य है। यही एक सबसे बड़ा कष्ट है और मोह नष्ट हो जानेके बाद, ज्ञान जग जानेके बाद यह भी उसमें शक्ति नहीं रहती कि किसी भी परपदार्थको अपना तो मान ले। ऐसा तो वह ज्ञानी पुरुष हो जाता है।

एक मनुष्य था। उसे नींद आ गयी। वह स्वप्नमें देखता है कि राजाने मुझे ५० गायें इनाममें दी हैं। एक ग्राहक बोलता है कि मुझे १० गायें चाहिए। बोला—छांट लो। छाँट लिया, बोला—कितनेमें दोगे। १००-१०० रुपये में कहा—५०-५० में दे दो। ८०-८० में देंगे। लो अच्छा ६०-६० में दे दो। चलो ७०-७० ही ले लो। नहीं ८० से कम न देंगे। दोनों अड़ गये, झड़प हो गई, यह स्वप्न की बात कह रहे हैं। इतनेमें उसकी नींद खुल जाती है। वह पहिले तो मौज मानता था कि ७०-७० दे रहा है, ७०० यों ही हो जावेंगे। अब जगने पर देखता है कि यहाँ तो कुछ भी नहीं रहा, तो आँख मींचते हुए कहता है कि अच्छा ७०-७० ही दे दो। भैया, अब उसके आँख मीचनेसे क्या होता है ? वह तो स्वप्नकी बात है, सो भैया, बहुत बड़ी ऊँची समस्या है हम आप पर मोहके संकटोंकी, और कोई समस्या हम आपपर नहीं है। यही सबसे बड़ी समस्या है कि हम परपदार्थोंको

अपना समझते हैं और उनसे ही अपना बड़प्पन समझते हैं। इतनी जो भीतरमें वृत्ति बनी हुई है यह सबसे बड़ा संकट है। भैया, चाहे समागम बना रहे, बातें करते जायें, उद्यम होता रहे, लेकिन भीतरमें ऐसा विश्वास तो न रखना चाहिये कि मेरा कुछ है। अरे शरीर भी तो मेरा नहीं है। जो राग किया जाता है वह भी तो मेरा नहीं है। ये विकार भी आते हैं और मिटते हैं और तो क्या, जो परिणमन होता है वह भी तो मेरा बनकर नहीं रहता है, विलीन हो जाता है। मैं तो सदा रहने वाला एक तत्त्व हूँ। ऐसा गुप्त मैं आत्मतत्त्व हूँ कि जिसमें परिणमन निरन्तर चलता रहता है, पर उससे बंध नहीं हो पाता है। परिणमन होता है और विलीन हो जाता है। मैं वहींका वहीं हूँ।

मैं अकेला हूँ, मेरा अन्यत्र कुछ भी नहीं है, ऐसी दृष्टि किसी क्षण आवे अथवा भीतर में किसी भी क्षण ऐसा ज्ञानस्पर्श हो तो मनुष्य होना सफल है। समागम अच्छा पाया, श्रेष्ठ कुल पाया, श्रेष्ठ धर्म पाया, सब कुछ पाया, पर जीवन तो सफल तब है जब मुक्ति का मार्ग मिले। हम झंझटोंसे कैसे छूट सकते है इसकी समझ तो आये। भैया, जिनसे छूटना है उनसे हम आप अलग ही हैं, ऐसा ज्ञान होना ही उनसे छूटनेका मार्ग है। शरीर से छूटना है तो शरीरसे अपने को अलग समझो। मेरा स्वरूप शरीरसे अलग है, ऐसा भान हो तो यही शरीर से छूटनेका उपाय है। राग द्वेष मोहके फंदोंसे छूटना है तो यह समझो कि मैं उनसे अलग हूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं, ऐसी दृष्टि बने तो उनसे छूट सकते हो।

शुद्ध सहज अपने आपके अस्तित्वके कारण स्वरसतः जिस प्रकार जो हो वह दृष्टि में आ जाए तो मुक्तिका मार्ग है और दूसरा शांतिका मार्ग नहीं है। सो अनेक उपाय करके अभीसे इसके लिए लगना चाहिये। आगेकी हमें प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए कि इतना कर चुकनेके बाद मैं इस कामको करूँगा, ऐसी मनमें प्रतीक्षा न करके जिस भी स्थितिमें हो उसके विभाग बना लो और अपना काम करो।

पुरुषार्थ चार होते हैं–धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। धर्मके मायने पुण्य है, क्योंकि धर्मकी बात मोक्षमें शामिल है। अर्थके मायने धन कमाना। इसमें दुकान चलाना, और भी अर्थसाधक दूसरे कामोंकी खबर रहना है, यह अर्थ पुरुषार्थ कहलाता है। काम पुरुषार्थमें विषयभोग, पालन, सेवा आदि आ जाते हैं और मोक्ष पुरुषार्थ पंचम कालमें है क्या ? नहीं। वह अभी किसीको नहीं मिलता है तो इसके बजाये एक और पुरुषार्थ है जो आपको पसंद आवेगा। आज कहो तो बता दें, आप खुश हो जावेंगे। यह पुरुषार्थ है नींद लेना अर्थात् सोना। अब ये चार पुरुषार्थ रह गये—पुण्य, अर्थ, काम व नींद। दिन-रात के २४ घंटे होते है, सो सबका बराबर-बराबर समय बाँट दो। ६ घण्टे धर्ममें लगावो,

६ घण्टे अर्थकार्यमें अर्थात् धन कमानेमें, ६ घण्टे काम पुरुषार्थ में रहो, अपने बच्चोंके पालन-पोषण में रहो और ६ घण्टे नींद लेनेमें रहो। सुबहके जो घण्टे हैं धर्म करनेके, उनमें ५ ही घण्टे रख लो, एक घण्टा शामके समयमें लगा दो। जरासी अदल-बदल हो जायेगी, मगर बिल्कुल सीधा हिसाब है और ऐसी ही प्रायः चर्या हो रही है। जो अपने मार्गमें लग रहे है उनकी अपनी इस चर्या से जो कुछ भी धन कमाते हैं उसमें ही संतोष रखकर उसके विभाग करके जितना हो सके धर्ममें लगाओ, और जो कुछ बचे उससे अपना गुजारा करो। अगर यह भाव हो कि मैं धर्म आगे करूँगा तो पता नहीं कि आगे दिमाग सही रहेगा कि नहीं ? यह धर्मकी बात तो इसी समय करनेकी है और इसीमें हित है।

कश्चित् कालश्च देशः स्यात् पूर्तिमें तद्गुणैर्न हि।
शुद्धवृत्तिर्यतः स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–११॥

कोईसा काल हो, कोईसा देश हो, किसी देश या कालके गुणोंसे मेरी कुछ पूर्ति नहीं है, पूर्ति तो शुद्ध वृत्तिसे है। शुद्ध परिणमना, स्वभावरूप वर्तना इससे ही मेरी पूर्ति होती है। अपनी प्रगति, विकास, आनन्द, शांति अपने आपमें अपने आपके द्वारा पा लिया जाये, इससे ही अपनी उन्नति है। दूसरोंकी परिणतिसे अपनी उन्नति नहीं है।

जब कहते हैं कि काल खराब है, तो उसका तात्पर्य यह है कि हीनपुण्य, हीनवृत्ति, हीन आचार, हीन विचारके लोगोंका समुदाय जब होता है तो उसीको कहते हैं कि काल खराब है। वैसे कालद्रव्यकी भी पर्याय शुद्ध है, धर्मद्रव्यकी तथा अधर्मद्रव्यकी भी पर्याय शुद्ध होती है। इसी तरह आत्मद्रव्यकी भी पर्याय शुद्ध रहती है। कालद्रव्यकी पर्याय अशुद्ध नहीं, काल खराब नहीं, पर जब प्राणी खराब होते हैं तो कहते हैं कि काल खराब है। इसी प्रकार देशकी बात है। देश क्या है ? किसी जगहके आकाश प्रदेशोंको देश कहते हैं। देश क्या खराब है ? जहाँ रहने वाले लोगोंके आचार-विचार श्रद्धान बुरे होते हैं उस ही को कहते हैं कि देश खराब है।

भैया ! आत्माकी पूर्ति तो आत्मवृत्तिसे होगी। जैसे बताया है एक जगह कि आशा रूपी गड्ढा परिग्रहसंचयसे परिपूर्ण नहीं होता। बल्कि यह ऐसा विचित्र गड्ढा है कि जितना परिग्रह हो, संचय हो उतना ही यह गड्ढा गहरा होता चला जाता है। जमीनके गड्ढेकी बात दूसरी तरहकी है कि उसमें कूड़ा-करकट, मिट्टी, ढेला डालते गये तो वह भर जायेगा, पूरा हो जायेगा। फिर उसमें कुछ डालनेकी गली न होगी, पर आशाका गड्ढा ऐसा है कि यहाँ कुछ भी मिल जाये, कुछ भी परिग्रह संचय हो, पर यह गड्ढा पूरा नहीं

होता। इसी तरह आत्माको भी भरे पूरे होनेकी बात है। बाह्य दृष्टियोंसे बाह्यपदार्थ विषयक आकुलताओं से आत्मा भरा-पूरा नहीं हो पाता। चिन्ताएँ हो जाएँ, बाह्यदृष्टियाँ हो जायें तो आत्मा भरा पूरा नहीं होता है। इसकी पूर्ति अपने आपकी दृष्टियोंसे, अपने आपको उपयोगमें लानेसे, अपने आपके ज्ञानके अभ्याससे होती हे। सो अपनी शांतिके लिए बाह्यकल्प छोड़कर अपने आपके स्वरूपको जानें और जानते रहें, यही सुखका मार्ग है।

मे चैतन्यस्य शास्त्रं क्व, चर्चा ज्ञानं क्व कल्पना।
स्वतो बहिर्न धावानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१२॥

मैं एक चैतन्यमात्र वस्तु हूँ, इन चैतन्यमात्र वस्तुके बाहर मेरा कुछ नहीं है। इसमें कहाँ तो शास्त्र, कहाँ चर्चा, कहाँ ज्ञान और कहाँ कल्पनाएँ? बाह्यमें जानन वैभवकी तो कथा करना ही क्या है? वह धन वैभव तो आत्मामें है ही नहीं। वह तो प्रकट भिन्न मालूम होता है, पर जो अपने आपमें हैं रागद्वेष आकुलताएँ चैतन्यमात्र निजस्वरूप को देखो वहाँ नहीं है। जैसे प्रतिक्रमणमें कहते हैं कि मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, मेरे पाप मिथ्या हों, क्या कह देनेसे पाप मिथ्या हुए? इसमें तत्त्व यह है कि मेरेमें वह दृष्टि प्रकट रहे, उस शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि बनी रहे कि जिस दृष्टिमें शुभ अशुभ विभाव परिणतिकी दृष्टि ही न हो। जहाँ उनकी अवस्थिति ही नहीं है ऐसी शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि हो।

चित्स्वभाव चैतन्यशक्ति जो कि ज्ञानगम्य है, स्वसंवेद्य है, वह चित्स्वभाव जिस दृष्टिमें है ऐसी वृत्तिमें रहने वाले ज्ञानी पुरुषके वहाँ विभावमें उपयोग नहीं है, शुद्ध तत्त्व का जो अनुभव कर रहा है, ज्ञान कर रहा है ऐसे किसी-किसी पुरुषमें क्या क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं हैं? हैं। बर्तते रहने पर भी उपयोगमें जब शुद्ध चित्स्वभाव है तो उपयोगमें कषायें नहीं हैं। वहाँ कषाय आत्मामें है, पर उपयोगमें कषाय नहीं है। उपयोग में शुद्ध तत्त्व है, ऐसी स्थिति जब कभी होती है तो चौथे गुणस्थानमें भी और ऊपरके गुण-स्थानमें भी अधिक समयके लिए होता है, चौथे आदि गुणस्थानोंमें कम होता है तो यह उपयोगमें आ जायेगा कि यह मैं सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। वहाँ अन्य कुछ उपयोग ही नहीं है।

शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें ही वह प्रताप है कि जो विशेष कर्मनिर्जरा होती है, आ-त्मीय आनन्द विशेष प्रकट होता है, उस आत्मीय आनन्दमें वह शक्ति है कि कर्म ईंधनको वह जला दे, इष्टोपदेशमें लिखा है कि "आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्। न चासौ खिद्यते योगी वहिदुखेष्वचेतनः।'

आनन्द बद्धकर्मईंधनको, बड़े प्रबल कर्मरूप ईंधनको जला देता है। कर्म भस्म होता है आनन्दके द्वारा, कष्टोंके द्वारा नहीं। जहाँ लोग देखकर कष्ट सहते हैं ऐसे बाह्य रूपोंके बीच रहते हुये तपस्वी अन्दरमें आनन्दका स्वाद लिया करते हैं। उस आनन्द परिणतिका निमित्त पाकर कर्म खत्म होते हैं, निर्जीर्ण होते हैं, उन बाहरी कष्टोंका निमित्त पाकर कर्म खत्म नहीं होते हैं।

प्रश्न—फिर ये बाह्य तप किये क्यों जाते हैं? उत्तर—ये तो किये जाते हैं दो कारणोंसे। पहला तो यह कि विषयकषायोंका उपयोग न रहे, इसके लिए तप है और विषय कषायोंका न रहना जीवके लिए भला है। जब अनशन आदि अन्य-अन्य विविध तपस्याओंमें लगते हैं तो विषय कषायोंसे पराङ्मुखता होती है और ऐसी स्थितिमें यह जीव शुद्ध तत्त्वकी ओर सुगमतया लगता है। दूसरी बात यह है कि बड़े आरामसे पाया हुआ ज्ञान यद्यपि वह शुद्ध ज्ञान है, सही ज्ञान है, यथार्थ है तो भी कदाचित् कोई कष्ट आ जाये, भूखे रह जानेकी नौबत पड़े, और-और भी कष्टोंका अवसर आवे तो उस स्थितिमें भी यह अपने ज्ञानको नहीं खो सके, ऐसा इसमें बल रहे उसकी तैयारी है तपस्या। उन उन तपस्वियोंका जब अभ्यास होगा और उन तपोंसे सहनशील बनेंगे, कष्टसहिष्णु होंगे तो अचानक कोई उपद्रव आवे, संकट आवे, दुःख भी आ पड़े तो भी उन समयोंमें यह जीव अपने ज्ञानकी रक्षा कर सकता है। इसलिए बाह्य तपका विधान है और फिर तीसरी बात यह है कि बड़े आराम, सुकुमार और सुख पसंदगीसे रहनेकी जब वृत्ति होती हैं तो वहाँ प्रकृत्या भाव शुद्धताकी ओर नहीं बढ़ता है, प्रमाद होता है, मुक्तिके आचारोंमें अस्वाधीन होता है, आलस्य होता है। इसलिए तप करना, संयम करना यह सब प्रयोजनकी बात है।

तपोंमें प्रधान लक्ष्य यह है कि अन्तरमें उपयोग आत्माके उस शुद्ध सद्भावको ग्रहण करता रहे कि यह मैं चित् स्वभावमात्र एक चैतन्यतत्त्व हूँ। जिस किसी भी स्थितिमें थे वह स्थिति दूसरे क्षण न रही, अन्य स्थिति आ गई तो यह भी दूसरे क्षण न रहेगी, तो उन क्षणों को, उन स्थितियोंको हम क्यों ग्रहण करें और क्यों उनमें फंसे रहें? क्यों उनको आत्मारूप मानते रहें? वे उस चैतन्यका स्वरूप नहीं। यह छुटपुट ज्ञान अथवा ज्ञानका कुछ भी परिणमन स्वभाव है यह भी विलीन हो जाता है। ज्ञानका साधन जो शास्त्र है, शब्द रचना है यह भी मुझ चैतन्यका नहीं है। मैं तो ध्रुव चेतनारूप हूँ। मैं अपने इस स्वरूपसे बाहर न दौड़ूं और अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी रहूँ।

यह विभाव परिणमन इतने वेग वाला है कि इसको बहुत ऊँचा अमृत तत्त्व इस ज्ञान में नहीं मिले तो यह तो अपने वर्तमान पदके आचारमें भी नहीं चल सकता। जैसे तेज चलने वाले, बहने वाले पानोके रोकनेके लिये तेज रुकावट चाहिये, इसी तरह इस विभाव परिणमनसे चलते हुए जीवको बहुत तेज रुकावटकी दृष्टि चाहिये। वह रुकावट है शुद्ध चैतन्यस्वरूपका आलम्बन, विश्वास, ज्ञान। अपने उस ज्ञानका बहुत-बहुत उपयोग लेकर यह मैं अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ। अपनेसे बाहर-बाहर अपना आनन्द ढूँढ़ते रहें तो असंतोष ही मिलेगा। संतोष मिलेगा तो अपने आपके आत्मदर्शनमें मिलेगा।

भैया ! बाहरमें अपना संतोष नहीं मिल सकता, क्योंकि बाह्यपदार्थ तो अपने आपके स्वामी हैं। वे स्वयं अपने आपमें परिणमते हैं। वे स्वयं अपने आपको क्रियावती शक्तिसे रहते हैं। आते हैं, जाते हैं, बिछुड़ते हैं। सो जब वह बिछुड़ता है तब उनके उपयोगमें यह जीव कष्ट अनुभव करता है। फिर संतोष इसे कैसे हो ? संतोष होगा तो इसे अपने आप में ही होगा। किसी जीवका कुछ सुधार हो जाये तो लोग क्या उपाय रचते हैं कि उसको कोई धक्का दें, संकट ला दें, विरोध करें दुःख पहुँचानेके लिये। किन्तु उन उपायोंसे ज्यादा दुःख नहीं पहुँचता। हाँ, उसे कोई काम लगा दिया जाये, तृष्णा लगा दी जाये तो उससे ज्यादा वह कष्ट में पड़ जायेगा। तो अब यह बतलावो कि जो परिजन इतनी तृष्णाकी लाइनमें लगा देते हैं तो स्पष्टतः उन विरोधियोंसे बढ़कर ये विरोधी नहीं है क्या ?

वस्तुतः न कोई विरोधी है और न कोई मित्र है। यह जीव ही स्वयं अपने आप अज्ञान में वर्तता हुआ अपना विरोधी हो रहा है और अपने आपके ज्ञानसे वर्तता हुआ मित्र बन जाता है। कोई किसीका न विरोध करता और न कोई किसीका बाँधवपना करता है। सब अपने अपने कषायसे अपनेमें परिणमते रहते हैं। किसीने उन परिणमने वालोको इष्ट मान लिया, अनिष्ट मान लिया तो मान लिया, पर कोई किसी दूसरेका करता कुछ नहीं है। मैं अपनेमें ही अपना व्यूह रचता हूं और दुःखी होता हूं। व्यूहको छोड़ दूं और अपने आपको अपने शुद्ध भावको देखूं तो सारे संकट दूर हो जाते हैं। हमने स्वयं ही अपनी कल्पनाओंसे अपने ऊपर संकट लादा है और दूसरे हम ही अपनेमें शुद्ध ज्ञान करके संकटोंको त्याग देंगे। हम ही अपने आपके करने वाले हैं। चाहे अपनेको हम ही बुरा बना लें, चाहे अच्छा। किसी दूसरे जीवपर कोई विरोध जड़ दे, यह तो अविवेक है और दुःख बढ़ानेका साधन है।

हम ऐसी वृत्तिसे ही अपनी शक्ति माफिक अपने ज्ञानको समझा-बुझाकर रहें कि

इसकी यह परिणति इससे ही इस तरहकी उठी है और यह ऐसा परिणम रहा है और यहाँ यह परिणम रहा है, ऐसी वस्तु है और ऐसा परिणमन है, इतना मात्र देखो। उनसे मेरेमें कुछ बिगाड़ हो रहा है यह न तको। यदि विपरीतस्वरूप नहीं तकते तो सावधानी हैं। बाहरमें सैंकड़ों कष्ट रहें उनसे कुछ बिगाड़ नहीं होगा। अपनी कल्पनाएँ बनाकर, अपना अर्थ बनाकर अपनेको दुःखी कर लेते हैं। सो हम अपनेको तकें, दुःखी न समझें, अपनेसे बाहर हम न दौड़ लगावें, किन्तु अपने आपके गुणको छूते रहें व अपनी कमीको दृष्टि में लेते रहें, यही हमारे सन्मार्गगमनका उपाय है।

मे चैतन्यस्य भोगः क्व ? तृप्तिस्तृष्णा क्व बन्धनम्।
क्वाज्ञानं क्व विपत्तस्मातस्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१३॥

मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। इस चैतन्यस्वरूप मुझ आत्मतत्त्वके भोग कहाँ हैं ? कहाँ तृप्ति है, कहाँ तृष्णा है, कहाँ बंधन है, कहाँ अज्ञान है, कहाँ विपत्ति है ? अपने आपमें सदा अंतः प्रकाशमान अनादि अनन्त अहेतुक, असाधारण, गुणमय, चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमें भोग नहीं है। भोग एक विकृत पर्याय है। उस शुद्धदृष्टिमें अध्रुव तृप्ति, क्षणिक तृप्ति, इतनी मौज मानकर होने वाली कल्पना, संतोष उस स्वभावमें नहीं है और तृष्णा तो है ही नहीं। तृष्णा तो प्रकट विकृतपर्याय है और बंधन भी नहीं है। बधन भी विकृतपर्याय है और अज्ञान और विपत्ति भी नहीं है। ऐसे अपने स्वरूपके भावमें संकट नहीं होता है। जब इस स्वरूप की ओर प्रवृत्ति नहीं रहती झुकाव नहीं रहता तब बाह्यदृष्टि होती है और बाह्यदृष्टिकी प्रकृति ही आकुलता है सो इस ओर दृष्टिकी भावना, जिस तत्त्वज्ञानीके अधिक रहे वह तत्त्वज्ञानी पुण्य पुरुष है। ऐसे उस चैतन्यस्वरूप मात्र आत्मतत्त्वमें बसकर अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

बोधि, समाधि, परिणाम शुद्धि, स्वात्मोपलब्धि ओर शिवसौख्य सिद्धि—ये पाँच पद हितकर हैं। ज्ञान हो, तत्त्व श्रद्धान हो, तत्त्व रमण हो, सो बोधि है, रत्नत्रयकी प्राप्तिका नाम बोधि है और यही बोधि जब बढ़कर निर्विकल्पकी स्थितिमें होती है तब वही बन जाता है समाधि और समाधिके प्रतापसे उसका परिणाम भी शुद्ध हो जाता है। परिणमन शुद्ध होता है। जहाँ ऐसी शुद्धि हो वहीं शुद्ध यथार्थ आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है और वहाँ ऐसी आत्मोपलब्धि होती है वहीं पर ही मोक्ष सुखकी सिद्धि होती है। शिवसौख्यसिद्धिका मूल बोधि है और उस बोधिका मूल सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शनका लक्ष्य यह शुद्ध सहज तत्त्व है। इस चैतन्यमात्र आत्माकी दृष्टिमें फिर कोई संकट नहीं। तृप्ति, तृष्णा, बंधन,

अज्ञान विपदाएँ ये कुछ नहीं होतीं। करनेका काम अपनेको यही है कि जिस तरह बने, जितना बने, जब बने, हेर-फेर कर, रह-रहकर इस अपने निजस्वरूपका पता रहे। इसका ध्यान रहे यह मैं हूँ और ऐसा मैं होऊँ तो शान्ति है। इतना अपनेको अपने आपमें पता हो कि शिवसौख्य सिद्धिकी स्थिति इसकी बुनियाद पर प्रकट हो जाती है। सो निजको चैतन्यमात्र निरखकर मैं अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

दुःखे ज्ञानच्युतिर्न स्यात् कायक्लेशेऽपि स्वस्थितिः।
उद्देश्यं ज्ञानिनः तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१४॥

ज्ञानमें स्थित रहना सो ही धर्मका पालन है, वही मुक्तिका मार्ग है। ज्ञानकी स्थिति का अर्थ है कि ज्ञानका जो स्वरूप है, उसमें ज्ञानकी वृत्ति होना। ज्ञान क्या होता है? वह तो जानन और प्रतिभासस्वरूप है। वह उपयोगमें रहे–'यह मैं हूं' यही धर्मका पालन है। जब यह आत्मस्वरूप उपयोगमें नहीं रहता तब इस आत्मस्वरूपका उपयोग मैं रख सकूं, ऐसी पात्रता बनाए रखनेके लिए ये सब व्यवहारधर्म है। इस व्यवहारधर्मके बिना भी काम नहीं चलता। यह अपनी पात्रताको बना देता है कि जिससे हम अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित हो सकें।

ज्ञानस्थितिके लिए यह तप है। अनशन ऊनोदरादिक तप इसलिए किया जाता है कि कभी दुःख आ भी पड़े तो उस दुःखके समयमें भी हम ज्ञानसे च्युत न हो जायें। हममें वह सहनशीलता रहे कि जिससे हम अपने ज्ञानस्वरूपको बनाये रहें। फिर दूसरे इसके संबंध में भी ऐसी प्रेरणा होती है कि यह मैं आत्मामें ही स्थित हूं। ज्ञानी पुरुषके इन व्यावहारिक धर्मोंका उपदेश, इन तपस्यावोंका लक्ष्य निज सहजस्वरूपकी प्राप्ति है। किसलिए ये अनशन कर रहे हैं, किसलिए यह व्यवहारधर्म कर रहे हैं? उनका उत्तर ज्ञानीका एक ही है। हमारा उपयोग, हमारा ज्ञान, जैसा मेरा सहजस्वरूप है उसमें रह सके, बस इस स्थितिके लिए ही ये सब धर्म पालन किये जा रहे हैं। यह व्यवहारधर्म ऐसी प्रेरणामें लगा देता है, ऐसे सन्मार्ग में लगा देता है कि जिनसे चलकर हम अपने आपके शुद्ध मार्गमें आ सकते हैं। सो यह मैं भी अपने आपका मूल लक्ष्य यही बनाऊँ।

जैसे कोई पुरुष अपना भवन बनवाता है तो उसका मूल लक्ष्य तो भवन बनवाना है, पर भवन बनवानेके प्रयोजक जो अन्य बातें हैं, जैसे कि लोहे व सीमेंटका परमिट बनवाना, कारीगरोंको बुलवाना, ये सब उसके उपलक्ष्य हैं। उन कामोंके करते हुए भी सीमेंट की परमिट बनवाने आदिका लक्ष्य है कि आज परमिट बनवानी है। मगर संस्कारमें मकान बनवानेकी बात बन रही है। इसी तरह हम अपने जितने भी कार्य करते हैं—देवपूजा, भग-

वानकी भक्ति, भगवानके गुणगान करना, गुरुवों की उपासना करना, गुरुवोंका सत्संग करना, स्वाध्याय आदि उत्तम क्रियावोंका धारण करना, विषयोंका रोकना, षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना, अपनी इच्छावोंका निषेध करना और जो पुण्योदयसे प्राप्त है इस ही समागममें संतोष रखना, व्यवस्था बनाना और धर्मपालन करना, और दान करना, जो कुछ अपनेको प्राप्त है उसका परोपकार करनेके लिए वितरण करना—ये सब कर्तव्य श्रावकोंके हैं। इन कर्तव्योंको करते हुए भी ज्ञानी श्राबक अपने आपके स्वरूपका लक्ष्य और उद्देश्य बनाए रहता है।

यद्यपि उपयोगमें जब जो व्यवहार-क्रिया है तब वह ही है, अन्य कोई उपयोगमें नहीं है, मगर संस्कारमें वही शुद्ध मार्ग है जिसके लिए यह सब किया जा रहा है। जैसे किसीके बच्चेका विवाह हो तो उसका बाप कितने और और काम करता है, निमंत्रण देना, पंचोंको बुलाना, भोजन-सामग्री तैयार कराना, भोजन कराना, आदर रखना, गल्ती हो तो विनम्र होना, कितनी बातें बराबर कर रहा है और जो कर रहा है वे सब उसके उपयोगमें हैं। फिर भी संस्कारमें वही एक बात है कि बच्चेका विवाह करना है। इसी तरह अनेक बातें होती हैं, पर मुख्य लक्ष्य एक होता है। सो सब क्रियावोंकी उन्मुखता कर लेना ये सब उप-लक्ष्य रहते हैं। इस ज्ञानीका लक्ष्य अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रहना है। इस शुद्ध चैत-न्यस्वरूपकी दृष्टिमें ही आत्मीय आनन्द है। उस आनन्दकी अनुभूति स्वसंवेदनमें होती है। सो ऐसे उस शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थिर होकर मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप तुखी होऊँ।

न स्वज्ञप्ति विना ध्यानं यतः स्वोपासनामयम्।
शुद्धात्मोपासनं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१५॥

अपने आपकी प्राप्तिके बिना, जानकारीके बिना उत्तम ध्यान नहीं बनता। उत्तम ध्यान वह है जहाँ निजकी उपासना हो। शुद्ध आत्माकी उपासना ही स्वकी उपासना है। यह जोव जब अपनेको अशुद्ध अर्थात् जैसा है उस रूप स्वीकार नहीं करता है तो अशुद्ध पर्याय बनती है और सबसे न्यारा केवल सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपकी प्रतीति करता है तो सबसे न्यारा बन जाता है, शुद्ध बन जापा है, सर्वका ज्ञाता बन जाता है। अपनेको जिस प्रकार माने उस ही प्रकारका इसे फल प्राप्त होता है। समयसार में लिखा है कि—
"सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो। जाणंतो हु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥"

जो जीव नित्य ही अनवच्छिन्न धारासे शुद्ध आत्मतत्त्वको जानता है वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है और जो अशुद्ध आत्मरूप से जानता है वह अशुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। सब ध्यानका प्रताप है। किसी पुरुषके उल्टा ध्यान हो जाये कि मैं एक भैंसा हूं, जिसके

बड़े लम्बे सींग है, बड़ा विकराल मोटा ताजा, काला, विशालकाय है ऐसा मैं एक भैंसा हूँ सो अपने बारेमें उसे ऐसा ध्यान जमा कि अपनेको भैंसे रूपमें अनुभव करने लगा। संस्कारवश थोड़ा ज्ञान यह भी बना रहा कि यहाँका दरवाजा तो इतना ही छोटा है तो दरवाजेके छोटेपनका तो ज्ञान किया और साथ यह ज्ञान बनाए हुए है कि मैं भैंसा हूँ, कितनी बड़ी सींगों वाला हूँ तब यह चिन्ता करके घबड़ा जाता है कि हाय, इस कमरेसे निकलूँगा कैसे ? कभी कभी सोतेमें अपने आपको ऐसी विपदाओं में अनुभव करता है तो चिल्ला उठता है ना, और डरकर जग जाता है।

जो स्थिति अपनेको अनिष्ट है उस स्थितियुक्त अपनेको कोई मानता है तो वह घबड़ाने लगता है। ये जो कुछ भी स्थितियाँ हैं वे सब विपदाओंकी स्थितियाँ हैं। जो बने जिस रूप ढले, यह अशुभ स्थिति अच्छा परिणाम देने वाली नहीं है। विषयकषायोंके विकल्प बने हुए हैं तो आत्माको शांति नहीं है, क्योंकि मूलमें ही अपने आपको जैसा नहीं है उस रूपमें मान लिया है। स्वयं जैसा है उस रूपमें स्वको मान ता उसको संकट नहीं, कोई विपत्तियां नहीं। एक अपने आपके शुद्ध स्वरूपके उपयोगमें क्लेश नहीं है और जब यहाँसे निकले तो सर्वत्र क्लेश हैं।

भैया ! यह संसारी है, दुःखी है तो कोई इसे दुःखी नहीं बनाता है, अपनी ही करतूतके कारण यह दुःखी है। गुरुजी सुनाते थे कि एक कोई पुरुष था, जिसका नाम था मूरख-चन्द। लोगोंने उसका नाम मूरखचन्द रखा सो वह कुछ दिन बाद नामसे परेशान होकर गाँवसे भागा। गाँवके लोग कोई भी अच्छी तरह नहीं पेश आते हैं, ऐसा सोचकर ही गाँवको छोड़कर चल दिया। चलतेमें रास्तेमें एक जगह ठहर गया। वहाँ पर एक कुवाँ था। उस कुवें पर बैठ गया और अपने पैर कुवेंमें लटका लिए। वहाँसे एक मुसाफिर निकला और उसे इस तरह देखकर बोला—अरे मूरखचन्द ! कैसे बैठे हो ? तो वह एकदम उठा और उस मुसाफिरके गले लग गया और कहा कि भैया ! तुमने हमें कैसे पहिचान लिया कि मैं ही मूरखचंद ही हूँ। पथिक बोला—भैया ! हमको तो नहीं पता था कि तुम्हारा नाम मूरखचन्द है, पर तुम्हारी करतूत देखकर हमने मूरखचंद कहा।

भैया, कोई नई व्यवस्था नहीं बनाई गयी कि संसारी जीव दुःखी हैं और मुक्त जीव सुखी हैं। जो जैसा उपादान है सो बताया गया है। यह कितना दुःखी है सो सभीके अनुभव में और अंदाजमें है कि कितना क्लेश हैं उन सब दुःखोंकी निवृत्तिके लिये आत्म-स्वभावको देखते रहना। आत्माके स्वभावके श्रद्धानमें ज्ञानी आनंदको बनाए रहते हैं।

इस उपायके अतिरिक्त जो अन्य उपाय हैं उन उपायोंसे इसके दुःखकी शांति नहीं है। केवल एक ही उपायसे दुःख शांत होता है।

जैसे मुनीम दुकान पर बैठता है, सब तरहके काम करके भी उसकी श्रद्धामें यह बना है कि मेरा कुछ नहीं है। जो लोग खाते वाले आते हैं उनको वह मुनीम यह भी कहता है कि हमारा आया और इतना गया। मेरा आपसे इतना लेना रहा, ऐसे वचन भी कहता है तिसपर भी उसके विश्वासमें यह बराबर है कि मेरा कुछ नहीं है। मेरा कहकर भी मेरा कुछ नहीं है इसी प्रकार ज्ञानी जीवके भी अन्य पदार्थोंको मेरा कहकर भी यह विश्वास बना हुआ है कि मेरा कुछ नहीं है। यद्यपि जो विश्वासमें बना है उस ही तरहका प्रयोग व्यवहारमें नहीं है। व्यवहारमें मेरा है कहता है, पर विश्वासमें यह बात है कि मेरा कुछ नहीं है तो भी अन्तर्विश्वाससे ज्ञानी अन्तरमें अनाकुल रहता है।

एक छोटा बालक था। उसके घरके लोग गुजर गये। जब बाप गुजरनेको था तो चार-पाँच आदमियोंको नाबालिगकी जायदादका ट्रस्टी बना दिया। वह बालक खेल रहा था तो वहाँसे एक ठग उसे उठा ले गया। ठगने उस बालकको ठगनीको सौंप दिया। ठगनीने उसे पाला पोषा। अब वह बालक १७-१८ वर्षका हो गया। वह ठगनीको माँ कहता और ठगको पिता कहता, वहाँको खेती-बाड़ीको अपनी सम्पत्ति कहता। एक दिन जब वह बाजार में गया तो वे ट्रस्टी बोले कि अब अपनी जायदाद संभालो, हम कब तक संभालेंगे। वह बालक सुनता गया। दूसरेने यही बात कही, तीसरेने कही, इसी प्रकार चौथे और पाँचवेंने भी कही। वह बालक यह कुछ नहीं जानता था। वह तो ठगनीको मां और ठगको पिता समझता था। समझदार तो था ही, वह बोला कि कुछ दिन बाद आवेंगे। सो वह घर गया और ठगनी माँ के पैर पकड़कर पूछा कि बतलावो मैं किसका लड़का हूँ ? तो उसकी करुण भाषा सुनकर ठगनी बोली कि तुम अमुक सेठके लड़के हो। उस बालकने समझ लिया कि वे लोग ठीक ही कहते थे कि अपनी जायदाद संभालो। उस बालकके यथार्थज्ञान आ गया। यथार्थज्ञानमें आकर भी ठगनीको ठगनी नहीं कहता, मां ही कहता। यदि ठगनीके खेतमें कोई पशु उजाड़ करने घुस आये तो वह उसे हटाता, सब कुछ वही व्यवहार करता। इतना करते हुए भी उसका ज्ञान कुछ और प्रकारका है।

इसी तरह संसारकी विपत्तियोंमें पलापोसा अज्ञानी मानता है कि यही माँ है, यही बाप है, यही मेरा सब कुछ है, यही मेरा धन है। तो उस मानवको कुन्दकुन्दाचार्यने समझाया, पूज्यपादने समझाया, समन्तभद्रने समझाया। फिर वह सोचता है कि सत्य बात क्या है ? असत्य बात क्या है ? ये लोग सुखकी ही तो बात कह रहे हैं। फिर अपनी अनुभूतिसे

पूछा कि माँ बतलावो मैं क्या हूँ, कैसा हूँ ? तो उस अनुभूतिने एकदम बताया कि तुम चैतन्य-स्वरूप हो । तेरेमें अनन्त सुख भरा हुआ है। जब यह सब समझ लिया, जान लिया तब उसका चित्त स्वनिधिकी ही ओर है, तब बाहरमें क्या बापको बाप नहीं कहता, क्या माँको माँ नहीं कहता, क्या तिजोरीमें ताला नहीं लगाता ? सब कुछ करता है परंतु यथार्थज्ञान हो गया कि मेरा कुछ नहीं है । मैं तो केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, जब इतनी प्रतीति रहे, ऐसी दृष्टि रहे तो इस जीवको शांति प्राप्त हो सकती है ।

ज्ञप्तिस्त्वस्त्विह सर्वत्र स्वबुद्धेः स्वस्य दर्शनम् ।
स्वाचरणं ततोऽस्त्वस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१६॥

जानकारी सर्वत्र होओ, पर निज आत्मामें आत्मबुद्धि करनेसे निजका दर्शन बना रहे अर्थात् अपने सहज आत्मतत्त्वका मान बना रहे । जानकारी यहाँ भी कितनी ही हो, जानकारी दोष करने वाली नहीं है । दोष करने वाली मिथ्यात्व बुद्धि है ।

भैया, एक कथानक है कि एक माँ के दो लड़के थे । एक लड़का कम देखता था और एक लड़केको दिखता तो अधिक था, पर उल्टा दिखता था, पीला दिखता था । दोनों लड़कोंको वह बूढ़ी माँ वैद्यके पास ले गई। वैद्य ने दोनों बच्चोंकों एकसी ही दवा दी । दवा सफेद थी । चांदीके गिलासमें गायके दूधके साथ देना बताई । वह बूढ़ी माँ गिलासमें गायका दूध ले आई और दवा मिलाकर पहिले उस बच्चेको पिलाया जो कम देखता था । सो कम देखने वाले लड़केने दवाको पी लिया और जो लड़का ज्यादा देखता था, पर पीला पीला देखता था वह दवाको देखकर बोलता है कि माँ मैं ही तुझे एक दुश्मन मिला जो मुझे दवाके बदलेमें पीतलके गिलासमें गोमूत्र दे रही हो और इसमें हड़ताल मिला रखी है। वह दवा फेंक देता है और उसने दवा नहीं पी । तो जिसे कम दिखता था उसे लाभ मिला और जो ज्यादा देखता था, पर उल्टा देखता था वह ज्योंका त्यों रहा । सो जानकारी कम है या ज्यादा है इससे हितका मार्ग नहीं मिलता, किन्तु यथार्थ श्रद्धा हो तो उससे हितमार्ग मिलता है ।

सो जानकारी चाहे सर्वत्र हो, चाहे न हो, पर इतना पता बना रहे, इतना भान बना रहे कि यह मैं आत्मा सहज चैतन्यस्वरूप हूं । इतना भान बना रहे तो इस भानके बलसे अपने आपके आत्मामें परम विश्रामरूप सबका आचरण होगा । जीव दुःखी हैं । क्यों दुःखी हैं कि परकी ओर लग रहे हैं । पर पर ही हैं, भिन्न-भिन्न चतुष्टय वाले हैं। मेरे लगावसे उस परमें से कुछ नहीं आता । एक विकल्प बना है उस दृष्टिमें सो विकल्प ही हाथ है, और कुछ हाथ होता नहीं, मात्र विभावपरिणतिका स्वाद लिया जाता है, इस प्रकारका

परिणमन है, विकल्प होता है और विकल्पोंसे लदे हुए समय गंवाये जाते हैं। इस वृत्तिमें हित कुछ नहीं प्राप्त होता।

इन जगत्के पदार्थोंको वर्तमानमें देखो जो आपकी आत्माने कमाये नहीं, आत्मा तो केवल भाव ही करता है, ये पदार्थ आ गये तो पुण्योदयसे निमित्तनैमित्तिक की बात हो गई, सो मुफ्त ही तो मिले कहलाये। यहाँ जो कुछ मिलता है वह मुफ्त ही तो मिलता है। आत्माकी उसमें परिणति लगती हो तो बतलावो। इस दृष्टिसे जो कुछ यहाँ मिलता है वह मुफ्त ही मिलता है। यदि इतना धन न मिलता हो तो ठीक, और मिलता हो तो ठीक। उसमें तुम्हारा कुछ नहीं लग रहा है। और जब जायेगा तब वियोग होगा तो मुफ्त ही जायेगा। धन तो मुफ्त ही मिलता है और मुफ्त ही छूटेगा। उसमें आत्माका कोई स्वरूप नहीं चिपका, कोई गुण पर्याय नहीं लगा और फल क्या मिलेगा? फल मिलेगा केवल पापबुद्धि, पापपरिणाम।

भैया! एक चोर था। वह कहींसे एक घोड़ा चुरा ले गया और बाजारमें खड़ा कर दिया। सो ग्राहक आया पूछता है कि घोड़ा बेचोगे? तो बोलता—हाँ बेचेंगे। कितनेमें बेचोगे? ६००) रु० में उसने चौगुने दाम सुनाए। मानो घोड़ा १५०) का था और सुनाया ६०० रुपये। घोड़ेके तेज दाम बतलाये और तेज स्वरमें। इतने महंगे घोड़ेको कोई न लेवे। दस ग्राहक इसी तरह निकल गए। ग्यारहवीं बार एक बूढ़ा चोर आया, वह बोला घोड़ा कितनेमें दोगे? तो बेचने वाला बोला—६००) रु० में, उसने समझ लिया कि यह घोड़ा चोरीका है। इसमें ६०० रुपयेकी क्या बात है? इसकी चाल बढ़िया है। लावो जरा घोड़े की चाल तो देखें। उसने घोड़ेको पकड़ा दिया। उस ग्राहकने एक नारियलका हुक्का उसको पकड़ा दिया और घोड़ा लेकर भाग गया। अब वे ही ग्राहक जो मेलेमें उस बाजारमें पूछ गये थे वहाँ से निकले। एकने पूछा—तुम्हारा घोड़ा बिक गया तो बोला कि हाँ बिक गया। तो कितनेमें बिक गया? जितनेमें आया था उतनेमें बिक गया। तो लाभ तुमको क्या मिला? लाभमें ४ आनेका नारियलका एक हुक्का मिला।

इसी तरह यहाँ सब पदार्थ जो मिलते हैं, आत्माको कुछ लेना-देना नहीं है। आप कहेंगे पुण्यका उदय है उसको निमित्त पाकर मिल गये और पुण्य बनता है भावोंको पाकर, ठीक है भैया, किन्तु वर्तमानमें बतलावो कि तुम्हारा कौनसा परिणाम, भाव, गुण, परिणति ऐसा है जो जिसे धनमें मकान ईंटों आदिमें लगा रहे हो। इस दृष्टिसे सबकी चीज है सो मुफ्तमें मिली है और मुफ्तमें ही चली जायेगी। और परिणाम क्या मिलेगा? पापका हुक्का।

जिन चीजोंमें राग करते हो वे सब न रहेंगी। जो है वह रह गया है क्या ? एक पापपरिणाम, अशुभ परिणाम, कायरता तथा हीनता ही रह गई है।

सारी गल्ती तो अपनी ही है कि मोह प्रसंगमें, रागद्वेषके प्रसंगमें अथवा मोही जीवों के प्रसंगमें कितना समय अपना गुजरता है और शुद्ध ज्ञानकी भावना बनानेके कामके कितना समय गुजरता है ? जिनमें अधिक समय गुजरता है, वही तो बोझ वाला होगा और जिसमें समय कम गुजरता है तो कम बात होगी, मगर फिर भी ज्ञानकी भावनामें कम भी समय गुजरे और अटपट बातोंमें अधिक समय गुजरे तो भी विजय ज्ञानकी है, मुनाफा ज्ञानसे है, लाभ ज्ञानसे है। २४ घंटोंमें से दो-तीन घंटे ज्ञानभावनामें गुजरें और २३ घंटे चाहे अन्य उपयोगमें गुजरें, फिर भी काम ज्ञानका होता है, ज्ञानसे विशेष विजय होती है और यदि कुछ अधिक समय गुजरे ज्ञानकी चर्यामें और भावनामें तब तो कहना ही क्या है ?

भैया, अपने आपमें गुप-चुप छिपे छिपे, झुके-झुके दिखानेका काम नहीं है। कल्याण की बात करनेकी भीतरमें भावना बनानेका काम है, सो कर लो। कोई समझे अथवा न समझे, कोई धर्मात्मा जाने या न जाने, अपने आपमें भीतर ही छिपे हुए भावना ही तो बनाना है। यदि आत्माकी भावना बनाना, आत्मपोषण किया तो आत्महित किया और यदि काम नहीं किया और बाहरी सारी व्यवस्था कर दी तो हितके लिए कुछ नहीं किया। गुरुजी एक दृष्टांत सुनाया करते थे कि एक हाटमें एक वृद्ध पुरुष साग-भाजी लेने जाता था। पड़ोसकी दस-बीस स्त्रियाँ उस बूढ़े महाराजसे साग खरीदवाती थीं। सभीका साग खरीद दिया व खराब सड़ा साग अपने लिये खरोदकर घर गये याने सबको साग निकाल-निकालकर देते गये और बादमें सड़ीसी साग जो रह गयी वह लाकर अपनी बहूको दिया। बहु उस सड़ी सागको देखकर नाराज हो गयी। बोली––तुमने क्या किया ? बूढ़ेने अपनी परोपकारकी सब बातें सुनायीं। बहू बोली कि आपने अच्छा किया। लेकिन पहिले अपने को साग रख लेते और बादमें सबको दे देते।

भैया, अपनी दृष्टि पहिले शुद्ध, निर्मल बना लो, ऐसा होनेके बाद फिर दूसरोंका हित हो, कल्याण हो वह होता रहे, कोई हर्जकी बात नहीं। अपनी व्यवस्था बना लो तो उससे लाभ है जो कि भावात्मक व्यवस्था है। कुछ करने धरनेकी बात नहीं है, हाथ चलानेकी बात नहीं है, केवल एक भावना बनानेकी बात है। यह है अपनी व्यवस्था। यह अपनी व्यवस्था कर दी जाय और फिर दुनियाकी व्यवस्था हो जाय तो अच्छा है। जो अपनेको ही भूल जाय और दूसरोंकी खबर रखे तो जगतमें उसका ठिकाना कहाँ होगा ? कौन-कौन जन्म-मरण होंते रहेंगे, कैसे कैसे होता रहेगा, ये सब अटपट बातें होंगी।

एक बाबू साहब व्यवस्था बनानेमें बड़े चतुर थे। वे अपने दफ्तरमें व्यवस्था बना रहे थे। जिस जगह जो चीज रखदी वहाँ उस चीजका नाम लिख दिया। व्यवस्थाके मायने हैं कि उस चीजको बर्तनेके बादमें फिर उसी जगह उस चीजको रख देना। यह नहीं कि जैसे चूल्हेके पास जहाँ चाहे धनिया जीरा सब रख दिया। जब जरूरत धनियेकी हुई, डिब्बा खोला जा रहा है जीरेका। फिर कोई दूसरा डिब्बा उठाया, अरे यह भीं कोई व्यवस्था है ? इतनेमें चाहे बघार ही जल जाये। जो चीज जहाँ रखना है उसको उसी जगह रखनेका नाम ही व्यवस्था है। सो बाबूजीने घड़ीकी जगह पर घड़ी रख दी और 'घड़ी' उस जगह पर लिख दिया। घड़ीकी जगहपर घड़ी और कोट, कमीज आदिकी जगह पर कोट, कमीज आदि रखकर लिख दिया और सब व्यवस्था बना दी। व्यवस्था करते-करते नींद आने लगी और पलंग पर जब लेट जाते हैं तो उस खाटकी पाटी पर लिख देते हैं—मैं सो गया। जब सुबह जगे तो देखते हैं कि हमारी सब व्यवस्था बढ़िया है कि नहीं ? घड़ी आदि सब कुछ ठीक देखा। फिर पलंगकी पाटी पर देखा 'मैं' लिखा हुआ देखने लगे कि मैं कहाँ है ? पलंगकी पाटी पर, सिरहाने पर सभी जगह देखने लगे कि मेरा मैं कहाँ है ? एकदम घबड़ा गये और झट अपने नौकरको बुलाया। बोले—भाई मेरा 'मैं' खो गया। नौकर हंसने लगा, बाबूजी ने कहा कि देखो तुम मजाक करते हो। यदि जानते हो तो बतलावो। नौकर हाथ जोड़कर बोला—बाबूजी आप थक गये हैं कृपा करके आराम कर लें, आपका 'मैं' मिल जायेगा। पुराने नौकरका विश्वास आ गया कि ठीक बोलता है। बाबू जी थक बहुत गये थे इस 'मैं' की धुनमें कहा—बाबूजी, आप आराम कर लीजिये देखिए आपका 'मैं' मिलेगा कि नहीं। वे पलंगपर लेट गये। अब नौकर बोला कि अब आपका 'मैं' मिल गया तो सोचा और एकाएक बोले—हाँ मेरा 'मैं' मिल गया। इसी प्रकार ज्ञान-मय यह आत्मा स्वयंको बाहर खोज रहा है अरे तू ही तो आत्मा है।

आत्मा ज्ञानपिण्ड है आत्मामें रूप है कि रस है ? पकड़ सकते हो कि छू सकते हो। कुछ भी तो नहीं कर सकते हो। ज्ञानभाव और आनन्दभाव, बस इन्हीं भावोंका नाम आत्मा है। जो ज्ञानघन और आनन्दघन है इसीके भावमें आत्मा है। जो ज्ञानघन और आनन्दघन है इसीके मायने आत्मा है। घनका अर्थ क्या है ? घनका अर्थ वजनदार नहीं, खूब मोटा नहीं, घनका अर्थ है—जहाँ दूसरा तत्त्व न हो उसे घन कहते हैं। जिस तत्त्वमें दूसरा तत्त्व न हो उसका नाम घन है। जैसे कि गगरीमें पानी भरा है, तो पानी जितना भरा है उसके बीचमें दूसरा तत्त्व नहीं है। जैसे कहते हैं कि जहाँ दूसरी चीज कुछ न लगी हो। घन उसको कहते है जहाँ दूसरा भाव न हो, केवल वस्तुका स्वरूप है।

यह आत्मा ज्ञानघन है अर्थात् ज्ञान ही ज्ञान सर्वत्र है। इस ज्ञानमें अन्य कोई भाव नहीं जुटा हुआ है। ऐसा ज्ञानानन्दघन यह मैं आत्मतत्त्व हूँ। सो भी यह जीव ज्ञानको बाहर में ढूँढ़ता है। तो उसका अर्थ है कि बाहरमें 'मैं' को ढूँढ़ता है। यह बाहरमें आनन्दको ढूँढ़ता है इसका अर्थ है कि बाहरमें 'मैं' को ढूँढ़ता है। ज्ञान व आनन्दमें और 'मैं' में फर्क नहीं। यदि बाहरमें ज्ञान आनन्दको ढूँढ़ते है तो इसका मतलब है कि बाहरमें 'मैं' को ढूँढ़ते हैं। बाहरमें 'मैं' को खोजो, कहीं भी नहीं मिलेगा। आनन्द और ज्ञानकी बात अपनेमें ही है, आनन्द कोई बाहरकी चीज नहीं। इसकी खबर हो, इसकी व्यवस्था बने, फिर पीछे सब व्यवस्थाएँ बनती रहें।

मान लो मकानकी अच्छी व्यवस्था कर ली तो क्या हुआ? मकानको छोड़कर जाना ही तो पड़ेगा। मकानकी व्यवस्थामें इसे मिलेगा क्या? और और व्यवस्थाएँ कर लो, धन-वैभवकी व्यवस्थाएँ कर लो, पर उनको छोड़कर जाना ही होगा। तो उनसे मिलेगा क्या? इसकी गाँठमें रहेगा क्या? और अपनी व्यवस्था कर ली जाये, ज्ञानानन्दमात्र मैं हूं, इस तरहकी भावना बना ली जाये तो यही अपनी व्यवस्था है और अपने आपका पालन-पोषण है। शरीरके विकारसे, शरीरकी किसी बात से आत्माको दुःख नहीं होता है वहां तो शरीरमें कुछ बात गुजर गयी, किन्तु उस पर राग लगा है, मोह लगा है, सो जो वेदना हुई वह राग और मोहकृत वेदना है, शरीरकृत वेदना नहीं है, पर वह मोह राग इस ढंगसे सब है। सब लोग सब कुछ वेदना शरीरसे ही समझते हैं। जहां अज्ञानरूप 'बुद्धि हुई उससे यह वेदना होती है। अपनी ओर झुकाव नहीं हुआ और बाहरमें ही रहे तो दुःख प्राप्त होंगे ही, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

पर, पर सब एक समान हैं। पर जितने हैं वे पर ही तो हैं। इसके लिए तो एक यह सब ही हितकर है। वाह्यसे कहीं उसका हित नहीं है। इसलिए अपने आपके दर्शन हों अपने आपका आचरण हो, जितना बन जाये भीतरमें उतना ही आनन्दका उपाय है। परकी हठसे कुछ लाभ नहीं है। हमें चाहिए क्या? एक तो देवभक्तिकी आदत रहे, णमोकार मंत्र जपें, परमेष्ठीका स्मरण भी रहे––एक तो यह चीज और दूसरी चीज यह कि अपने आपको यह पता बना रहे कि यह मैं सबसे निराला शुद्ध निर्मल तत्त्वस्वरूप हूँ। बस ये दो ही बातें तुम्हारे धर्मके लिए बहुत कुछ हैं। सो प्रभुभक्ति व आत्मध्यान ये दो ही सहारे हैं, व्यवहारमें तो प्रभुभक्ति और निश्चयमें आत्मध्यान। प्रभुभक्तिको व्यवहार क्यों कहा? यों कहा कि कोई पुरुष प्रभुकी भक्ति नहीं कर सकता है किन्तु प्रभुके गुणको ज्ञेय बनाकर अपने आपको इस विशुद्ध भावसे परिणमनरूप भक्ति करता है। बाहरमें परद्रव्यको न कोई जानता, न

कोई राग करता, न द्वेष करता, कुछ भी जीव नहीं करता है बाहर। जीव तो है और परिणमता है। सो अपने आपकी यह विशुद्ध परिणति है बस इस वृत्तिके होनेका नाम भक्ति है। सो व्यवहारमें प्रभुभक्ति और निश्चयसे आत्मध्यान ही अपना शरण है।

सुप्तमत्तदशालोके भ्रमो हि स्वच्युतौ दशा।
सर्वाभ्रमास्ततः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१७॥

इस संसारमें लोग सोई हुई अवस्थाको और पागल हो जाने वाली अवस्थाको भ्रम कहते हैं, लेकिन परमार्थसे वह सब भ्रम है। जिस जिस दशामें आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है वह बर्हिमुख परिणमन वाली अवस्था भ्रम है। इसलिए उन सब भ्रमोंसे हटकर अपने आपमें आत्मबुद्धि करो और स्वयं सुखी होओ।

जैसे पागल जन जिस किसी भी पदार्थको अपना समझकर संतोष करते हैं कुछ समय को और जब उस चीजका वियोग होता है तब असंतोष करता है। गाँवों के मार्गमें किसी जगह कुवें पर पागल बैठा था, कुवेंका पानी पीनेके लिए। अपनी मोटर बग्घी खड़ी करके वहाँ लोग आते हैं तो वह पागल मान लेता है कि यह मेरी मोटर आयी, यह मेरा ताँगा आया। अब वे तो पानी पीकर अपनी मोटरमें बैठकर चले जायेंगे, सो यह जाती हुई मोटर देखकर उसी क्षण यह सोचकर दुःखी होता कि मेरी मोटर चली गई। जैसे बच्चे लोग कागज की नाव बनाते हैं और उसे पानीमें तैराते हैं, खेल करते हैं। अभी कोई लहर तेज उठे और वह नाव डूब जाये तो बालक दुःख करते हैं, गम करते हैं। इसी तरह अज्ञानी जन किसी भी चीजको अपनी जान लेते हैं और जब वह चीज विलीन हो जाती है, नष्ट हो जाती है तब दुःख मानते हैं।

वास्तवमें इस अपने आपसे बाहर अपना कुछ स्वरूप नहीं है। किसी परपदार्थको 'यह मेरा है' ऐसा मान लेना बड़ा अंधेरा है। वस्तुके स्वरूपकी सीमा जिसके चित्तमें नहीं आई वह पुरुष व्याकुलताओंसे घिरा रहता है। यदि अपने आपके आत्मस्वरूपको मान लें कि यह मेरा है तो उसे उस ज्ञानकी स्थितिमें क्लेश नहीं हो सकते हैं। क्लेश होते हैं अज्ञानसे और इसी कारण ज्ञानी होनेके लिए, शांत रहनेके लिए, जो अमोघ उपाय है वह यथार्थज्ञान ही तो है। अज्ञानका जब तक विनाश नहीं होगा तब तक आकुलताएँ खत्म नहीं हो सकतीं।

भैया ! अनहोनीको होनी बनाएँ तो वह होती नहीं और जब होती नहीं तब इसे क्लेश होते हैं। यदि परपदार्थ अपने पास सदा रहते और जैसा चाहते वैसे ही रहते तो पर का मोह रखना, राग करना वह सब इसके लिए जायज होता, पर ऐसा तो स्वरूप ही नहीं है। ज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व है जो अपने ही स्वाधीन है, अपने ही पास है, अपनेमें ही मौजूद

है और अविनाशी है। उसका प्रताप कितना है ? सर्वस्व प्रलय ही का है। इससे ही संतोष होता है, आकुलताएँ नहीं होतीं, हैरानी नहीं होती। इतने बड़े फलका कारण एक सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानमें ही तो तृष्णा होती है, अज्ञानमें ही तो विषय और कषायोंका आदर होता है। जहाँ अज्ञान दूर हुआ कि उसको अपनी शांति का मार्ग मिल गया। शांतिका मार्ग कितना है ? निजको निज परको पर जान। यह तो सभी लोग जानते है कि जितने भी लोग हैं, बड़े हों, छोटे हों सब कहते हैं कि यह मेरा घर है, यह दूसरेका घर है ऐसा जाननेपर 'निजको निज परको जान' नहीं है, किन्तु स्वयं यह जानन देखनहार आत्मा जितना है, जो है उसे ही सब समझो और उससे बाहर जितने भी पदार्थ हैं उनको पर समझो। अपने ही घरमें रहने वाली विभूति जिसको पर जँच जाये तो उसके ज्ञानकी महिमाको कौन कहे ? अपने आपके संयोगमें जड़ा हुआ यह देहादिक अपनेको पर जँच जाये उस ज्ञानकी महिमाको कौन कह सकता है ? लोकमें जो पूज्य होते हैं वे ज्ञानी ही पूज्य होते हैं। अरहंत सिद्ध क्या है ? शुद्ध ज्ञानका पिंड। ज्ञानघन अर्थात् जहाँ ज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं है। जिसमें अन्य परतत्त्व कुछ नहीं, उसे कहते हैं ज्ञानघन। जहाँ दूसरी चीज न हो उसे धन कहते हैं। केवल ज्ञानमात्र अपना आत्मतत्त्व जिसकी नजरमें है वही वास्तवमें जान सकता है कि परपदार्थ ये कहलाते हैं। इस आत्मतत्त्वका अनुभव किस यत्नसे होता है ? बाहरी जितने यत्न हैं—प्राणायाम करना, आसन आदि होना, ये मनको एक जगह लगानेके साधन हैं। पर ये स्वयं ज्ञानरूप नहीं है और न इनसे ज्ञान प्रकट होता है। मनको एक और लगा लेना ऐसी स्थितिमें ज्ञान के द्वारा वह एकाग्रतासे लग सकता है, पर बाह्यप्रयोग ज्ञान नहीं है, अनुभूति नहीं है। आत्माकी अनुभूतिका उपाय अनुभूति ही है, ज्ञान ही है। यह आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप है। आत्मामें जो गुण पर्याय है, जो भी कुछ है उसका पिण्डरूप तो यह आत्मद्रव्य है और यह जीव जितने प्रदेशोंमें फैला है उतने प्रदेशोंको कहते हैं क्षेत्र और यह आत्मा जिस रूप परिणम रहा है बदलता है, दशा बनती है वह है आत्माका काल और इस आत्माका जो गुण है, अनादि अनंत है वह कहलाता है भाव। जब आत्माको पिंडरूपसे देखते हैं तो यह द्रव्यगुण पर्यायों का पिंड है। यह अनन्त पर्यायोंका पिंड है इत्यादि रूपसे जब आत्माको इस द्रव्यदृष्टिसे देखते हैं वहाँ आत्मानुभूति उस समय नहीं है। वह ज्ञान उस ओर विकल्पोंमें लगा रहता है। जब आत्माको क्षेत्रदृष्टिसे देखते हैं कि यह इतने लम्बे-चौड़े आकारमें है, इतने प्रदेशों में है, जब यह क्षेत्रदृष्टिसे बताया जाता है उस समयमें भी आत्मानुभूति नहीं है। लंबा, चौड़ा कितना यह आत्मा है ऐसी जानकारीके समय आत्मानुभूति नहीं है और यह रागरूप

परिणमा हुआ है। यह द्वेष और विरोधरूप परिणमा हुआ है, ऐसी दृष्टिसे परिणतिको देखते है, कालदृष्टिसे आत्माको देखते हैं तो उस समयभी आत्मानुभूति नहीं है। अब उस चतुष्टय में से बचा एक भाव उसका। यह भाव दो भेदरूप है, एक भेदरूप भाव और एक अभेद-रूप भाव। भेदरूप भावमें तो जैसे आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चरित्र है, आनन्द है, अस्तित्व है, वस्तुत्व है, यह भाव है, गुण है, सो ऐसे भेदरूप भावोंकी दृष्टि रखनेमें इस जीवका आत्मानुभव नहीं होता है किन्तु जब अभेदभाव एतावन्मात्र मैं हूं, इससे बड़ा, इससे छोटा यह मैं आत्मा नहीं हूं और तो क्या इसके बराबर 'मैं' नहीं, किन्तु ज्ञानरूप यह मैं आत्मा हूँ। जब अभेदभावकी दृष्टि करके यह आत्माको जानता है तब उसका आत्मानुभव होता है। यहाँ यह प्रश्न है कि आत्मानुभव किस ज्ञानके द्वारा होता है। ज्ञान ५ हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान। इसमें से श्रुतज्ञान तो सविकल्प है और बाकी ज्ञान निर्विकल्प हैं। हम और आपके दो ज्ञान हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान तो निर्विकल्प स्थितिमें प्रयुक्त नहीं है। मतिज्ञान निर्विकल्प स्थितिमें है सो मतिज्ञान होता है—'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।'

इन्द्रिय और मनके कारण उत्पन्न हुआ सो उस आत्मानुभूतिमें जो ज्ञान लगा वह ज्ञान पैदा होनेके समयमें तो मनके निमित्तसे होता है, पर जब आत्मानुभवमें लग्न रहते हैं उस समय भी मनकी बात नहीं चलती। वह ज्ञान-उत्पत्तिमें मनोनिमित्तिक है, पर उसका रहनेमें मन नहीं लगा रहता। इसलिये आत्मानुभव एक विलक्षण ज्ञान है जिसके सीधे रूपमें किसी ज्ञानको नहीं कहा जा सकता है। वह तो ज्ञान है, ऐसा विलक्षण आत्मा-नुभव अभेदस्वभावकी दृष्टिमें हो सकता है। अभेदस्वभावका, ज्ञानका भी जब तक विकल्प है तब तक उसका अनुभव नहीं। वह आत्मस्वभाव क्या है कि जिसकी अनुभूतिको आत्मा-नुभव कहते हैं, वह आत्मस्वभाव समस्त परद्रव्योंसे जुदा है। अपने आपमें उत्पन्न होने वाले विभावोंसे भी जुदा है तो क्या वह आत्मस्वभाव जिसका हम आप ज्ञान कर रहे हैं ऐसा छुटपुट ज्ञानरूप है? न वह स्वभाव परिपूर्ण है, न यह ज्ञान अधूरा है और न कोई पर्याय अधूरी होती। अब इसके विकासकी सीमा कितनी है उसको देखकर छोटे विकासमें लगी हुई बातको अधूरी कहते हैं। पर्याय जितनी है वह सब पूरी है, कोई परिणति ऐसी नहीं है कि अरे जरा ठहर जावो, हम आधे ही बन पाये हैं, आधा और बन लेने दो। पर्याय जितना है वह अपने समय में पूर्ण है। चाहे कोईसी भी पर्याय हो, पर शुद्धविकासके मुकाबलेमें यह पर्याय कितना विकासमें है? इसकी जब अपेक्षा करते हैं तो उस पर्यायको हम अधूरी कहते है। तो यह छुटपुट ज्ञान हमारा स्वभाव नहीं है। हमारा स्वभाव तो परि-

पूर्ण है। केवलज्ञान क्या हमारा स्वभाव है ? वह स्वभावके अनुरूप तो है, पर वह स्वयं स्वभाव नही, किन्तु ज्ञानकी वृत्ति है। केवलज्ञान स्वभाव हो तो इस जीवमें सहज होना चाहिये। सहजका अर्थ है–'सहजायते इति सहजम्।' जबसे जीव हूँ तबसे ही जो निरन्तर हो वह सहज कहलाता है। यह तो इस जीवमें अनादिसे नहीं है। तब इस जीवका स्वभाव क्या है ? जो आदि अंतसे रहित है, अनादि अनन्त है।

तब फिर प्रश्न होता है कि अनादि अनंत आत्माके ये सब गुण हैं, दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, आनन्द है, वीर्य है तो क्या ऐसे सब भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं ? भाई द्रव्य एक है तो उस द्रव्यका स्वभाव एक है और उस द्रव्यकी पर्याय भी जब देखो तब एक है। ऐसे उस एक पदार्थको समझनेके लिये परिणमन पद्धतिसे बताकर आचार्योंने यह सब व्यवहार किया है। इस व्यवहारका आश्रय लिये बिना हम उस अखण्ड तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते थे। पर अखण्ड अस्तित्वमें लगना यहाँ यह व्यवहारका काम नहीं है। किन्तु उसने अखंड के निकट पहुँचा दिया, यहाँ अब निश्चय द्वारा यहां लगनेका काम है।

जैसे राजासे किसीको मिलना है तो द्वारपालको लेकर वह मिलने चलता है। द्वारपाल कहाँतक सहायक है, जहाँतक कि राजाके स्थानका पता न पाये, राजा दिख न जाये। द्वारपालका तो केवल इतना ही काम रहेगा। उस स्थान पर पहुँचा देने पर आगे तो मिलने वालेका केवल काम है। यह व्यवहार भी तुम्हारा उपयोग है और निश्चय भी तुम्हारा उपयोग है। कब कौन उपयोगी है, यह बात अपने समझानेकी है तो वह आत्मस्वभाव विविध नहीं है किन्तु एक है। हाँ हाँ, समझमें आया। यह आत्मस्वभाव देखो ना यह एक है। अरे इस प्रकारके एकपनेका भी जहाँ विकल्प है तहाँ भी आत्मस्वरूपकी अनुभूति नहीं। लोग कहते हैं ना कि यह ब्रह्म एक है। नाना तो लोगोंको मायासे दिखते हैं। जैन सिद्धान्तमें भी इसको यों कहते हैं।

देखो भैया ! प्रथम तो यह वात है—नाना ब्रह्म बैठे हैं, नाना आत्मा हैं और फिर बढ़कर बोलते हैं तो उससे भी अधिक बढ़कर बोलते हैं कि वह ब्रह्म एक है, आत्मस्वभाव एक है। यह भी तथ्य है, किन्तु इस निगाहमें भी इस आत्मासे मिल नहीं पाये। वह आत्मस्वभाव एक है, न अनेक है। वैसे ही अन्तरंग दृष्टिसे सोचो कि आत्मस्वभाव क्या है ? चित् प्रकाश चित् स्वभाव प्रतिभासमात्र, जाननशक्ति उस प्रतिभासका जिस समय बोध हो रहा है उस समय क्या वह यह कह सकता है कि यह एक है। उसे तो प्रतिभासके आनंद का अनुभव है और कुछ नहीं कह सकते हैं। इसलिये उस एकके विकल्प जालसे मुक्त यह आत्मस्वभाव है। इस आत्मस्वभावके आलम्बनसे अन्तरमें जो अनुभूति होती है उसको

आत्मानुभव कहते हैं। यह आत्मानुभव जिसके प्रकट नहीं है अर्थात् जो सबके पतेसे रहित हैं, उसकी सारी दशाएँ भ्रम सहित हैं। लोग तो सोये रहने व पागल रहनेकी दशाको भ्रम कहते हैं। परन्तु परमार्थसे तो अपने आपके स्वभावसे चिगी हुई जितनी भी दशायें हैं उन सबको भ्रम कहते हैं। वे सब बेहोशियाँ हैं। तब अपना कर्तव्य है कि उन पदार्थोंसे हटकर अपने आपके दर्शनमें आयें। अपने आपका स्पर्श करना यही एक शांतिका उपाय है। अनुभूति जितनी होती है और श्रद्धान् जितना होता है वह सब कोई न कोई आचरणको लिए हुए रहता है। अिसे कहते हैं स्वरूपाचरण। यह भी एक विलक्षण चारित्र है। ५ प्रकारके चारित्र हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय व यथाख्यात। इन ५ प्रकारके चारित्रोंमें से स्वरूपाचरण चारित्र कौनसा है? जो ५ चारित्र हैं इनमें स्वरूपाचरणको कहाँसे लायेंगे? यह स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थानसे प्रकट होता है और अन्त तक बना रहता है। उसमें चाहिये क्या? स्वरूपका आचरण। आत्माका स्पर्श हो वही हुआ स्वरूपाचरण। कहीं कम विकसित है कहीं अधिक तो स्वस्थ होनेमें ही आनन्द है। परस्थ होनेमें आनन्द नहीं है। परन्तु परस्थ होनेके दो कारण हैं—एक तो है अयोग्यता और दूसरा है मोहियोंका संग। किसी प्रकार अज्ञानतासे हटकर ज्ञान-अमृतका पान करो, ऐसा अमृततत्त्व जो अपने आपमें है कहीं बाहरसे नहीं लाना है। स्वयं ही स्वाधीन है। ऐसी दृष्टि करके अमृतका पान कर लो, केवल अपनी ओर मुड़नेकी दशा होती कि अमृत का पानकर लो। इतनी सस्ती बात, सरल बात, स्वाधीन बात हम सब आत्मावोंमें क्यों नहीं हो रही है? यही एक खेदकी बात है। बाहरमें कुछ भी हो जाये उससे कोई संकट नहीं है पर अपने आपके स्वरूपसे जो चिगे हुए हैं और इसमें जो बाह्यवृत्ति बन रही है इससे बढ़कर दरिद्रता कुछ नहीं है, संकट और कुछ नहीं है। यह महान् संकट एक ज्ञानके द्वारा ही टल सकता है। सो ज्ञानके द्वारा अपने आपमें आकर आप ही सुखी होनेका यत्न करना चाहिए।

यततामव्रतीवृत्ते न तुष्येत्तु व्रती व्रते।
ज्ञानस्थितिर्व्रतार्थोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१८॥

अबतो पुरुष व्रतमें यत्न करें और व्रती पुरुष व्रतमें ही संतुष्ट न हो जायें, क्योंकि व्रतोंके पालनका प्रयोजन है अपने ज्ञानमें स्थिति पाना। जैसे कहते हैं ना कि अशुभ उपयोग से अच्छा शुभ उपयोग है। अशुभ उपयोगसे हटकर शुभ उपयोगमें आना चाहिये, पर शुभ उपयोग करने वाला पुरुष शुभ उपयोगमें ही संतुष्ट न हो जाये, क्योकि शुभ उपयोगका प्रयोजन शुद्धोपयोगमे ठहर सकनेकी पात्रता रखना है। इसी प्रकार अव्रतो पुरुष जिनके कुछ

नियम नहीं, संयम नहीं, वे व्रतमें, तप करनेमें संयममें लगें। झूठ, चोरी, कुशील आदिके पाप, परिग्रह संचयके पाप वे इस जीवको आकुलित बनाये रहते हैं। इससे हटकर शुभ उपयोगमें आये तो कषाय मंद हों और कषाय मंद होनेसे इनकी आकुलताएँ कम हों। इसलिए अव्रती रहना अच्छा नहीं। अपनी-अपनी शक्ति माफिक व्रतधारणमें यत्न करना चाहिए। कितनी ही ऐसी कथाएँ हैं।

दो पुरुष जा रहे थे। एकके अनजान फलके खानेके त्यागका नियम था कि हम अनजान फल नहीं खायेंगे और दूसरेके अनजान फलके खानेका त्याग न था। दोनों चले जा रहे थे तो रास्तेमें एक वृक्ष मिला। वह वृक्ष था विषवृक्ष। उसमें बहुत सुन्दर फल थे। फल नीचे भी पड़े हुए थे। जिसके नियम नहीं था उसने नीचेके फलको खाया और मृत्युको प्राप्त हो गया और जिसका नियम था उसने फलको नहीं खाया, जिन्दा बना रहा। अभक्ष्यके त्यागमें बड़ा लाभ है। धर्मलाभ तो है हिंसासे बचें, आसक्तिसे बचें। इससे लौकिक लाभ भी है। यदि जिन्दगी स्वतंत्र ढंगसे रखना चाहें तो उसमें भी लाभ है। जैसे कोई घटना ऐसी गुजरे कि बारातके सत्कारमें रात्रिमें कोई खीर बनाए और कोई विषैला जीव जैसे छिपकली आदि पड़ जावे और बारातमें जो कोई भी उस खीरको खा लेवे तो वह मृत्युको प्राप्त हो जाये। ऐसी कई जगह घटनाएँ भी हुई हैं। अभक्ष्य भक्षणमें धार्मिक व लौकिक सब तरहकी हानियाँ है। और यह है क्या ? यह है प्रमाद और अज्ञानता, जिसके कारण लोग अभक्ष्य खाते हैं, रात्रिमें खाते है। खाने वालेको राग है, पर देखो यह रात्रिका समय है, यह कुछ खाने लायक समय नहीं है, प्रकाश है, मच्छर है, अनेक कीड़े हैं, जन्तु है तो रात्रिभोजन अभक्ष्यभक्षण–ये सब आसक्ति बिना नहीं होते। आसक्ति होती है तब इस बातमें प्रवृत्ति होती है। जो अव्रत में है उनको अपनी शक्तिके अनुसार व्रतमें लगना चाहिए। भैया ! यदि कोई कहें कि हमें तो विशेष ज्ञान नहीं है और ज्ञान बिना व्रतमें कैसे आवें तो ज्ञान बिना अव्रतमें रहे, उससे भी क्या ज्यादा नुकसान है कि ज्ञान बिना व्रतमें चलें। भैया ! उसमें तो यह फायदा है कि मंद कषाय है, पुण्य संचय है। हाँ यह बात और है कि सम्यग्ज्ञान हुए बिना मोक्षमार्ग नहीं मिलता है, धर्म नहीं मिलता है। इन लौकिक बातोंमें तो यह बात ठीक ही है कि अव्रतीके परिणामसे व्रतके परिणाम करना चाहते हैं। जो अव्रती पुरुष हैं वे व्रतपालनका परिणमन करें, पर जो व्रती पुरुष है वे व्रतमें ही संतुष्ट न हो जायें, हमने सब कुछ कर लिया, कर रहे हैं ना ? कर रहे हैं, तप कर रहे हैं, हम अब धर्ममें लगे हैं। हमने जो कुछ करना था सो कर लिया, यह समझकर संतुष्ट होकर बैठ गये तो उसके आगेका सन्मार्ग रुक गया। प्रयोजन तो ज्ञानमें स्थित होनेका है ना ? ज्ञान ज्ञानमें ठहर जाये, इसके ही उद्यममें एक यह उद्यम है

व्रतका पालन। अव्रत अवस्थामें यथा तथा स्वच्छन्द प्रवृत्तिसे उस ज्ञानकी दृष्टि कर लें, ऐसी पात्रता नहीं रहती। ऐसी पात्रता रखने वाला व्रती है, पर व्रतका प्रयोजन है ज्ञानस्थिति होना अर्थात् स्वस्थित अपने आपमें स्थित हो जाना। यही व्रत है, तप है, यही सबका प्रयोजन है। यह आत्मा, यह ज्ञान तो अपने स्वरूपमें न ठहरकर बाहर-बाहर डोल रहा है, इसी से ही तो बेचैनी है। अज्ञानी जीव चाहता कुछ है, होता कुछ है। चाह तो यह है कि यह चीज मुझें यों मिले, इतना मुनाफा है, इसका संयोग हो, पर ऐसा होना अपने हाथकी बात तो नहीं हैं। वे तो परपदार्थ हैं, उनका परिणमन उनमें है। उनकी परिणतिके अधिकारी हम तो नहीं है। तब जब चाहके खिलाफ बात होती है तब दुःख होता ही है। सुखी होनेका मार्ग तो किसी भी प्रकारकी चाह न करना है, हरवस्तुकी चाह न करना है।

पंडित टोडरमल जी साहबने कहीं ऐसा दृष्टान्त दिया है। दो मनुष्योंके यह भाव हुये कि हम इस पहाड़ पर खूब निःशंक, भ्रमण करें, दौड़ें, चलें। उनमें एकने यह सोचा कि पहाड़ पर काँटे अधिक हैं, कंकड़ अधिक हैं, इसलिए सारे पहाड़में चमड़ा फैला दें तब फिर निःशंक होकर भ्रमण करें, दौड़ लगायें। और एक पुरुषने यह सोचा कि अपने पैरोंमें चमड़े के जूते पहिन लें और फिर अच्छी तरहसे पहाड़ पर दौड़ लगायें, चलें। इन दोनोंमें अपनी इच्छाकी पूर्ति करनेमें कौन सफल होगा? जो अपने पैरोंमें जूते पहिनकर चलेगा। और सारे पहाड़ पर चमड़ा फैलानेकी सोचने वाला क्या सफल हो जायेगा? नहीं। क्योंकि इतना चमड़ा कहाँ है और हो भी तो बिछाए कौन है? वे बड़े ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, बड़े-बड़े वृक्ष हैं, उनमें बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ हैं, जहाँपर हाथ भी नहीं जा सकता है। वहांपर कोई कैसे चमड़ा बिछावेगा? यदि कोई कहे कि १०-२०-५० हाथमें चमड़ा बिछा लें उससे भी तो कुछ नहीं हो सकता है। उतना भी तो बिछना कठिन है तो फिर वह कैसे सफल हो सकता है? स्वाधीन काम करने वाला, जूते पहिनकर चलने वाला अपना काम करेगा तो उसकी सफलता हो जायेगी। इसी प्रकार कामी लोग क्या चाहते हैं कि यहाँ यह जोड़ लें, यहां यह जोड़ लें, यह रोजगार करें, परिग्रह करें, संचय करें, परिवार मेरा ऐसा हो, मित्र जन ऐसे हों, ऐसी बुद्धि करते हैं और चाहते हैं कि हम सुखी हों, और एक पुरुष ऐसा है कि परको पर जानकर, परसे अपना अहित जानकर परसे कुछ भी सम्बंध नहीं है, ऐसा जानकर परकी चाह ही नहीं रखता है। अब हमें बतलावो इन दो प्रकारके पुरुषोंमें सुखी शांत कौन हो सकता है?

वह सुखी, शान्त नहीं हो सकता है जिसने अपना स्वाधीन काम किया, जो ज्ञानमें स्थित हुआ, यह बहुत स्वाधीन काम है। व्रतोका पालन करना, इस काममें भी बहुत नियम

साधना चाहिये। पानी पीना है तो कड़ेदार बाल्टी नहीं है तो बैठे रहो, मोटा छन्ना नहीं है तो बैठे रहो। उस व्रतकी भी उपेक्षा है और उससे भी सुगम हो सके तो बड़ी कठिन बात है। ज्ञानी ज्ञानस्वरूपमें स्थित हो जाये, उससे भी अधिक स्वाधीन बात है कि उस दशासे हटकर एकत्वकी दशामें आ जाये, ज्ञान ज्ञानमें ठहर जाये। सो कहते हैं भैया, अज्ञानमें ऐसा नहीं होता है। अशुभोपयोगके बाद एकदम शुद्धोपयोगमें कोई पहुंचे, ऐसा नहीं हो सकता है। अव्रत अवस्थाके बाद एकदम मोक्षमें पहुँच जाये, ऐसा नहीं हो सकता है। सो अव्रती पुरुष व्रतको ग्रहण करे और व्रती पुरुष व्रतमें ही सन्तुष्ट हो जाये। जैसे कोई पुरुष नीचे खड़ा हैं और उसे इस अटारी पर आना है तो उस पुरुषको चाहिये कि सीढ़ियोंसे ही संतुष्ट न हो जाये, नहीं तो अटारीपर आना ही नहीं हो सकता है। जैसे कोई पुरुष जबलपुरसे बम्बई जाना चाहता है रेलगाड़ी द्वारा और रास्तेमें कोई स्टेशन सजी सजाई मिलती है, सुहावनी है, उस पुरुषको स्टेशन बढ़िया दीखे, मनमोहक दीखे और नीचे उतरकर उसमें खूब राग करे व इतने में ही गाड़ी छूट जाये तो फल क्या होगा कि अपना उद्देश्य नहीं पूरा कर सकेगा। यदि अच्छी स्टेशन है तो उसका ज्ञाता दृष्टा रहे, जान ले कि बहुत बढ़िया स्टेशन है, पर नीचे उतरकर राग करे तो वह मूरखचन्द बन जायेगा। उसके लिये मुनाफेकी बात नहीं है। इसी तरह इसकी प्रगतिके मार्गमें हमें कितनी ही मंदकषायके प्रवर्तन होंगे, उनमें कुछ अच्छे लगेंगे, मंदकषाय होगी, कुछ विश्राम भी मिलेगा, पर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाये तो आगेका मार्ग खत्म हो जायेगा। अपने उद्देश्यको न पूरा कर सकेगा। ज्ञानी जीवकी अंतर से लालसा, इच्छा यह है कि सहज ज्ञानमें ही उपयोग रहे, ज्ञानके स्वरूपको जानता रहे। अज्ञानी होगा तो वह ज्ञानकी प्रवृत्ति न करेगा। संचय करेगा, पापोंको बढ़ाता रहेगा, उल्टी प्रवृत्ति करेगा ज्ञानी व्रत भी करता है फिर भी वह ज्ञानी मंदकषायके व्रतमें भी संतुष्ट नहीं हो सकता है, ज्ञानगुणों से हटकर नहीं रह सकता है ज्ञानी जीवको ही ज्ञान मिलता है और ज्ञानकी स्थिति रहती है उसे चाहिये और क्या ? ऐसी ज्ञानकी स्थिति मेरे में हो और मैं उस ज्ञानकी स्थितिमें ही अपने में, अपने लिए, अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

पुण्यपापे व्रतावृत्तैर्मोक्षस्तद्द्वयशून्यता।
ज्ञानभाव स्वव्रत्तिः सा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–१९॥

व्रतके परिणामोंमें तो पुण्य होता है और अव्रतके परिणामोंसे पाप होते हैं और मोक्ष व्रत और अव्रतसे रहित होता है। पुण्य और पापसे रहित ही शुद्ध चैतन्यका विकास है ज्ञानमात्र निजतत्त्वमें केवल ज्ञानवृत्ति हो, ऐसी ज्ञानवृत्तिके बलसे ज्ञातादृष्टा रहनेसे

आत्मा अपनेमें अपने आप सुखी हो सकता है। जामें जो रोज पढ़ा जाता है। पूजा प्रस्तावना में—

अर्हन् पुराणपुरुषोत्तमपावनानि वस्तूनि नूनमखिलन्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद्विमल केवलवोधवह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि॥

पढ़ना तो सीधा जानते है, मगर हम कितनी जिम्मेदारीकी बात बोल रहे हैं, उसका कुछ भानही नहीं है। पूजक बोलता है कि हे अरहन्त, हे पुराण, हे पुरुषोत्तम! ये पवित्र चीजें नाना तरहकी सामने रखी हुई हैं—शुद्ध धोती, दुपट्टा, शुद्ध थाल सजा सजाया, शुद्ध चावल चिट्टे, मंदिर भी शुद्ध, टेबुलभी शुद्ध, भगवानकी मूर्ति भी शुद्ध बहुतसी पावन चीजें, अष्ट द्रव्य हैं, पर निम्चयसे मनमें तो ये सब वस्तु एक ही चीज दिखती हैं, एक ही नजर आती हैं, पर पूजककी दृष्टि बहुत गहरी है बड़ा त्याग करके भगवानकी भक्ति करने आया है, सब एक ध्येयभूततत्त्व दिखता है। जैसे कहीं विवाह आदिका अवसर हो वहाँ सब नटखट है, पर उसे एक ही दीखता है। जिसको लगन हो उसे एक ही दीखता है। किसी का इष्ट गुजर गया, फूफा, मामा, मौसा आदि सभी समझाने आते हैं, पर उसे तो केवल एक ही नजर आ रहा है जिस पुरुष पर दृष्टि लगी है। इस पूजकमें इतनी बड़ी भक्ति है कि वह थाल सजाये हुये खड़ा है, पर उसे एक ही दिख रहा है। वह क्या दिख रहा है? जिसकी वह भक्ति कर रहा है। सो पूजाके प्रसंगमें कहते हैं कि मैं इस जाज्वल्यमान निर्मल केवल ज्ञानरूप अग्निमें इन समस्त पुण्य वस्तुओंको स्वाहा करता हूँ, त्यागता हूँ, अर्पित करता हूँ। क्या पवित्र चीज है वे, साढ़े ग्यारह आनेके अष्ट द्रव्य ना? कोई कहे वाह रे वाह, बात बहुत कर रहे हैं और त्याग कर रहे हैं केवल साढ़े ग्यारह आनेकी चीजोंका। कहता है मैं इतनी ही चीजोंका स्वाहा करनेके लिये नहीं आया, किन्तु मेरे पास जो भी चीजें हैं धन-वैभव आदि ये सब कुछ जाज्वल्यमान ज्ञानाग्निमें स्वाहा करता हूँ अर्थात् यह स्वरूप इतना निर्मल पवित्र है कि इसकी प्राप्ति ही सब कुछ है। बाकी तीन लोकका वैभव कुछ नहीं है। सोचो तो सही कि सारा वैभव भी सामने हो, पर उन सब वस्तुओंसे मुझको क्या मिलेगा? कुछभी नहीं मिलेगा। दुःख भी नहीं मिलेगा, सुख भी नहीं मिलेगा। हाँ, परवस्तुओंके आलम्बनसे विकल्प करते हैं और उन विकल्पोंसे दुःख ही मिलेगा। समस्त वैभव ज्ञानमें स्वाहा करते हैं। फिर कोई कहने लगे कि वाह वाह इन परपदार्थों को जानते हो कि मेरे साथ नहीं जावेंगे, जब मर जावेंगे तो यों ही छूट जावेंगे। सो भैया, यही सोच डालो कि चलो भगवानके ही भले बन जायें। कहते हैं महाराज इतनी ही बात नहीं, ये धन वैभव जिस पुण्यके उदयसे हुये उनको भी स्वाहा करता हूँ। सारा द्रव्यकर्म

मिट जाये, मैं सबको स्वाहा करता हूँ। कहते हैं वाह इसमें भी चतुराईकी बात की गई केवल कह लो, भले बननेकी बात कर रहे हैं। कहते हैं कि कहते ही नहीं हैं, वे द्रव्यकर्म जिन भावोंको निमित्त पाकर बँधते है ऐसे शुभोपयोगरूप पुण्य भावोंको भी मैं स्वाहा करता हूँ। इतने बड़े त्यागमें आया हुआ पुजारी फिर इतनी बात कहेगा—प्रथम देव अरहंत सिद्धम् अर्थात् पूजा करेगा। ज्ञानी पुरुष सुख दुःखको समान मानता है। सुख दुःख के कारण पुण्य पापोको समान मानता है। किस मुकाबलेमें ये सब समान कहे ? किसपर निगाह है ? जिसपर वह समान बन जाता है। उस ज्ञानी पुरुषकी निगाहमें वे सब समान हो जाते हैं। सोई कह रहे हैं कि व्रतोंसे तो पुण्य होता है और अव्रतोंसे पाप होते हैं और नरक, मोक्ष, पुण्य पाप, व्रत अव्रत, सुख दुःख इन सब जोड़ियोंसे रहित हैं। वह तो ज्ञान मात्र निजकी वृत्ति है सो उस ज्ञानमात्र वृत्तिमें रहकर मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

शांति होनेका मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। खुद ही में दृष्टि दो, खुदके ही स्वरूप में निगाह हो तो वह संतोष पा सकता है। बाहरी परपदार्थोंमें दृष्टि फँसाकर कोई संतुष्ट नहीं हो सकता है। जिन्दगी बरबाद किए जा रहे है, मिलता कुछ नहीं है, बरबाद होते चले जा रहे हैं, सो एक ज्ञानभावकी ही अपने में वृत्ति हो।

शृण्वतो वदतोऽप्यात्मचर्चा न ज्ञानभावनाम्।
विना मुक्तिस्ततोऽत्रैव स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२०॥

आत्माविषयक चर्चाको खूब सुनते भी हैं और इस आत्मासम्बन्धी चर्चाको खूब पढ़ते भी हैं, फिर भी ज्ञानकी भावनाके बिना मुक्तिमार्ग नहीं मिलता है। ज्ञानमात्र मैं हूँ, इस प्रकारको भावना किये बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती, क्योंकि ज्ञानमात्र रहनेका नाम ही मुक्ति है ओर ज्ञानमात्र बननेका उपाय 'ज्ञानमात्र मैं हूँ' ऐसी भावना बनाना है। यह बात असत्य नहीं है कि मैं ज्ञानमात्र हूं और यह भी असत्य नहीं है कि वर्तमानमें रागमय हूं, द्वेषमय हूँ, मोहमय हूँ यह भी असत्य नहीं है। परदृष्टिका मार्ग भिन्न-भिन्न है। हम केवल अपने सहज स्वरूपको ही स्वीकार करनेमें जुटने वाले हैं, तब यही दिखता है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। मैं वह हूँ जो स्वयं हूँ, अनादिसे हूं, अनन्तकाल तक हूं। बिना मरणके हूँ, सदा हूँ, एक स्वरूप हूं, क्या मैं ऐसा कुछ हूँ जो नष्ट हो जाने वाला हूँ ? नहीं। ऐसा मैं नहीं हूं। सभी गरीब पुरुषको कहा जाये, जो १०-२० रुपयोंका खोम्चा फेरकर अपने परिवारके लोगोंका पेट भरता हो कि भाई हम तुम्हें लखपति दो दिनके लिये बनाये देते हैं और इसके बाद यह सब जो तुम्हारे पास है वह सब धन दानमें दे दिया जायेगा, तुम्हें कुछ नहीं

मिलेगा तो वह लखपति होना मंजूर नही करेगा ओर अरने १०-२० रुपयेका हीं गुजारा करना मंजूर करेगा। वह अपनेको यों सोचता है कि मैं जिस तरहसे सदा रह सकता हूं वही ठीक है और दो दिनको धनिक बनकर रहें, फिर मिट गये तो यह बात ठीक नहीं है। वह चाहता है कि मैं वैसा रहूं कि जैसा सदा रह सकता हूँ।

कोई अपनेको यह मंजूर नहीं करता कि जो मैं हूं, वह मिट जाऊँगा। मैं मिट जाऊँ ऐसी बात सुनना उसे ठीक नहीं लगता है। ये सब छुटपुट बातें भी इस बातको बल देती हैं कि मैं वह हूं जो कभी नष्ट नहीं होता। शुद्ध हूं, स्वतन्त्र हूँ, अपने आप हूं आदि आत्मा की चर्चा खूब सुनकर भी, आत्माकी चर्चा खूब बोलकर भी यदि ज्ञानभावना नहीं जगती तो उसे मुक्ति नहीं मिलती। बातें करनेसे जैसे पेट नहीं भरता, भोजन पकायें, खायें तो पेट भरे कहते हैं ना कि भाई बातोंसे तो पेट नहीं भरता है। इसी प्रकार किसी भी प्रकारकी चर्चा बोलने सुननेसे मुक्ति नहीं मिलती, शांति नहीं मिलती। ज्ञान भावनासे ही शांति मिलती है। मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल जाननस्वरूप हूं। इसमें फिर बखेड़ा है कैसे? इस मुझमें रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं, पकड़ा नहीं जा सकता, छेदा नहीं जा सकता, भेदा नहीं जा सकता, किसीका कुछ यह लगता नहीं। सब जाननमात्र आत्मा हैं। जानन मात्र तत्व किसी दूसरेका कुछ लग सकता हो सो कैसे लगेगा? जाननमात्र यह मैं आत्मा हूं, इसका काम जानना है और काम निमित्त पाकर होता है तो क्या करेगा वह? जैसे कि सिनेमाके पर्दे पर जो कि सफेद है, साफ है, फोटो यंत्र सामने आ गया तो रंगीन बन गया। अब क्या करें, उपाधिकी सन्निधि सामने है और उस प्रकारका प्रतिबिम्ब झलक गया, तो इसकी योग्यता है, हो गया। केवल पर्देकी ओरसे हीं पर्देने रंगीन तो नहीं बनाया? बिना उपाधिके पर्दा तो एकरूप है, किन्तु उपाधि सन्निधिमें है, सो चित्रित हो गया। आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है, स्वच्छताका स्वभाव है। फिर भी इसपर रागद्वेष आ गये। हमने अपनी ओर से क्या किया, स्वरसतः स्वभावसे इसने क्या गल्ती खायी? क्या करें विपत्तियोंका पहाड़ टूट गया। उपाधि सन्निधिमें है ओर इसमें विभावोंरूप परिणमनकी योग्यता है। परिणम गया, विभावोंरूप हो गया। उन विभावोंरूप मैं नहीं हो गया और मैं ही परिणम गया, तिसपरभी उस विभावपरिणमनरूप मैं नहीं हूँ। मैं केवल चित्स्वभाव मात्र हूं, ज्ञानस्वभावरूप हूं, ऐसी भावनाके बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होगी, संकट दूर होंगे। जैसी बात अपने आपमें बार-बार पाई जाती है उस अनुकूल अपनेको वर्त लेते हैं, बना लेते हैं। जब विपरीत-विपरीत अपनेको सोचते हैं तो अपनेको विडम्बित कर लेते हैं।

एक भावना बना डाली। औंधी भावनाका फल औंधा मिलता है और सोधी भावना

का फल सीधा मिलेगा। भैया, यह विश्वासमें होना चाहिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, अन्य जितने भी आत्माके गुण हैं वे ज्ञानके अस्तित्वमें समा जाते हैं। अच्छा एक विचार-विमर्श करो– आत्मामें तो अनन्तगुण हैं ना ? हैं, और कहें भाई उन अनन्त गुणोमें से कोई एक गुण निकाल दो, उससे क्या टोटा आयेगा ? कुछ भी तो फर्क न आयेगा। जब अनन्तगुण हैं और उनमेंसे एक गुण निकाल लिया। केवल एक भरकी बात कह रहे हैं। एक ज्ञानगुण निकाल लो तो अब बतलावो कि अस्तित्व किसपर विराजे ? आत्मपदार्थोंकी जान ही निकाल लो क्या रहा और सब बातें तो जानकी जान रखनेके लिए थीं। वह ज्ञानमात्र आत्मा कैसा है ? यह बतानेमें सब गुण आ जाते है। यह ज्ञानमात्र आत्मा स्वयं अपनेमें रहता है। यह ज्ञानमात्र आत्माका वर्तन इस प्रकारका है। यों अर्धविकल्प होते हुए ज्ञान आ गया। यह ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानमात्र है, इस भावनामें आकुलताओंका काम नहीं है। इस आत्मामें अनाकुलता है। इस ज्ञानमात्र आत्मामें सब बातें आ जाती हैं इसलिये आचार्योंने इस बातपर बल दिया है कि हम अपनेको ज्ञानरूप भावें। आचार्यदेव ज्ञानभावना के लिए कहते हैं। आनन्दगुणकी भावनाओं तकके लिए भी नहीं कहते हैं। देख लो उपदेश में कहते भी हैं कहीं-कहीं आनन्दभावना, तो उसके कहनेका भी वह मुख्य लक्ष्य नहीं है। ज्ञानभावनासे जो शुद्धि होती है, उसमें शुद्ध आनन्दका अनुभव होता ही है अन्य रूप भावनाओंसे निर्विकल्पकताकी सिद्धि नहीं होती है। मैं आनन्दमात्र हूं। अब क्या चीज पकड़नेमें आ गई ? कहाँ टिकना हुआ ?

अपने-अपने अन्तरके अनुभवोंसे विचारिये 'ज्ञानमात्र मैं हूँ' इस भावनामें ज्ञानमात्र आत्मा ग्रहणमें आता रहा है। समझमें आ रहा है जाननमात्र, प्रतिभासमात्र। कुछ और विश्राम लेकर सोचनेपर समझमें आता है कि यह मैं ज्ञानमात्र हूं। इस कारण इस ज्ञानमात्र आत्मभावोंमें ही ठहरकर अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

मनोवाक्कावृत्तीनां, ग्रहणे संसार एव हि।
स्मै ततः पृथग्ज्ञाने, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२१॥

जीवको संसारमें डालनेके लिए और औपाधिक व्यामोहमें फंसानेके लिये निकटकी चीजें तीन हैं—मन, वचन और काय। धन तो बहुत दूर है। आप यहाँ बैठे हैं तो मन, वचन, काय भी आपके पास है और धन रखा है वहाँ कई हाथ दूर पर। वह चिपकाये हुए नहीं बैठे हैं। लेकिन अभी मन, वचन और काय मौजूद हैं और यह जीव मन, वचन, कायको ऐसी आसक्तिसे ग्रहण करता है कि इतना मात्र ही मैं हूँ, ऐसे उसके संस्कार बन रहे हैं। इस संसारको देखकर तो बड़े-बड़े विवाद चलते हैं। इसने मुझे गालियाँ दीं। यही तो मैं हूं। अपमान महसूस करता है, अपने इस शरीरका ख्याल करके और जितने

विवाद झगड़े बढ़ रहे हैं, वे शरीरके ख्याल करनेसे ही है। ऐसा न करे तो लोग मुझे क्या कहेंगे ?

इस चिन्तनमें क्या इसका अर्थ तुमने यह लगा रखा है कि इस चैतन्यमात्र मुझ आत्म-तत्त्वको लोग क्या कहेंगे ? नहीं, उसको तो कोई कुछ कहेगा ही नहीं। कह ही नहीं सकता है। घबड़ानेकी बात क्या है ? पर कायकी जो दृष्टि है, कायका जो ग्रहण है, ग्रहण के मायने विकल्प द्वारा कायकी पकड़, उससे ससारकी ही वृद्धि है। यह मैं हूं, ऐसे ग्रहणमें संसार ही है। संसार ही बढ़ता है। वचनकी बात देखो तो वचनकी भी कितनी पकड़ है। मेरी बात इसने क्यों उलट दी ? किसी भी मामलेमें मेरी यह बात क्यों न रह सकी ? भैया ! वह बात क्या है ? अभी कुछ गाँठमें बात है क्या ? बात बोलते ही भाषाका परिण-मन उलट गया, चला गया, अन्य-अन्य रूप हो गया। वह कुछ कहीं तो नहीं रहा और बात भी क्या है ? कुछ तुम्हारी चीज है, क्या है ? पर बातकी पकड़ है कि नहीं ? मेरी बात नहीं हुई। चाहे कितना ही वैभव बिगड़ जाये, पर बात रह जाये तो मूँछोंपर ताव देकर कहते हैं कि कहो, आखिर विजय हमारी ही तो हुई। चाहे कलके खाने तकको भी नहीं। अजी कुछ परवाह नहीं। मगर बात तो रह गई। यहाँ जब भाई-भाईमें न्यारा-पन होता है तो न्यारेपनमें बड़ी बातपर झगड़ा बखेड़ा नहीं होता है। क्या कोई भाई ऐसा कह सकता है कि मैं तो इतने मकान लूंगा और इसको इतने ही मात्र देंगे। ऐसी बात जँचती ही नहीं। बड़ी बातका न्याय सुगमतासे होता है।

झगड़ा होता तो एक हाथ जगहपर ही अड़ जायेंगे। यह खूँट हमारी है, यह तुम्हारा है। इसीपर झगड़ा हो जाता है। सारा बँटवारा तो खुशी खुशी हो गया, पर एक हाथ जगह पर झगड़ा हो गया। देखो एक मात्र सब जीवोंके सुखी रहनेकी भावना बने तो इस भावनासे ही बड़ा फल मिलता है। लगता तो कुछ नहीं है, खर्च भी कुछ नहीं होता है, मगर उन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंसे पृथक् जो ज्ञानस्वरूप मैं हूं, सो उस ज्ञानमात्र निजतत्त्वमें ही रहूँ और उन सब बाह्य अर्थोंके परभावोंके विकल्पोंको छोड़ूं। यहाँ गुजरती हैं बाहरी बातें, सो बातोंके गुजरनेकी बात और है और उनकी पकड़ कर लेना यह बात और है। उनकी पकड़ करना मिथ्यात्व है और मन, वचन, कायकी वृत्तियाँ होना पूर्व पदमें सबके हैं। निम्न गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिके भी मन, वचन, कायकी वृत्तिकी पकड़ होती, मिथ्यात्वदृष्टिके भी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है, किन्तु सम्यग्दृष्टिके उसकी पकड़ नहीं, पर उनकी पकड़ मिथ्यात्व है। उनकी प्रवृत्ति विभाव है। जितने भी विभाव है वे सब मिथ्यात्व नहीं होते, पर मिथ्यात्व सब विभाव होते हैं। जैसे कहते हैं कि राग होता

है, पर रागका राग हो जाय तो वह मिथ्यात्व हुआ। मैं रागवान् हूँ, यही तो मैं हूँ, इसके बाहर मैं नहीं हूँ, इसोमें ही हित है। ऐसा ही हो जाय, ऐसा हो जाय तो ठीक है, नहीं तो अवसर खत्म है। राग तो रागसंसारमें रुलाने वाला है इसी तरह मन, वचन, काय की प्रवृत्तिका ग्रहण करना, आत्मसात् करना, आत्मरूपसे ग्रहण करना। यह संसार है और संसारका फल केवल क्लेश ही है। सो संसार भावोंसे हटकर उससे पृथक् ज्ञानमात्र अपनेमें रहूं और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

वदानीच्छानि पृच्छान्यात्मानं ज्ञानमयं शिवम्।
अत्रैव विहरान्येष स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२२॥

मैं बोलूं तो क्या बोलूं ? एक आत्माकी ही बात बोलूँ। चाहूँ तो क्या चाहूँ ? एक आत्माकी ही बात चाहूं और पूछूँ किसीसे तो क्या पूछूँ ? एक आत्माकी ही बात पूछूँ। यह आत्मतत्त्व ज्ञानमय है, कल्याणमत है। यह स्वयं आनन्दसे भरपूर है। ज्ञान और आनन्द ही आत्माका स्वरूप है। ज्ञान कहीं बाहरसे नहीं आता है और आनन्द भी कहीं बाहरसे नहीं आता है। यह मैं आत्मतत्त्व ज्ञानमय हूं और कल्याणस्वरूप हूं। मैं इस ही निज आत्मस्वरूप में विहार करूँ तो शांतिका मार्ग उपलब्ध होगा। अपने स्वरूपसे हटकर बाह्यमें दृष्टि लगाऊँ तो यह क्लेशोंका मार्ग है। जो चीज बड़े लाभकी है वही चीज बार-बार बोली जाती है। कही जाती है, पूछी जाती है। ज्ञानी पुरुषको सबसे अधिक प्रिय, इष्ट, निज ज्ञानभाव है, निज आत्मतत्त्व है। इसलिए वह इस ही ज्ञानस्वभावकी बात बोलता है, इसकी ही चाह करता है और इसकी ही बात दूसरोंसे पूछा करता है।

सबसे अधिक प्रिय चीज क्या है ? बालक जब छः माहका होता है तो उस बालक की मुद्राको देखकर जान जायेंगे आप कि उसे सबसे प्यारा क्या है ? माँ की गोदमें बैठा हुआ धोतीके आंचलमें आधा छिपा हुआ, आधा उघड़ा हुआ बालक, जिसकी मुद्राको देखकर समझ लिया जाता है कि इसे तो अपनी माँ की गोद ही प्रिय है। आँचलमें छिपकर रहना ही उसे प्रिय है, वह आँचल ही उसका इष्ठ है। उसे धन, वैभव, मकान, दुकान इत्यादिका तो ख्याल ही नहीं है। ये उसको प्रिय नहीं होते। बड़ा और हुआ, खेलने लगा, घोड़ा, हाथी आदि खिलौने खेलने लगा। उन खिलौनोंमें ही वह रमने लगा। खिलौना खेलते हुए जब माँ कहती है कि यहाँ चल तो वह मां पर हाथ पसार देता है। अरे क्या हुआ ? अरे अभी तो तुझे मां की गोद, मां का आँचल ही प्रिय था, आज तुझे ये मिट्टीके खिलौने ऐसे प्रिय हो गये कि अब उस बालकको मां की गोद भी प्यारी नहीं रही, अब तो उसके लिए खिलौने प्यारे हो गये।

कुछ जरा और बढ़ता है तो वह विद्या पढ़ने लगता है। उसकी आशा विद्याके बारे

में बढ़ती है। मैं तीसरी क्लासमें पास होऊँ, मैं चौथीमें पास होऊँ। कोई कोई तो पूछता है कि महाराज हम पास होंगे कि नहीं। अब उसे खिलौने भी प्रिय नहीं रहे, मां की गोद भी प्रिय नहीं रही, अब उसे उत्तीर्णता प्रिय हो गयी। अब और बालक बढ़ता गया। अब वह बी. ए., एम. ए. पास हो गया। यह सोचा करता है उसको अब विद्या भी नहीं प्रिय रही, किन्तु डिग्री प्रिय हो गयी। पहिले तो विद्या पढ़कर खुश होते थे, अब वह विद्या भी प्रिय नहीं रहीं। अब विद्याके विषयोंकी खुशी नहीं है, अब केवल डिग्री ही प्रिय है। डिग्री भी मिल गयी। अब और बड़ा हुआ, उसके चित्तमें शादीकी सूझ आ गई। उसे स्त्री भी प्राप्त हो गई, लो अब डिग्रीकी खुशी भी गई, स्त्री प्रिय हो गई। फिर उसको स्त्री भी प्रिय नहीं रही। अब उसे प्रिय क्या है ? अब उसे जो प्रिय है, वह है पुत्र। कुछ समय बाद प्रिय हो जाता धन। धन न जाने कहाँसे टूट गिरे ऐसी आकांक्षाएं रखने लगा। जब कुछ समय और बीता तो पुत्रकी धुन छूटी और देखो उसे प्रिय हो गया धन। जब और बड़ा हुआ तो काम-काज शुरू किया, व्यापार करने लगा, धंधा करने लगा। इस तरह चलता रहा, अब खूब बड़ा हो गया, ४-५ बच्चे भी हो गये। अचानक फोन आया कि सुनते ही घबड़ा गया। घरकी तरफ दौड़ा। रास्तेमें कोई बड़ा पुरुष मिला। उससे भी नहीं बोलता। पहिले तो ऊँचे-ऊँचे आफिसर मिलते थे, रोज दो मिनटके लिए उनसे मिलते थे, अब वे आफिसर भी उसे प्रिय नहीं हैं। घबड़ाता हुआ घर पहुँचा, फोनमें जो समाचार सुना था वही देखनेको मिला, वहाँ देखा कि घरमें आग लग गई है। आग अंधाधुंध जल रहीं है और धनको लोग निकाल रहे हैं। बोलता कि जितना धन निकाल सको, निकाल लो। अचानक खबर मिली कि और धन तो निकल आया, पर एक दूधमुँहा बच्चा दो वर्षका भीतर ही पड़ा रह गया। आग बड़ी तेज थी। अन्दर जानेकी किसीकी हिम्मत नहीं थी, पर वह लोग पुलिस वालोंसे कहते कि भैया, उसे निकाल दो, हम तुम्हें ५ हजार रुपये देंगे। फिर कहता कि हम १० हजार तक देंगे। अरे भैया, तू ही क्यों नहीं चला जाता ? तू ही जाकर निकाल ले। देखो उसे बचनेसे भी ज्यादा उसका प्राण हो गया, उसकी जान हो गई। फिर वही पुरुष कारण पाकर विरक्त हो जाथे और सच्चा साधु बन जाये तो समाधि अवस्थामें कदाचित् कोई सिंह, स्याल, शत्रु उसको चाटने अगे, खाने लगे, प्रहार करने लगे तो उसमें भी दम है कि आसनसे उठ जाये और उनफे हाथ मार दे तो सब सिंह, स्याल आदि भाग सकते हैं। मगर स्वयं स्थिर बैठा है, हिलता नही है, किसीसे बात नहीं करता है, मनसे बाहरी बातें नहीं सोचता, विकल्प नहीं करता। इन विकल्पोंसे ही अहित है। निर्विकल्प स्थिति रहने दो अर्थात् शुद्ध ज्ञानकी परिस्थिति रहने दो। अब उसे जान भी प्रिय नहीं है, जान रहती है

तो रहे, नहीं तो जाने दो। अब उसे जान भी प्रिय नहीं रही। तो अब ज्यादा प्रिय क्या है? ज्ञानभाव इस ज्ञानभावमें दोष न आ सके। यह जन्ममरण तो कुछ चीज भी नहीं है। जो होता सो हो, पर मेरा सम्बन्ध तो अस्तित्वसे है ना? सत्त्वसे है, परिणमनसे है। यह भव छूटा तो और भवमें पहुँचे और आत्मदृष्टि बराबर बनी रही तो विकल्प क्यों हो? अब उसे अन्तमें प्रिय क्या हुआ? ज्ञानभाव। तो सबसे प्यारा क्या है? प्रियतम कौन हो सकता है? वह ज्ञान ही प्रियतम हो सकता है, निजस्वभाव चैतन्यतत्त्व ही प्रिय हो सकता है। देखो व्यवहारमें लोग एक शब्द बोला करते हैं—प्रीतम याने प्रियतम। प्रियतम पति को बोलते है। प्रियतमका मतलब क्या है? प्रियतम संस्कृतका शब्द है, प्रिय, प्रियतर, प्रियतम तीन रूप होते हैं। जैसे अंग्रेजीमें गुड, बैटर, बैस्ट। उसी तरह प्रिय, प्रियतर, प्रियतम याने प्रिय हो, उससे अधिक प्रिय हो, सबसे अधिक प्रिय हो।

जिसका कोई मुकाबला नहीं, उत्कृष्ट हो, उसे कहते हैं प्रियतम। बतलाओ सबसे प्रिय चीज तुम्हें क्या है? ज्ञानभाव, आत्मतत्त्व, ऐसा यह आत्मतत्त्व इसका ही दर्शन, इसका ही आलम्बन हो। जो समस्त आकुलताओंको दूर करता है। मैं इस ही आत्माकी बात बोलूँ, इसको ही चाहूं और इसकी ही बात पूछूं और यहाँ ही विहार करूँ, यहाँ ही ठहरूँ। यहाँ ही ठहरूँ तो इस उपायसे अपना भला हो सकता है। इस ही जीवनमें बचपन से लेकर अब तक किन-किन सम्बन्धोंमें, किन-किन उपयोगोंमें यह जीव लगा। याद तो करो। जिस जिसमें उपयोग लगा, उस उसका आज क्या सम्बन्ध है? अथवा उसके विषय में आज क्या स्थिति है? कितना फर्क है? कुछ इसका नहीं है। न कोई हितकारी है, न कोई साथी है, यह एक एकांकी नाटक कर रहा है अपनी ओरसे। घड़ी कोई बड़ी सुन्दर हो, हाथमें पहिन ले, बार-बार देखता है और अपनी शान अनुभव करता है। घड़ी बेचारी कुछ जवाब नहीं दे रही है। यह महाशय अपने आपमें खुश हो रहे हैं। कभी आईना उठाकर अपना मुख तो देखा ही होगा। आईना उठाया तो मुख देखा, चाहे दुबले पतले हों, चाहे नाक चपटी हो, चेहरा देखते हुए थोड़ा अभिमान तो आ ही जाता होगा। मूंछोंपर हाथ फिर ही जाता है, पर आईना कुछ उत्तर नहीं दे रहा है, उसकी कोई मदद नहीं कर रहा है, पर यह अपना एकांकी नाटक खेल रहा है।

इन सब बातोंमे एक बात ध्यान देनेकी है कि आत्माके रागद्वेषोंके, कषायभावोंके उत्पन्न होनेमें कर्मका उदय तो निमित्त होता है और बाहरी जितने पदार्थ हैं, वे विषयभूत हैं, वे सब आश्रयभूत कहलाते हैं। इन आश्रयभूत पदार्थोंकी इनके रागादिक भावोंके साथ

व्याप्ति नहीं है। इसलिए यह निमित्त नहीं कहलाते। यह आश्रयभूत हैं, पर कर्मका उदय इसके विभावोंमें निमित्त है। फिर भी उस पदार्थको ही देखो तो सर्वत्र यह लगता है कि ये परपदार्थ एकांकी नाटक करते चले जा रहे हैं। वह किसीसे कुछ बोलता ही नहीं है। बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। कहते हैं ना कि सम्यग्दृष्टि पुरुष बोलते हुए भी नहीं बोलते और सम्यग्दृष्टिकी ही बात नहीं, बड़े मिथ्यादृष्टि पुरुष भी बोलते हुए भी दूसरेसे नहीं बोलते हैं। वहाँ दूसरा अर्थ लगा ना। यहाँ दूसरा अर्थ लगा। सम्यग्दृष्टि पुरुष दूसरोंसे बोलते हुए भी नहीं बोलते।

इसका मतलब यह है कि उसका अपनी ओर झुकाव है, अपनी उसको खबर है। जानता है कि इन सब व्यवहारोंमें उसका कुछ पूरा नहीं पड़ रहा है। मैं अपने आप ही कुछ कर रहा हूं और बिगाड़ता हूँ, सुधारता हूं। मेरी जिम्मेदारी मुझ ही पर है। कल्याण में लगना चाहिए, ऐसी उसको बड़ी उत्सुकता है। जिसके कारण बस बोल-चाल करनेपर भी वह किसीसे बोलता नहीं है और मिथ्यादृष्टि भी बोलता हुआ भी नहीं बोलता याने किसीको कुछ करना नहीं, बोलना नहीं। वह अपने आपमें ही एकांकी नाटक कर रहा है। अपने कषायों की पुष्टि कर रहा है, अपने कषायोंके विकल्प बना रहा है। मैं किससे बोलूं ? किसीसे बोलनेसे मेरा क्या हित है ?

देखिए अपने जीवनमें भी, व्यवहारदृष्टिसे भी कम बोलना अच्छा है, ज्यादा बोलने की आदत वाले अपने आपमें वजनरहित होते हैं। अपनेको वे खाली महसूस करते हैं, भरेपन से नहीं रहते हैं। जम करके आनन्द नहीं मिलता है। विह्वलतासी बनी रहती है ज्यादा बोलने से। ज्यादा बोलनेकी आदत तो लौकिक जीवनके लिए भी हितकर नहीं है और फिर दूसरी बात बोलूँ तो क्या बोलूं ? किसी अन्यकी चर्चा रखूँ तो क्या लाभ है ? बोलूं तो आत्माकी ही बात बोलूं।

जिसकी लगन लगी है, वह बराबर बोली जाती है, वही बराबर चाही जाती है, वही बराबर पूछी जाती है। व्यवहारमें कुछ भी करना पड़ता हो। जैसे किसी युवककी ससुरालसे ४-५ आदमी आयें और उसके घरके सामनेसे निकलें, वहाँ ठहरें तो वह उनको बुलाता है, पानी भी पिलाता है। जान रहा है कि ससुरालके गाँवके ही तो हैं। इसलिए वह उनका सत्कार करता है। बीच-बीचमें चर्चा छेड़ते हैं कि ससुरालके घर वाले मजेमें हैं। कोई-कोई तो सांकेतिक भाषामें अपनी गृहिणीकी भी बातें पूंछ लेता है। तो वह किस का आदर है ? क्या सब उनका आदर किया जा रहा है ? वह सब आदर तो उस गृहिणी का है, जो उन चार आदमियोंमें टपक पड़ा है।

जिसके जि की बुद्धि है, वही बोला जाता है, वही चाहा जाता है, वही पूछा जाता है। ज्ञानी पुरुषकी यही भावना होती है कि मैं केवल ज्ञानमय, कल्याणकर और आत्मतत्त्व की ही बात बोलूं, आत्मतत्त्वकी ही बात पूछूं और उसकी ही चर्चा करूँ। अच्छा और किस किसकी चाह करते ? हवेलियाँ बन जायें। हवेलियाँ भी भाई बन गयीं। अब संतोष हो गया क्या ? इच्छाओंकी पूर्ति हो गई क्या ? अरे, अब और आकुलताएँ बड़ी हो गयीं। तो क्या काम कर लें कि शांति मिले ? कौनसा काम बाहरमें ऐसा है कि जिसके कर लेने से शांति प्राप्त होती है। अब कुछ भी नहीं है, क्योंकि बाहरके काम करना मेंढकोंके तौलने के बराबर है। जरा सेर भर मेंढक तौलिए कि कितने चढ़ते हैं ? आप तौल नहीं सकते हैं। एक आपने रखा तो दूसरा कूद गया। तुम चढ़ाते जाओ, वे कूदते जायें। आप तौल नहीं सकते हैं। बाहरमें काम आप क्या करेंगे ? यह किया, वह किया, यह ठीक हुआ, वह मिटा, यह संभाला, वह खत्म हो गया। कभी बच्चेकी बीमारीका इलाज करवाया तो कभी किसी की सोचने लगा। कभी कोई घरमें गुजर गया। कभी कोई रिश्तेदारीमें घटना हो गयी। भागो, दौड़ो, संभालो, इसको पकड़ो, इसको छोड़ो, इसको संभालो। बाहरी बातोंको करना मेंढकोंके तौलनेके बराबर है। वहाँ जमकर व्यवस्था नहीं बन सकती है, कायदा कानूनकी व्यवस्था नहीं चलती, क्योंकि परकी परिणति मेरे आधीन नहीं और एक अपने आपके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनेका काम जम जाये तो यह बनना है। अगर कोई अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करे तो यह बनना है और अगर न करे तो यह बात ही अलग है। पर यह अपने आपके स्वभावपर दृष्टि लानेका काम स्वाधीन है, सुगम है, जमने वाली बात है। इसमें किसी दूसरेसे बाधा आनेकी शंका नहीं। खुद ही अयोग्य है तो खुद ही अपने ज्ञानस्वभावसे विचलित हो जायेगा। अच्छा बताओ पैसेका उपार्जन करना सरल है या आत्मदर्शन करना सरल है ? उत्तर क्या दिया जाये ? पैसेका उपार्जन करना आपके हाथकी बात नहीं है। उदय अनुकूल है तो होता है आपके सोचनेसे नहीं कि मैं सोचूं तो वैसा काम हो ही जाये। सोचते सब हैं। यों तो कोई बालक गेंद खेल रहा है और गेंद लुढकते-लुढकते किसी नालीके पास पहुँच रही है तो वह दूरसे ही अपने हाथोंकी मुट्ठियाँ बाँधकर सकोड़कर यों यत्न कर रहा है कि गेंद नालीमें न गिरे। गेंद तो दसों हाथ दूर है, भागी चली जा रही है, पर यत्न यह करते हैं कि नालीमें न गिरे। इस यत्नसे कुछ गेंदमें परिणति हो जायेगी क्या ? इसी प्रकार ये समस्त परपदार्थ हमसे कितने दूर हैं, अत्यन्त दूर हैं, हममें उनका अत्यन्ताभाव है। अब हम उनकी परिणतिका ध्यान रखते है कि यह यों बन जाये तो उसके सोचनेसे उस परमें कुछ नहीं बनता है। तो पैसेका उपार्जन

कठिन है और आत्मदर्शन सरल है। दर्शक भी आत्मा है, दृश्य भी आत्मा है, दर्शनका साधन भी आत्मा है, पर एक बात है कि आत्मदर्शन मोहमें असंभव है या तो असंभव है या झट होनेकी चीज है। आत्मदर्शन, आत्मकल्याण, आत्महित सुगम है। मगर अब तक कैसा परिणमन हो रहा है कि सुगम चीज तो कठिन मालूम होती है और कठिन चीज सुगम जंच रही है। जैसे सफरमें जाते हैं और साथमें कलेवा है, टिफिनबाक्स है तो जब भूख लगी तब झट अपना टिफिन निकाला और खा लिया। कितनी स्वाधीन बात है, न स्टेशन ताकना है, न किसीसे कुछ पूछना है। इसी तरह इस लोकमें सफर करते हुए ज्ञानीके पास ज्ञानदृष्टिका कलेवा है। कैसा भी संकट आवे, कैसी भी परिस्थिति हो जावे, पर किसीके मुंह ताकनेकी प्रतीक्षा नहीं है। ज्ञानदृष्टि की कि सब आकुलताएँ दूर हो गयीं।

आपके पास एक निजी कलेवा है, जब चाहें तब खायें पियें। अपने ही ज्ञानसे अपने को सुखी कर सकते हो। ज्ञानी जनकी भावनाएँ हैं कि इस ज्ञानमय शिव आत्मतत्त्वका ही बल चाहूँ, इसीमें विहार करूं और अपनेमें आप स्वयं शात रहूँ, सुखी होऊँ।

भिन्ने स्वस्य धिया स्वस्माच्च्युतो वध्नाभ्यतः परा।
च्युतः शाम्यानि बुद्धय्या स्वे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२३॥

जो चीज अपनेसे न्यारी है उसको यदि ऐसा मान लें कि यह मैं हूं, यह मेरा है तो इसका अर्थ यह है कि अपने आपसे च्युत हो गये, अपने आपको कुछ नहीं समझ सके और जो अपने आपको गिराकर च्युत हो गये तो वह कर्मोंसे कल्पनाओंमें बंध जाता है। एक ही तो बात है 'परमें लगे जो संसार है और परसे हटे और अपने आपमें लगे सो मोक्षका मार्ग है।' अब परसे हटें और अपने आपमें लगे इसका उपाय क्या है ? तो इसका उपाय परको पर जान लो और स्वको स्व जान लो तो यही उपाय है। यह बात कहनेको तो सभी लोग कहते हैं, पर इसको विस्तृत रूपसे जैनसिद्धान्तमें कहा गया है। जो सिद्धांत ऐसा मानता हो कि एक प्रभु ईश्वर है वही हम सबको बनाता है, उसीकी प्रार्थना करूं, और उसको करुणा आ जाये, हमारी भक्तिसे प्रसन्न हो जाये तो वह मुझे तार देगा, ऐसी बुद्धि होनेसे क्या यह आशा की जा सकती है कि वह हितमें लगेगा। उसकी दृष्टि बाहरकी ओर है, अपने आपमें उसे संतोष नहीं है, अपने आपको तो कुछ सत्त्व ही नहीं माना है, पराश्रित बुद्धि है, अन्य कोई पुरुष दया करे तो सुधार हो, ऐसी कल्पना है। इसमें शांति समाधि तब हो सकती है जबकि परसे हटे।

भैया ! अपने आपमें लगे, इसके उपायकी बात चल रही है। यदि जगत्में ब्रह्मा एक है और सबमें ही ब्रह्मका अवतार है तो वहाँ सब ही एक है। कुछ पर रहता ही नहीं। सब

भी कुछ नहीं रहे, मैं भी कुछ नहीं रहा, पर भी कुछ नहीं रहे। वह ब्रह्म तो कोई एक सर्वव्यापक है। वहाँ भी परसे क्या हटना और स्वमें क्या लगना ? जिसे परवस्तु कहा गया है वह परवस्तु अपना-अपना अस्तित्व लिए हुए है, स्वतंत्र है। स्व और परका भेद है। स्व में स्वयं एक वस्तु जो है सो आई। आखिर है तो कुछ निज वस्तु जिसमें आकुलताएँ उठती हैं, वितर्क विचार होते हैं, सुख दुःखका क्षनुभव होता है। उनका चाहे कैसा ही बिगड़ा रूप हो, आखिर है तो एक वस्तु तो वह तो हुआ स्व। इस स्वके अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं, चाहें चेतन हों या समस्त अचेतन हों वे सब हैं पर। उन परसे हटना और स्वमें लगना सम्यक् ज्ञानके बलसे हो सकता है। परमें लगना अयोग्य है कि वह कोई सुव्यवस्थितताका मार्ग नहीं है। पर पर है। उसका संयोग हो, उसका मेरी चाहके माफिक परिणमन हो, यह कुछ बात हो नहीं सकती और जब नहीं हो सकती तो व्याकुलता है। इस कारण परमें लगना पाप है ओर स्वमें लगना पुण्य है। यहाँ पुण्यका अर्थ एक पवित्र कर्त्तव्य है। सो इस परसे हटो और स्वमें लगो।

जैनसिद्धान्तमें जिस पद्धतिसे वस्तुस्वरूप कहा गया है उसका ज्ञान होना तो बन सकता है। कोई भी पदार्थ ले लो, जहाँ क्षण-क्षणमें नये-नये पदार्थ होते हैं वहाँ परसे हटना और स्वमें आना, ऐसा हो ही नहीं सकता है। आत्मलाभ हुआ कि लो, मिट गया। क्षण भर बादमें कुछ करनेका मौका ही नहीं मिला। जहाँ एक समयकी स्थिति है पदार्थकी, दूसरे क्षण नहीं है। वहाँ उपदेश ही क्या ? परसे छूटना, निजमें लगना इसकी कल्पना ही क्या है ? हटना और लगना यह तो वृत्ति है, परिणति हैं। मगर हटना और लगना, यह बात हममें हुई तो परिणामी हो गई। अपरिणामी कैसे रही ? तो अपरिणामवादमें भी परसे हटना निजमें लगना, यह नहीं हो सकता है और क्षणवादमें भी नहीं बन सकता। सब कुछ एक ही है, हम तुम ये सब। जब हम एक ही है तो हम कुछ न रहे, आप कुछ न रहे तो कहाँ हो सकता है परसे हटना ओर निजमें लगना।

भक्ति तो करो व बाह्यमें उपयोगोंको लगाए रहो। प्रभो बचाओ, रक्षा करो, उद्धार करो, ऐसी वृत्तिमें भी संतोषकी पद्धति तो नहीं हुई। जैसे यहाँ लौकिक क्रियाके लिए दूसरे पुरुषोंसे दीनताकी जाती है, उसी तरह अपनी कल्पनाओंसे मानी हुई उद्धारक्रियाओंके लिए भी एकसे दीनता को जा रही है। इस पद्धतिमें भी संतोष नहीं है, तृप्ति नहीं है। हाँ, परमात्माका स्वरूप पवित्र है तो भक्ति करो। धन्य है यह सम्यग्ज्ञान, धन्य है यह वस्तु-स्वरूप के बताने वाला पूज्य तत्त्व, जिसके आश्रयसे मोहादिक सब संकट टल जाते है।

सब पदार्थ अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक समय परिणम रहे हैं, अपने आपमें परिणमते रहते हैं। एक यह ही चैतन्यपदार्थ है ऐसा जो कि विकृत दशामें अपने उपयोग गुणके कारण अपनेको अपना कुछ न मानकर बाहरमें नाना रूपता माना करता है। सो इसकाही एक ऐसा गुनाह है कि जिसके कारण परेशानी छाई है। जब यह सम्यग्ज्ञान उदित होता है तो निज स्वरूपधारी सर्व जीव लोकदृष्टिमें रहता है। कर्तृकर्मत्वके भाव समाप्त होते हैं, वहाँ परसे हटना और स्वमें लगना बन जाता है।

कितना जीवन व्यतीत हुआ अनादिसे आज तक, केवल यही भ्रमकी एक धुन रही, किसी भी भावमें रहा हो, अपनेको भूले हुए कितना लगातार समय गुजर गया इतने पर भी अब भी नहीं चेत सकता। कितनी विपत्तियाँ सहीं, कितनी विपत्तियाँ पायीं, फिर भी यह ऊब नहीं सका और उन्हीं मुक्त भोगोंको पाता है और चैन मानता है और नई बात, नये सुख, नया ढंग समझता है। ये सब आपत्तियाँ एक निजका मर्म न जाननेमें हुई।

भैया! जिस जीवकी बाहरमें दृष्टि रहती है, स्वरूपसीमामें उपयोग रहता है, स्वमें वृत्ति जगती है, वह पुरुष अमीर है। बाहरमें धन वैभवके समागमकी कमी होनेसे करोड़ों पुरुषोंसे वह दीन है, गरीब है, कुछ नहीं है। मगर जिसको अपने प्रभुस्वरूपकी लगन लगी है वह शहनशाह, राजा, महाराजा, देव और इन्द्रोंका भी वह राजा है, पूज्य है। जिसको अपने प्रभुस्वरूप की लगन लगी है, उसकी प्राप्तिके कारण संसारके सारे संकट टल जाते हैं समयसारमें लिखा है—

अयिकथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
अथ पृथगथ विलसतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

हे प्रियतम! किसी प्रकार भी, मरण करके भी अथवा बड़े कठिन यत्न करके भी तन, मन, धन, वचन समर्पित करके भी, तत्त्वको कौतूहली होते हुए भी एक क्षण मुहूर्त मात्र तो भवमूर्तिका पड़ौसी बनकर अपने आपको अनुभव तो कर।

तत्त्वके कौतूहलीका अर्थ है कि सारे पदार्थोंके वस्तुस्वातन्त्र्यको देखकर उस ही वस्तु में कौतूहलकी पद्धतिसे यह निरखते रहें कि यह वस्तु है और यह इसमें तो परिणम गयी, लो विलीन हो गई तो हो गई। जैसे बालक जब बरसातमें उर्वतियोंके सामने पानीका बबूला देखते हैं, बबूला पैदा होता है, उन्हें कौतूहल होता है, बड़ी क्रीड़ासे देखते हैं। इसी तरह यहाँसे कौतूहली बनते हैं, तत्त्वमें कोई बने पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें हैं। मगर ज्ञान-बलसे स्वातन्त्र्य देख लो। लो यह यों परिणम गया, यों परिणम रहा है। विज्ञानपद्धतिमें

उतारें तो वहाँ भी यह दिखता है कि उसका निमित्त पाकर देखो इसने अपने आपकी अब क्या शक्ल बना डाली ? अपने आपकी क्या परिणति कर डाली ? इस तरह यथार्थ हितकर ढंग अपना बन जाता है । बस देख लिया, जान लिया, देख रहा, जान रहा । ऐसा कौतूहली बनकर उस भवमूर्तिके पड़ौसी बनो । संसारकी मूर्ति है यह शरीर । इससे ही तो सब समझ में आ रहा है, यह संसार है, यह संसारी है । इस भवमूर्तिके पड़ौसी बनकर अपने आपका अनुभव करो ।

भैया ! यह आत्माराम, यह चित्स्वभाव यह भीतरमें बड़े ही आरामसे विराजमान सबसे पृथक् विलस रहा है, शोभायमान हो रहा है । ऐसा इस देहसे पृथक् चैतन्यस्वभाव मात्र एक अपने आपको तो देखो । कहाँ हैं संकट, वहाँ तो संकट ही नहीं हैं । कैसी है पराधीनता ? कहीं पर भी पराधीनता नहीं । इस अपने प्रभुत्वका दर्शन तो कैसे हो ? सबसे विरक्त अपने आपके सर्वस्व एक इस अपने आपके पदार्थको देखो । इसको दूसरेसे अटक ही क्या है ? यह स्वयं सत् है, इसे कुछ नहीं बनाना है । वह तो आनन्दसे पूरा बना बनाया ही है । यह है और अपनी अथक क्रिया कर रहा है । इसको रक्षा क्या चाहिए ? इससे भिन्न जो परपदार्थ हैं उसकी रक्षाका विकल्प किए हुए है यह जीव । इसलिए यह सुरक्षित है, यह स्वयं बना बनाया परिपूर्ण है । इसको रक्षाकी जरूरत क्या है ? यह तो रक्षित ही है । इसलिए अपने आपमें विराजमान इस निजको देखो, जिससे इस देहके साथ एकत्वका मोह छूटे । जीवन तभीसे है, जबसे इसने अपने आपमें सहज स्वरूपकी पहिचान की ।

एक साधु महाराज थे । एक दिन एक श्रावकके यहाँ भोजन किया । भोजन करके आँगनमें बैठ गये । सो सेठकी बहूने पूछा कि महाराज ! आप इतने सवेरे क्यों आ गये ? भैया ! आये १० बजे आहारको । अच्छी कड़ी धूप भी थी । महाराज बोले कि बेटी ! समयकी खबर नहीं रही । इतनी बात सुनकर लोग दंग रह गये कि समयकी खबर नहीं थी । अब साधुने पूछा कि बेटो ! तेरी क्या उम्र है ? इससे भैया क्या मतलब ? सब बातें लोग सुन रहे और अटपट अनुभव कर रहे हैं । इतनेमें बहू उत्तर देती है कि महाराज मेरी उम्र ४ वर्षकी है । ३० वर्षकी तो उम्र है और बतलाई ४ वर्षकी । साधुने पूछा कि तुम्हारे पतिकी उम्र कितनी है ? वह बोली—महाराज मेरे पतिकी उम्र ४ महीनेकी है । और ससुर की उम्र कितनी है ? ससुर अभी पैदा ही नहीं हुआ है । अच्छा तुम ताजा खाना खाती हो कि बासी ? महाराज, हम बासी खाना खाते हैं । इतनी बातके बाद महाराज चल दिये । अब तो सेठ बहूसे लड़ने लगे कि तूने हमारे कुलको खो दिया । लोग क्या कहते होंगे, तूने कितना ऊटपटांग उत्तर दिया । बहूने कहा कि मैंने ठीक उत्तर दिया है । चलो महाराजके

पास, वे बतलावेंगे। सबको समाधान मिल जायेगा। वे साधु महाराज छोटी उम्रके थे। बहू ने पूछा कि इस छोटी उम्रमें आप कैसे आ गये ? तो साधुने कहा कि बेटी समयकी खबर मुझे न थी। आज है कल पता नहीं क्या हो जाये, कितने दिन जीना है, इसलिए सवेरे आ गये अर्थात् शीघ्र साधुपनेमें आ गये। यह प्रथम प्रश्नका उत्तर हुआ। अब ४ वर्षकी उम्रका क्या मतलब ? तो उसने स्वयं कहा कि ४ वर्ष हुए तबसे मैं धर्मसाधनामें आयी। जबसे मुझे धर्मकी परख हुई तभीसे मैंने अपना जीवन समझा। पहिलेके जीवनको यदि जीवन माना जाये तो हमें अनन्तकालके बूढ़े कहना चाहिए। पतिके चार महीनेका अर्थ क्या है कि चार महीनेसे उनके श्रद्धा हुई। ससुरने कहा कि हम तो बूढ़े खड़े हैं और मुझे यह बतलाती है कि ससुर पैदा ही नहीं हुआ। अब भी ससुर साहब लड़ रहे हैं। उन्हें और कोई भी कह देवे कि धर्म-दृष्टिसे उन्हें पैदा हुआ कैसे कहा जावे, क्योंकि इनके अभी भी श्रद्धा नहीं हुई ? बासी खाने का मतलब क्या था कि पूर्वजन्ममें जो पुण्य किया था उसकी वजहसे आज भोग रहे हैं, पर ताजा कोई पुण्य नहीं कर रहे हैं। पूर्वजन्मका जो बनाया सामान है उसको खा रहे हैं।

इसमें प्रयोजनकी बात इतनी जाननेकी है कि जबसे निज आत्मतत्त्वकी परख हुई है तबसे समझो कि अपना जीवन है। इससे पहिलेका जीवन क्या जीवन है ? खाया, पिया, विषय कषाय किया, अंधेर ही अंधेर रहा। यह कोई जीवन है क्या ? सर्व प्रयत्न करके आचार्य महाराज बतलाते है कि मर करके भी जिसे कहते हैं कि इस [illegible] करना ही है जैसा चाहें मरें पचें, तन भी न्यौछावर करें, मन भी न्यौछावर करें, धन इत्यादि सब कुछ, त्यागें, और सब कुछ न्यौछावर करनेके फलमें यदि मिल गया आत्मतत्त्व तो यह नरजन्म सफल है। उसकी प्राप्ति एक ज्ञानसे ही होती है और उस ज्ञानमें जब तक पात्रता न हो तब तक तन, मन, धन, वचनका उछाह नहीं हो सकता।

बाह्य सामग्रीसे ही जो अपना रूप समझे, उससे ही अपना बड़प्पन समझे, उसमें ही जो रत रहे ऐसे पुरुषमें ज्ञानवृत्तिमें रहनेकी पात्रता नहीं होती। सो इस कारण परको पर जानकर परसे दृष्टि हटायें और निजको सर्वस्व जानकर, अपना हित जानकर निजमें दृष्टि लगावें। लोकव्यवहारमें भी कहते हैं कि जो पर है, पराया है सो पराया ही है और जो निज है सो निज है। किसीने अपने घर दामादको रख लिया, किसीको गोद ले लिया और भाई प्रतिकूल चले तो चले, इच्छा है। भाई परसे सुखकी आशा कहाँ है ? ऐसा व्यवहारमें लौकिकजन भी बोलते है, और ये सब कुछ भी पर हैं। यहाँ तक कि अपने ही स्वरूपमें उठी हुई तरंगें, परिणति, विचार, विकल्प, रागद्वेष परिणति भी पर हैं। इससे सुखकी आशा कहाँ है ? जो निज है उसकी दृष्टि हो, वहींसे सुखकी आशा की जा सकती है। उल्टे न चलो, काम

बन गया, काम तो बना हुआ ही है। उल्टे चलकर विकल्प विकारोंमें थोड़ा उल्टा चल गये तो सब अपने आप हो गया। सो स्वको स्व जानो, परको पर जानो। पर से च्युत होकर अपनेमें लगो तो वहाँ बन्धन नहीं है। इस अपने ज्ञानसे भीतरमें इस प्रकारकी वृत्ति हो जाती है सो इस ही अपने पुरुषार्थमें रहकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

स्वस्थं स्वं पश्यतो मे न रागद्वेषौ कृतोऽसुखम्।
शंका शल्य कुतस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२४॥

जो अपनेको अपनेमें ठहरा हुआ देखता है उसके रागद्वेष नहीं होता। जब रागद्वेष नहीं है तो उसको दुःख कैसे हो सकता है? दृष्टि जब बाहरमें होती है कि यह मेरा है, यह उसका है, यह हित है, यह बुरा है आदि बाहरमें दृष्टि होती है तो उससे ही रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। जीवका दूसरा कोई साथी नहीं है। सब जीव न्यारे-न्यारे हैं, अपने आपमें हैं, किसीका कोई साथी नहीं है। यह जीव खुद ही है, खुद ही कल्पनाएँ करता है, खुद ही विकल्प करता है, खुद ही दुःखी होता है ओर खुद ही सुखी होता है। जीवका असली स्वरूप क्या है? चेतना है, चेतन है। ये जितनी धार्मिक विद्यायें हैं, बच्चे लोग पढ़ते हैं इसलिए पढ़ायी जाती हैं कि वे अपनी आत्माकी बातोंको जान जायें। बच्चे लोग उन धार्मिक विद्याओंको पढ़कर यह समझ जायें कि मेरी आत्मा सबसे निराली है इसका यहाँ कुछ नहीं है। मोह करना व्यर्थ है। इतनी बात समझनेके लिए ये धार्मिक विद्यायें हैं। ये सब अपने आप बाहरकी दृष्टि भुलाकर ही अपने आपको सुखी बनाते हैं और समझमें आ जाये कि यह तो यही है, पूरा है, इतना ही है, इससे आगे मेरा कुछ नहीं है। यह बात दृष्टिमें आ जाये तो न शंका रहे, न शल्य रहे, न आपत्तियाँ रहें, न किसी प्रकारकी विपत्ति रहे।

भैया! यह जीव अपने आपमें ठहरता क्यों नहीं? तो इसने उल्टा ज्ञान लगा लिया है कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, भीतरमें ऐसा मान लिया इसलिए उसको क्लेश है और स्वस्थ दृष्टि रहे तो इस जीवको न शंका है, न शल्य है। अभी जितने घरके लोग हैं वे क्या मरेंगे नहीं? मरेंगे सभी। कोई पहले मरेगा और कोई बादमें। अच्छा कोई मरता है तो उसके मरनेके बादमें लोग रंज करते हैं तो यह उनका रंज करना व्यर्थ होता है। क्योंकि कोई सदा नहीं रहेगा। कोई छोटी अवस्थामें मर गया तो कोई बड़ी अवस्थामें मर गया। वास्तवमें उसके मरनेका दुःख नहीं है। दुःख तो जो उससे मोह लगा है, उसका है। दुःखोंकी खान तो एक मोह है, मोह होनेसे क्लेश होते हैं। तो असली स्वस्थ कौन है?

कहते हैं कि असली स्वस्थ वह है जिसकी अपने आपकी आत्माकी ओर दृष्टि है। कोई दुबला पतला हो, मगर उसकी दृष्टि निर्मल हो तो वह अपने आपमें रह सकता है, वही स्वस्थ है और कोई हट्टा-कट्टा हो, मोटा हो और परमें दृष्टि हो तो वह स्वस्थ नहीं है। जो अपने आपके स्वरूपको देखता है वह रागद्वेष नहीं करता है।

भैया ! जीवको एक ही तो दुःख है, दूसरा दुःख नहीं। वह दुःख है मोहका। कोई किसी प्रकारका दुःख लगाये है, कोई किसी प्रकारका दुःख लगाये है। यह जीव किसी मुद्रा को देखता जाये, परमें आत्मबुद्धि लगाये, यही काम कर रहा है। इससे ही दुःख है। अब सबकी अलग-अलग बातें हैं। किसीका चित्त किसीमें है, किसीका चित्त किसीमें है, पर ये काम एक ही हैं। मोहमें, अज्ञानमें काम एक ही तरहका है मगर विषय नाना हैं। किसी को लड़कीकी शादी करनी है, किसीको दुकान करना, किसीको संस्था चलाना, इससे ही दुःख है। यह सभीके स्वयंका मोह है। अभी देखो जितने भी लोग यहाँ बैठे हैं सभी दुःखी नजर आ रहे हैं। दूसरोंकी गल्तीको जल्दी जान जाते हैं कि यह व्यर्थकी गल्ती कर रहा है। इस विषयकी बात एक तरहकी है, मगर देखो किसीका किसमें चित्त है, किसीकी किसमें प्रीति है। सबकी अगर भीतरकी फोटो ली जा सकती तो यह मालूम हो जाता कि किसका चित्त कहाँ कैसा लगा है ? पर किसीका कहीं चित्त लगा है, किसीका कहीं। कोई एक बातका भी गम नहीं खाता। अगर कोई एक आध ही गम खा जाता हो सो भी नहीं है। कोई कहीं लगा है, कोई कहीं लगा है, कोई किसी चेतनमें लगा, कोई किसी चेतनमें लगा, कोई इन नाक, कान, थूक वालोंमें लगा है। बतलाओ इनमें क्या कुछ सार भी है ? कुछ भी तो इनमें सार नहीं है।

भैया ! किसीका शरीर सुन्दर, सुडौल, चिकना, चपटा और गोरा है और किसीका काला है तो केवल रंगका ही भेद है। केवल दूरसे देखता रहे, ऐसा शरीर है। पर उसके अन्दर सब असार ही असार है। वहाँ कोई भी चीज सारकी नहीं है।

भैया ! जो कृष्णवर्णके होते हैं, सांवले होते हैं, उनका शरीर कुछ इस प्रकारके गठन का होता है कि उससे बदबू कम आती है और जो सफेद हैं, गोरे हैं, बाहरसे देखनेमें अच्छे लगते हैं, उन काले वालोंके मुकाबलेमें उनसे दुर्गन्ध ज्यादा आ सकती है। उस गोरे या काले कैसे ही शरीरमें घृणा ही घृणा भरी है। इसके अतिरिक्त और भेद हो तो बतलाओ। एक यदि हिम्मत करता है और जब यह मालूम पड़ जाये कि यह असारका पिंड है, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं तो लड़का लड़की इत्यादिका मोह उसके अन्दर समाप्त हो जाता है। इस मोहके समाप्त होनेमें फिर दुःख नहीं है।

भगवान्‌की भक्ति करते हैं, अच्छे धर्म और कुलमें पैदा हुए तो भगवान्‌की बात माननी चाहिये। भगवानकी पूजा भी कर रहे हैं और मोह भी कर रहे हैं। ऊपरसे तो भगवान की भक्ति करके खुश रहे और अन्दरसे मोह रहे, ममत्व रहे तो बतलाओ वह भगवानकी भक्ति क्या हुई ? भगवानका प्रिय तो वह है जो यत्न करे कि मैं तो अपने एकाकी स्वरूप को देखता हूं, केवल एक निज आत्मतत्त्वको देखता हूँ। ऐसी जो मनमें बात रखे, श्रद्धा रखे सो ही भगवानका भक्त है, प्रिय है। संसारमें देखते आये हो कितने ही मित्र मिले, कितने ही परिवार मिले, पर जो अन्त तक साथ रहे, सो बतलाओ, कोई भी तो अन्त तक साथ नहीं रहेगा। जो भी देखनेमें आ रहा है कि परिवारके लोगोंमें चिपटे हो तो बतलाओ। परिवारके लोग कौन अन्ततक तुम्हारा साथ देंगे ? फिर बतलाओ भैया ! ममत्व करना व्यर्थकी चीज है कि नहीं ? हम आप धर्म भी करते हैं। थोड़ा धर्म किया, फिर मोह किया फिर धर्म किया, फिर मोह किया। अरे ! मोह करना है तो मोह ही कर लो और धर्म करना है तो धर्म ही कर लो। मोह करनेसे जब ऊब जाओगे, तब तो फिर अच्छी तरहसे धर्म करोगे हो। भीतरसे इस ममत्वको छोड़ दे। तभी इस जीवका कल्याण है। नहीं तो यह जीव ममत्व करता जाता है और भीतरसे दुःखी होता जाता है।

भैया ! ममत्वका दुःख बहुत बड़ा दुःख है। भीतरसे दुःख है, भीतरमें चोट लगी है, इस मोह ममतासे ही तो। इस मोहको छोड़ दो। इस ममताको जिसने जीत लिया है, उस को ही सो जिनेन्द्र कहते हैं। जो अपने आपको देखते हैं, वे अपने आपमें ही हैं। अपनेसे बाहर नहीं है। मैं हूँ, अपने आपमें हूँ, यही विचार करो, यही कल्पनाएँ करो, यही उद्यम करो।

भैया ! करनेसे यह जीव कुछ नहीं कर सकता है, ऐसी भावना रखो, सो ही जीव आनन्द को पा सकता है और मुक्तिके मार्गको पा सकता है। मोहको छोड़ो। जगत्‌में अपना कुछ न मानो। बस एक इस ही उपायसे चलो कि कहीं मेरा कुछ नहीं है, मेरी तो एक आत्मा है, एक अकेला मैं ही हूँ। इस संसारमें मेरा कहीं कुछ नही है, कोई मेरा हो ही नहीं सकता है। हम अपनी सत्तामें हैं, किसीका कोई कुछ नहीं है, फिर भी कोई किसीको प्रशंसित करे तो ऊँट गधे जैसी बात है।

जैसे कि मानो ऊँटका विवाह हो रहा था। उसको शादीमें गाने बजानेके लिए गधोंको बुलाया गया। गधे बहुत गीत गाते हैं। उनकी दोहरी आवाज होती है। वे सांस भीतर करें तो बोलते, बाहर करें तो बोलते। सो गाना गानेको गधा व गधीको बुलाया। सो वे गधा गधी ऊँटको गीतमें क्या कहते कि हे ऊँट ! तेरा रूप धन्य है, तू बहुत सुन्दर है।

ऊँट की तो गर्दन टेढ़ी, टाँगे टेढ़ी, मुँह टेढ़ा, कुछ भी सीधा नहीं। पर गाना गाने वाले कहते हैं कि तेरा कितना अच्छा रूप है। तो ऊँट कहता है धन्य है तेरा स्वर, धन्य है तेरा राग। गधा और गधी ऊँटकी प्रशंसा करते और ऊँट गधा और गधीकी प्रशंसा करता है। इसी तरहसे ये जगत्के जीव एक दूसरेकी प्रशंसा कर दिया करते हैं। उसमें सारकी चीज कुछ नहीं है। जब अपने आपसे अपने आपके स्वरूपकी बात जंचे, संतोष पावे, ज्ञान पावे तो वह सारकी बात है। सो जब तक हम आप अपने स्वास्थ्यको न देख सकेंगे तब तक द्वेषोंको न मिटा सकेंगे, दुःख न मिटेंगे, शंका, शल्य आदि भी न मिटेंगे। इसलिए अपने आपमें रहकर बाहरमें यह देखो कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। ऐसा निश्चय करो तो अपने आपमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकते हो।

भ्रान्त्या क्षुब्धं मनस्तस्माद् व्यग्रता नान्यथा भवेत्।
स्वं पश्यतो न मे हानिः स्याँ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२५॥

गड़बड़ कितनी है कि मन क्षुब्ध है, मन क्षोभमें है। स्थिर नहीं है और जब मन क्षुब्ध है तो इसमें व्यग्रता है। हम आपका मन कैसी-कैसी बातें सोचता है? सदा व्यर्थ की बातें सोचता है। मनमें क्षोभ रहता है, दुःख सभीके मनमें है। ऊपरसे देखनेमें सभी अच्छे लग रहे हैं, चेहरा कुछ ठीक है, पर सभीके क्षोभ है। सभीके अन्दरसे चक्कीसी चल रही है, सभी दुःखी हैं। जिस लड़केसे मोह है उसके यदि नाक भी बह गई हो, कीचड़ भी लगा है, गंदा है, यदि कहें उससे कि मोह त्याग दो, हम तुम्हें दूसरा अच्छा लड़का देंगे तो भी मोह न छोड़ेंगे। ज्ञानके बिना ही सारा संसार दुःखी है। ज्ञानका उपयोग हो तो सुख मिल सकता है। अभी यहाँ बहुत धर्मका प्रचार है। सैंकड़ों आदमी पूजा करते हैं, किन्तु अन्दरसे शुद्धि नहीं है तो पूजा ही करनेसे क्या है? लगन हो तो खूंटा तोड़कर भागें। तो अब बतलावो कि जो पूजा करते हैं सो घरके बाल-बच्चे खुश रहें इसलिए करते हैं कि अपने भलेके लिए करते हैं? कहाँ धर्म है? धर्म तो बैठे-बैठे भी मिलता जाता है। चलने फिरनेसे कसरत करने से धर्म नहीं मिलता है।

सबका मन क्षोभमें है। जब सुख मानते हैं तब भी क्षोभमें है और जब दुःख है तब भी क्षोभमें है। मार्ग सब अंधेरेमें हो गया। अपने आपका पता नहीं, दुनियाका पता नहीं। सुखमें तो और ज्यादा क्षोभ बढ़ता है, दुःखमें क्षोभ मिलता है। दुःखमें प्रभुकी याद तो रहती है। सुखमें तो हम आप बिल्कुल विवश हो जाते है।

एक नाई बादशाहकी हजामत बनाता था। सो नाईसे बादशाह पूछता है कि बतलावो

तुम्हारे ग्राममें कौन सुखी है और कौन दुःखी है ? तो नाई बोला—महाराज हमारे ग्राम में सब सुखी हैं, घी दूधकी नदियाँ बहती हैं। बादशाहने पूछा––तू सुखी है ? वह बोला हाँ। तेरे कितनी भैंस हैं ? १० भैंस हैं। बादशाहने सोचा––यह नाई सुखी है, मौजमें है, इसलिये सबको सुखी देखता है। राजाने अलगमें कोतवालसे कहा—इस नाईके ऊपर कोई कसूर लगाकर सब भैंस खुलवा लो। सिपाहियोंको कसूर लगानेमें क्या देर ? झट कसूर लगाकर उसकी भैंस खुलवा लीं। दूसरी बार नाई आया तो बादशाहने पूछा––खवास, बतलावो प्रजामें सुख है कि दुःख ? नाई बोला––महाराज, प्रजामें बड़े संकट छाये हुये हैं, घी दूधके तो दर्शन ही नहीं होते। सो अपना चित्त मौजमें है तो दूसरे भी मौजमें दिखते हैं और यदि अपना चित्त दुःखी है तो दूसरे जगत्के जीव भी दुःखी दिखते हैं। सो चाहे मौज हो तो क्षोभ है, घर बड़ा है, खूब बच्चे हैं, बड़ी मौज है, धन भी खूब आ रहा है, दुकान भी अच्छी चलती है, उसमें भी बतलावो सुखी कौन है ? यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ भागते फिरते हैं। अपनेको तो केवल आध सेर आटेकी जरूरत है, मगर हाय हायमें कितना पड़ा हुआ है ? यही क्षोभ है, यही जीव पर सबसे बड़ा भारी संकट है। सो यह क्षोभ क्यों हो गया ? भ्रम से।

अहो, देखो भैया ! भ्रम ही भ्रमसे यह जीव दुःखी है। दुःख तो है ही नहीं। किसी क्षण ऐसा समझमें आ जावे कि कहीं मेरा कुछ नहीं है, तो देखो दुःख मिटता है कि नहीं, पर ऐसी समझ जीव अपनेमें नहीं लाता है। इसीसे यह जीव दुःखी है और दुःखके ही काम कर रहा है। जैसे किसीको मिर्च खानेकी आदत है, सी-सी करता जाता है, आँसू टपकते जाते हैं, मगर कहता है कि और लावो। इसी तरह इस जीवको दुःखी रहनेकी आदत है। दुःख उठाता जाता है और दुःखके ही कार्य करता जाता है। यदि दुःख मिटाना है तो मोह ममता न करो। यदि कष्टोंमें ही रहना है तो मोह करते जावो, दुःखोंके उपाय और रखते जावो। यह जीव भ्रांतिसे ही दुःखी होता है। अगर भ्रान्ति मिटे तो समझिये कि दुःख खत्म हो गये हैं। अच्छा बतलावो कि परिवारके लोगोंको यदि तुम छोड़ दो तो उनका काम चलेगा कि नहीं ? चलेगा। मान लो कि तुम्हारी मृत्यु ही हो जाये, तो घरके बच्चोंका काम चलेगा कि नहीं ? चलेगा। तो यह जो हम आप दुःखी हैं सो भ्रमसे ही दुःखी हैं।

भैया ! ये जो चिन्ताएँ उठती हैं उनके मिटानेका उपाय क्या है कि उन चिन्तावोंके साधनोंको छोड़ दो, उन मोहियोंको छोड़ दो। उन मोहियोंमें ही फँसे रहनेमें बिगाड़ है, स्वस्थ नहीं रहता है। यदि अपना दिमाग बिगड़ा तो व्यग्रता बढ़ी। दिमाग ठिकाने कैसे हो सकता

है ? उन घरके लोगोंसे दिमाग ठिकाने होगा कि देव शास्त्र और गुरुसे दिमाग ठिकाने होगा ? उन मोहियोंमें रहनेसे तो दिमाग ठिकाने नहीं हो सकता है। कोई चिन्ता हो, कोई विपत्ति सामने हो तो उससे दिमाग सही नहीं हो सकता है। यदि बुद्धि बाहर ही बाहर रही तो बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी बादमें फिर देव, शास्त्र और गुरुकी खबर होती है। जब ठुक-पिटकर सर्वत्र हैरान हो जाते हैं तब उनको छोड़कर भगवान्‌की शरण जाते हैं। तो अब उस अवस्थामें भगवान्‌की शरण गये हैं जब कि बुद्धि काम नहीं करती है। सो न यहाँ के रहे, न वहाँके रहे। परिवारके तो यों भी नहीं रह सकते। जो परिवारमें रहते भी हैं उनके व्यवहार में कुछ न कुछ बड़ा विरोध हो जाता है। परिवारमें पड़े रहनेसे भला कुछ नहीं है। उससे इस जीवका पूरा नहीं पड़ेगा। कोई मर गया तो उसमें चिन्ता बनी हैं, यह मोह है, अज्ञान है। भवितव्य खराब है, होनहार ठीक नहीं है तो इसी वजह से चित्त मोहमें फँसा हुआ है। भगवान्‌में कितना चित्त है और परिवारमें कितना चित्त है ? जरा सोचो तो सही।

भगवान्‌में रमनेके इच्छुको ! अपनेको जरा तोलो तो सही। जिसमें भगवान्‌को भक्ति है, भगवान्‌का ध्यान करता है वह दिखाया नहीं करता है। यदि भ्रांति हटे तो जीवको मार्ग मिलेगा। कहीं दादा गुजर गया सो आँसू पोंछो, कहीं माँ गुजर गई सो आँसू पोंछो। कोई सदा जिन्दा रहेगा क्या ? कोई भी तो हमेशा जिन्दा नहीं रहेगा। नियम है कि सभी मरेंगे। एक दो सालके बच्चोंको देख लो, माँको देख लो, बापको देख लो, जिन्दी सबकी गुजरी जा रही है, अच्छा समय यों ही गुजरा जा रहा है पता ही नहीं पड़ता है। सभी लोग घरके खुश हैं, स्वस्थ हैं, व्यग्रता नहीं है, खाने-पीनेका अच्छा संयोग है, इस तरहके दिन तो यों ही बीते जा रहे हैं, देर नहीं लगती है, पर दुःखके दिन बड़ी मुश्किलसे निकलते हैं। संकट ही संकटमें अपना उपयोग बना रहता है। सो इस जीवनमें दुःख है पहाड़के बराबर और सुख है राई के बराबर। सो वह राई बराबर भी सुख नहीं है, केवल दुःखमें तनिक सो कमी पड़ गई है। उसीको ही सुख मान लिया।

भैया ! खूब देख लो। कोई वास्तवमें सुखी है ? कोई सुखी नहीं है। प्यासे हिरणकी तरह सबकी दशा है। दूरसे ही रेतको पानी समझकर पास पहुंचता है, वहाँ पहुँचकर देखता है कि यह तो रेत है। इसी तरह धन-वैभव भी अच्छे लगते हैं। देखो २–४ कार हैं, कई लोग नौकर हैं, सब बढ़िया ही बढ़िया लगते हैं और जिनको वे बंगला मिलते हैं जिनके कारें चलती हैं, उनके दिलके भीतर कितना दुःख है, कितनी व्यग्रता है, कितनी बेचैनी है ? जितना ही धन-वैभव बढ़ता जाये उतना ही दुःख हो जाये। अपनी थोड़ी कमाई की और

उतनेमें ही गुजारा करें, चैनकी बंशी बजायें, खुश रहे। मगर दुनियामें जो अपनी महत्ता दिखानेकी मंशा बनी हुई है तो परेशान उसीने किया। सबसे महान् कैसे बन जायें यह मंशा इस जीवके समायी हुई है। यही सबसे बड़ा कष्ट इस जीवको बन गया है। यह आकांक्षा बनी रहने से ही निरन्तर क्लेश हैं। परपदार्थोंको निजी माननेसे मन क्षुब्ध हो गया तब क्या करना चाहिये कि जिसमें हानि नहीं ही ? भाई जो अपना सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी दृष्टि हो सो ऐसा ही हम करें। हम अपने आपमें सबको देखें, जो बाहरकी ओर झुकनेकी दृष्टि थी यही तो परेशान करती है। तो उस दृष्टिको त्यागकर रहो तो अपने आप दुःख हट जायें।

सुखी होनेका तो उपाय अपने पास ही है। दूसरेके पास अपने सुखी होनेका उपाय बाहरी पदार्थोंमें नहीं मिलेगा। अपने आपको अपने आपमें ही देखो तो वह स्वरूप सुखकी मूर्ति है। अपने आपको ही देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

तत्किं सन्मयि मुञ्चानि यत्न तत्किं नयानि वै।
जानन्नेव हि तिष्ठानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२६॥

जो मुझमें है वह मैं छोड़ कैसे सकता, जो मुझमें नहीं है उसे मैं ला कहाँसे सकता ? मैं अपने गुणसे तन्मय हूं और जगत्के सभी पदार्थ अपने अपने गुणोंसे तन्मय हैं। यदि ऐसा न हो तो आज दुनियामें कुछ नहीं रहता, शून्य रहता। हम आपमें तन्मय हो जाते और आप किसीमें तन्मय हो जाते। हम आपमें तन्मय हों तो हम न रहें और आप किसीमें तन्मय हों तो आप न रहें। कोई किसीमें तन्मय हो जायेगा तो कुछ न रहेगा। ये जगत्के पदार्थ अब तक हैं इससे स्वयं यह जानकारी हो कि कोई किसीमें तन्मय नहीं है। अब जो मुझमें है उसे मैं छोड़ कैसे सकता ? आनन्द, शक्ति इत्यादि गुण हैं, वे गुण किसी भी प्रकार हमसे अलग नहीं हो सकते हैं। कितना भी विकार आ जाये, निगोद जैसी अवस्था हो जाये तो भी मेरा स्वरूप मेरेसे बाहर कहीं जा नहीं सकता। और जो मुझमें नहीं है वह मुझमें आ नहीं सकता। कल्पनायें कैसी ही कर ली जायें। शरीर है, पर शरीर आ गया क्या कल्पनाएँ करने से ? मेरी आत्माके स्वरूपमें क्या शरीर समा गया ? अगर समा जाये तो आत्मा न रहे, वह शरीर बन जाये। मुझमें कर्म नहीं, मुझमें शरीर नहीं, मुझमें कोई परद्रव्य नहीं, और रागद्वेष भी मुझमें नहीं, मुझके मायने ध्रुव ज्ञायक स्वभाव जो अध्रुव है वह मैं नहीं।

भैया ! यद्यपि रागादि भाव मेरे परिणमन हैं तो भी अध्रुव हैं वह मैं नहीं। मैं वह नहीं हूं जो मिट जाता है। मैं वह हूँ, जो कभी मिटता नहीं। तो मुझमें क्या है ? सहज ज्ञान, सहजचारित्र, सहजआनन्द, सहनशक्ति ये मुझमें हैं। तो ये मेरेसे अलग नहीं हो सकते और जो मुझमें नहीं हैं वे मेरेमें नहीं आ सकते। परिवार मुझमें नहीं, घरमें मुझमें नहीं,

दुकान मुझमें नहीं, बाहरकी कोई चीजें मुझमें नहीं। तो ये मुझमें आ नहीं सकती। रही कल्पनाओंकी बात। कल्पनाओंसे यह जीव मानता है कि दूकान मेरी है, घर मेरा है, परिवार मित्रजन मेरे हैं, ऐसा मानता है तो माननेसे इसके हो नहीं जायेंगे। विपरीत माननेसे केवल बरबादी ही है, मिलता कुछ नहीं है। मानते जावो, घर मेरा है, कुटुम्ब मेरा है, पर मेरे माननेसे ये घर और कुटुम्ब मेरी कुछ मदद कर देंगे क्या? मरना खुद ही मुझको पड़ेगा कि ये मेरे साथ मरकर जावेंगे क्या? नहीं।

भैया! दो स्वाध्यायप्रेमी थे। वे स्वाध्याय करते थे। दोनोंने आपसमें एक सलाह की कि जो कोई पहिले मर जावे यदि वह मरकर देव हो जावे तो वह दूसरेको फिर ज्ञान देनेके लिए आवे। यह उनमें तय हो गया। उनमें से एक पुरुष मर गया और मरकर देव हो गया। अब वह देव उस दूसरेके यहां पहुँचा, वह स्वाध्याय कर रहा था। वह देव बोला कि इस धन परिवारसे मोह छोड़ दो, इसमें कुछ सार नहीं है। हम मर करके देव बन गये है, तुमको समझानेके लिये आये हैं। वह बोला कि कैसे ये सार नहीं है? मेरी स्त्री बहुत हुक्म मानती है, मेरे पुत्र बहुत आज्ञाकारी हैं। उनमें सब सार ही सार तो नजर आता है। देव बोला कि तुमको कल हम १२ बजे दिनमें समझाने आवेंगे। १० बजेसे तुम बीमार होकर पड़ जाना। पेट दर्दका बड़ा भारी बहाना कर लेना। अब दूसरे दिन वह बीमार बन गया। पेट दर्दका बड़े जोरका बहाना किया। साढ़े ग्यारह बजेके लगभग देव वैद्य बनकर उसके मकानके सामने फिरने लगा। पुकारता जाता है कि दवा खरीदो, बड़ी ही पेटेन्ट दवा है, व्यर्थ नहीं जायेगी। हर एक प्रकारके दर्दमें काम आयेगी।

भैया! यह बात सुनकर घर वालोंने वैद्यको बुलाया। कहा—वैद्यराज, हमारे लड़के को अच्छा कर दीजिए। वैद्य बोला—अच्छा, एक गिलास पानी मंगा दीजिये, पानी भी आ गया। उस गिलासके पानीमें थोड़ीसी राख मिला दी और झूठमूठका मंत्र पढ़कर उसकी मां को दिया, कहा—मां इसे पी लो। मां ने कहा कि मैं क्यों पीऊँ? बीमार तो वह है। वैद्य बोला कि यह दवा और किस्मकी है, मंत्रसिद्ध दवा है, जो पियेगा वह तो मर जायेगा और रोगी ठीक हो जायेगा। मां सोचती है कि मेरे ५ बच्चे हैं। एक मर जायेगा तो चारका सुख भोगूंगी और मैं मर गयी तो बच्चोंका सुख कहांसे भोगूंगी! मां बोली—मैं तो नहीं पीऊँगी। पिताने भी यही कहा। स्त्रीसे दवा पीनेको कहा तो उसने भी सोचा कि मेरे तीन पुत्र हैं, यदि मैं मैं मर गयी तो उन पुत्रोंका सुख न देख पाऊँगी। यदि पति मर गया तो बच्चोंका सुख तो देखूँगी। कोई भी दवा पीनेको न तैयार हुआ। वैद्य बोला—क्या मैं पी लूं? तो घर वाले बोले—हाँ महाराज आप दयालु हैं, आप ही पी लें। वैद्यने कहा—अच्छा आप लोग

जाइए, हम दवा पी लेंगे। वे लोग हट गए, अब वैद्यने उसके कानमें कह दिया कि तुम बहुत कहते थे कि घरके लोग मुझसे बड़ा प्यार करते हैं, वे मेरे कहनेके अनुसार चलते है, अब देख लिया ना ? इतना कहते ही वह चंगा हो गया, बस चल दिया।

भैया ! वे द्रव्य ही जब न्यारे-न्यारे हैं तो कसूर स्त्रीका या पुत्रका या किसी खुद-गर्ज का क्या है ? द्रव्यका स्वरूप ही है कि वह अपनेमें परिणमता है, दूसरेमें नहीं परिण-मता। कोई भी मनुष्य कैसे भी परिणमें वह घृणाके काबिल नहीं है। वह द्रव्य है और इस प्रकारकी योग्यता वाला है सो वह अपनी योग्यतासे अपने आपमें परिणम रहा है। उसका कसूर क्या है ? चीजें हैं तो परिणमती हैं। कौन मनुष्य घृणाके काबिल है ? घृणाके काबिल है तो उसका पाप है। उनका परिणमन घृणाके काबिल पदार्थ नहीं। वे तो जीव है, इस तरहसे परिणमते हैं, कर्मोंका उदय है। हो रहा है, उसकी परिणति घृणाके योग्य है, पदार्थ घृणाके काबिल नहीं है। कोई खुदगर्ज है, हर बातमें अपना गर्ज पूरी करता है। खानेका समय हो तो शृङ्गारका समय हो तो अपना काम पहिले देखता है, दूसरेका काम नहीं देखता है। तो ऐसा खुदगर्ज भी एक जीव है, उसके इस प्रकारके कषाय हैं, इस कषायरूप परिणमते है, जाननहार हैं। जो उस जातिका विभाव है वह घृणाके योग्य है। यहाँ तो पदार्थ है और इस तरह परिणमता है। चाहे कोई बहुत ही खुदगर्ज हो और भारी अपनी कषायकी पुष्टि करता हो, तिसपर भी वहाँ लाभ क्या मिला ? ईर्ष्या क्यों करते हैं ? लोग दूसरोंसे इस कारण ईर्ष्या करते हैं कि देखो यह धनी बना जा रहा है, बढ़ा जा रहा है, धनी हुआ जा रहा है। अरे होने दो। उससे मुझे कुछ लाभ अलाभ है क्या ? फिर ईर्ष्या क्यों ? ईर्ष्या होती है तब, जब किसीकी उन्नति देखते है। अब बतलावो धन अगर बढ़ गया तो उसमें उन्नति क्या है ? और फँस गये, कषाय हो गयी तो उसमें सन्तोष क्या है ? ज्यादा कषाय हो गयी तो असंतोष हो गया, चैन नहीं पड़ती है।

अब तो यह कल्पना बने कि इस समागमका कुछ परित्याग करके धर्मसाधनामें ही लगा करें और जरा अवसर चूके, समागम बढ़े, धन बढ़े, परिवार बढ़े तो वे सब बातें खत्म हो जाती है, हितकी स्थिति ही खत्म तो जाती है। तो बाहरी चीजोंसे किसीकी उन्नति नहीं है, किसीको सुख नहीं है। वह कहीं वृद्धि पर नहीं है तब ईर्ष्या क्यों की जाती है ? पदार्थ का स्वरूप अपने आपमें पूर्ण गुप्त है, सुरक्षित है, वहाँ किसी पदार्थको किसी पदार्थसे कुछ मिलता-जुलता नहीं है। जो पदार्थ मुझमें है वह मैं छोड़ कैसे सकता हूँ, जो मुझमें नहीं है वह मैं ला कैसे सकता हूं ? अब इस शरीरसे जुदा अन्दरमें अंतःप्रकाशमान केवल ज्योतिर्मय आत्मस्वरूपको देखकर सोचो जो इसमें नहीं है, इसका सहजस्वरूप नहीं है वह लाया कहाँसे

जा सकता है ? तब फिर मैं क्या करूँ ? मैं केवल ज्ञाता रहूं कि यह हो रहा है, पर उसमें स्नेह न करूँ, क्योंकि उसमें मेरा कुछ भला ही नहीं है। परवस्तुके किसी भी प्रकारके परिणमनसे मेरा हित होता ही नहीं है, बल्कि परके परिणमनको देखकर विकल्प बना बैठते हैं जिससे नुक्सान है, फायदा तो कुछ नहीं है। सब नुक्सान ही नुक्सान है। तो जब मेरी ऐसी स्थिति है कि जो मुझमें है, वह कभी छूट नहीं सकता। तब फिर डर क्यों किसी बात का हो कि मैं मर जाऊँगा ? क्या हाल होगा ? मैं कैसे बच सकूँगा ?

अरे ! जो चीज मुझमें है, वह मुझसे अलग हो ही नहीं सकती। यह जो देह है वह इस जगहसे ओर जगह हो जायगी, उसमें मेरा जायगा क्या ? मैं तो पूराका पूरा था, पूराका पूरा हूँ और पूराका पूरा रहूँगा। मुझमेंसे अंशमात्र भी कुछ नहीं निकल सका और जो कुछ मुझमें नहीं है वह मैं लाऊं कहाँसे ? कैसे लाऊं ? हैरान हो जाते हैं। यह धन कैसा है कि कंजूस लोग जब मरते हैं तो सोचते हैं कि हाय ! मुश्किलसे मैंने धन कमाया, खर्च नहीं किया, लाखोंकी माया जोड़ी, क्या इसमेंसे एक नया पैसा भी मेरे साथ नहीं जायगा ? इतना सोच-सोचकर उसके घबड़ाहट हो जाती है कि हाय ? मैंने कितना परिश्रम किया ? किन्तु साथ कुछ नहीं जाता है। अरे ! जो मेरी चीज नहीं, उसको मैं कैसे ले जाऊँ ? यह बुद्धि अगर जीवनमें ही बना ली जाये तो उस बुद्धिसे कुछ न कुछ फायदा तो मिलेगा ही।

भैया ! यदि किसी चीजका वियोग हो जाता है, कोई मर जाता है तो उसके मर जानेपर यह संतोष रखते हैं कि नहीं ? वह तो अलग चीज थी, वह अलग जीव था, मर गया, उसमें मेरा क्या था ? अरे ! ऐसा संतोष उसके जीवित रहते हुए कर लेवे कि जो समागम मिला है, वह भी न्यारा है, ऐसी श्रद्धा यदि अपने जीवनमें बनी हो तो दुःख न हो। जो बात ठोकर लगनेके बाद दिमागमें आती है, यदि वह पहिले ही दिमागमें आ जाये तो ठोकर ही क्यों लगे ?

भैया ! विवश होकर लोग गम खाते हैं। यदि सब साधन होते हुए भी यह जीव गम खा जाये तो इससे भला है। अरे ! मरते समय तो सब छूट जायगा, पर जिन्दा रहते हुए ही कुछ समयके लिए छोड़ दें, तो आत्माका कल्याण ही हो जाय। ऐसी भीतरमें दृढ़ श्रद्धा बनाओ कि मेरा तो मैं ही हूँ, मेरा कोई दूसरा नहीं है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा बनाओ और भीतर में भी यह दृष्टि बने कि मेरा कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र मैं ही हूँ, ऐसा परिणाम बनाए तो भीतरमें एक प्रकारका आनन्द प्राप्त होगा।

भैया ! परद्रव्यके झुकावसे लाख कोशिश कर लो, मगर शान्ति नहीं आ सकती। अच्छा बतलाओ, कितना धन जुड़ जाय तो शान्ति मिल जायगी ? कोई पंचायतमें निर्णय ही

करके बतलाओ ? कितना धन हो तो शान्ति आयगी ? कोई माप है क्या ? १० लाखमें शान्ति है क्या ? १० करोड़में शान्ति है क्या ? अरे, सारे जगत्का भी वैभव आ जाय तो उससे शान्ति नहीं है। प्रोफेसर साबहकी बात कीमती है कि एक ग्रन्थमें लिखा है कि चाहे सूईके छेदसे ऊँट निकल जाय तो निकल जाय, मगर परिग्रहसे शान्ति नहीं मिल सकती है याने एक असम्भव चीज भी सम्भव हो जाये तो भी परपदार्थसे शान्ति नहीं मिलती। जितना असम्भव सूईके छेदसे ऊँटका निकलना है उतना ही असंभव परिग्रहसे शान्ति प्राप्त करना है। तब जब मैं अपनी चीजको छोड़ नहीं सकता, परकी चीजको ग्रहण नहीं कर सकता तो क्यों विकल्प करूँ ? मैं जानता हुआ ठहरा रहूं और अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जीवाजीवपृथग्ज्ञानान्निवृत्तिर्जायते परात्।
ततः स्वास्थ्य ततः शान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२७॥

जीव और अजीवका पृथक् ज्ञान होनेसे लाभ क्या होता है कि परसे निवृत्ति हो जाती है। कुछ तो हितका ध्यान होता है और कुछ व्यावहारिक बातोंका भी ध्यान रहता है। उसकी ऐसी स्थिति है कि जैसे कोई बहुत बड़ी भीड़में रेलके डिब्बेमें घुस जाय और घुस जाने में भी आधा सामान बाहर पड़ा है। अरे ! अभी यह पुटरिया रखना है, अभी वह सामान धरना है, यात्रियोंसे लड़ रहे पर इतना संतोष है कि घुस आये। यही बात ज्ञानमार्गमें हम आप अधूरोंकी है कि कुछ आत्महितका कभी-कभी ख्याल होता है, दृष्टि जगती है, उत्साह जगता है। पर सबसे बड़ा ऊँचा काम यह है कि बाहरी चीजें कहीं भी जायें, मुझे तो एक ज्ञानके काम करना है। ऐसी दृष्टि जगती है तो संतोष होता है। तो इस बातमें तो संतोष है पर जो घरमें है सो घरकी बात सामने है, जो संस्थामें है तो संस्थाकी बात सामने है।

इस जीवपर कितना भारी संकट है ? इसके लिए रेलका सफर करने वाले यात्रीका दृष्टान्त बहुत जमता है कि मान लो यहाँसे शिखरजी जाना है, यदि रेलमें बहुत भीड़ आयी है तो मुश्किलसे जगह मिलती है। चाहे लड़ें, मरें, कुछ भी करें, पर डिब्बेमें घुसनेसे संतोष हो जाता है। हाँ, कुछ ही ऊपरसे व्यग्रता है कि अभी सीट नहीं मिली है। अभी सामान धरनेकी जगह नहीं मिली है। इसी तरह इसके वास्तविक ज्ञान हो गया और जब ज्ञानदृष्टि जगती है तब संतोष होता है। बड़ी उल्झनें है, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है और कुछ भी उल्झनें बनी हैं, वे तो अलगकी चीजें हैं। जब इस शरीरको छोड़कर यहांसे चले जायेंगे तो साराका सारा यहीं छूट जायगा। उसे अभी समझ लो तो छूट जाय, यह कुछ उल्झन नहीं है, पर उसका ज्ञानतत्त्व उसके ज्ञानमें आये इसका बड़ा संतोष है सब कुछ

बिगड़ जाये, छिद जाये, नष्ट हो जाये, परपदार्थ किसी भी स्थितिको प्राप्त हो जायें, परन्तु ये मेरे परिग्रह नहीं हैं, ये मेरी चीजें नहीं हैं, इन्हें छोड़कर जाना ही पड़ेगा।

भैया ! अपने जीवनके कुछ क्षण ऐसे बीतें कि हम उनको स्वेच्छासे छोड़कर कुछ निवृत्तिका स्वाद लें तो उसमें हित है। और यों ही जबरदस्ती छोड़कर गये तो उसमें पछतावा है कि कुछ कर न पाये। जीव और अजीवका भिन्न-भिन्न ज्ञान होनेसे परपदार्थोंसे निवृत्ति होती है। यह भीतरकी चीज, भीतरका ही यह उपयोग भीतरमें ही समाता जाये कि हमें अपना ज्ञान करना है, हित करना है सो अपनी ही आत्मामें यह उपयोग रहे इसमें ही भलाई है। इस तरहकी जीवोंमें जब आत्माकी स्थिति होती है तो वहीं वास्तविक स्वास्थ्य उत्पन्न होता है। स्वास्थ्य हो तब शांति हो सकती है। हित इसीमें है कि हम अपने उपयोग को अपनेमें ही झुकाये रहें, अपने ज्ञानस्वरूपको यह उपयोग स्पर्श करता रहे, ध्यान करता रहे कि मैं ज्ञानमात्र हूं, सबसे न्यारा हूं।

भैया ! सबको कोई खुश नहीं कर सकता है। और सब खुश हो जायें तो उनको खुश करनेसे अपनेको मिलता क्या है ? मान लो बच्चे खुश हो गये, मित्र लोग खुश हो गये तो उनके खुश हो जानेसे यहाँ मिलेगा क्या ? सो बतलावो। अव्वल तो कोई खुश नहीं होता है क्योंकि सबके कषाय लगी है। सबकी कषायकी पूर्ति करनेकी आपमें सामर्थ्य है क्या ? किसीके कषायकी कोई पूर्ति नहीं करता है। कोई कहे कि जेबमें हाथी धर दो। इसकी पूर्ति कोई कर सकता है क्या ? सो कोई अपने कषायोंकी पूर्ति नहीं कर पाता है तो दूसरोंके कषायोंको कौन पूरा कर सकता है ?

एक घोड़े वाला दृष्टांत है कि बाप बेटा कहीं चले जा रहे थे। बाप घोड़ेपर बैठा था और बेटा पैदल चल रहा था। एक गांवसे निकले तो गाँवके लोग बोलेकि बाप तो अच्छा चालाक है, अपन तो बैठा है घोड़ेपर और लड़केको पैदल चला रहा है। अब बाप घोड़ेसे उतर गया और लड़का घोड़ेपर बैठ गया। अब दूसरे गाँवसे वे निकले तो गांवके लोग बोले कि यह लड़का बदमाश है, अपन तो हट्टा-कट्टा बैठा है घोड़ेपर और बापको पैदल चला रहा है। अब वह भी उतर पड़ा। अब दोनोंने सोचा कि अच्छा तो यह है कि दोनों ही घोड़े पर बैठ जायें। दोनों घोड़ेपर बैठ गये। अब जब तीसरे गांवसे निकले तो गांवके लोग बोले कि दोनों ही दो-दो डेढ़-डेढ़ मनके घोड़ेपर बैठे हैं। मालूम होता है कि यह घोड़ा इनका नहीं है। अब वे दोनों ही उतर पड़े। जब आगे गये तो दोनों ही पैदल चलने लगे। घोड़की लगामको दोनोंने पकड़ लिया। एक गांवसे निकले तो गाँवके लोग बोले कि घोड़ेको हाथमें लिए हैं और खुद पैदल चल रहे हैं। अरे पैदल ही चलना था तो साथमें घोड़ा लेनेकी क्या

जरूरत थी ? लो देख लो लोगोंको किसी तरह भी खुश न किया जा सका।

जीवपर यह भी बड़ा संकट है कि वह भलाई भी करता है तो भी उसका अपमान होता है। जिसे कहते हैं कि व्यर्थका विषपान। जिसमें कुछ सार नहीं है और विषपानमें लगे फिर रहे हैं। सो सब चीजें तो छोड़ना ही पड़ेंगी। यदि अपनी जीवित अवस्थामें अपनी इच्छासे उनको छोड़ें तो इससे ही हमारा भगवान् प्रसन्न हो जायेगा और नहीं तो जैसे संसार में सबकी स्थिति चल रही है वैसा ही अपना हाल होगा। सो भाई पदार्थोंके जाननेका तो यह फल है कि सबको पृथक् समझो और यह अपने मनमें धारणा लावो कि इन परपदार्थोंसे मेरा हित नहीं है। इस भावनाके कारण परपदार्थोंसे निमृत्ति होगी और अपने आपमें अपने को शांति मिलेगी और इस स्वरूपसाधनासे अपने आपमें खुद सुख उत्पन्न होगा। हम सुखी होना चाहें तो हमारे हाथकी बात है, हम सुखी हों जायेंगे।

एक राजा पशुवोंकी बोली जानता था। एक बार वह अपनी पशुशालामें घूम रहा था। वहाँ घोड़ेने बैलोंसे कहा कि बैलों, तुम बड़े बेवकूफ हो, तुम व्यर्थमें गाड़ीमें जुतते हो। जब जोतने वाला आया करे तो तुम अपने पैर पसारकर लेट जाया करो, मरेसे बन जाया करो तो यह संकट टल जायेगा। बोले—ऐसा ही करेंगे। राजाने सुन लिया व जान लिया कि घोड़े बड़े बदमाश हैं, वे बैलोंको बहकाते है। जब बैल जोतने वालोंने देखा कि बैल तो मरेसे पड़े हैं तो पूछा कि अब क्या करें ? राजाने कहा कि आज घोड़ोंको जोत ले जावो। देखो जिसने अक्ल बतायी वही जुता। दूसरे दिन घोड़ोंने बैलोंसे कहा कि यदि अब ऐसा करोगे तो चमड़ी उधेड़ दी जायगी। राजाने यह भी बात सुन ली। इतनी बात सुनकर राजा रानीके महलमें गया। सो राजा जब रानीके पास बैठा था तो वही घोड़े व बैलों वाली बात को सोचकर हँस पड़ा। अब रानीने राजासे कहा कि क्या बात है जो आप हँसे ? राजाने कहा कि मत पूछो। रानीकी जिद्द पर राजा बोला—घोड़ेने बैलसे यों कहा। रानीने कहा कि आपको किसने जानवरोंकी बोली समझना सिखाया ? हमें भी सिखावो, रानीके बहुत कहने पर राजाने कहा कि अच्छी बात, बतायेंगे। अब राजाने सोच लिया कि अब तो मर जायेंगे, क्योंकि जिसने सिखाया था उसने कहा था कि यदि स्त्री जातिको यह मंत्र सिखाओगे तो मर जावोगे। अब इतनी बात सुनकर कि राजा मर जायेगा, सभी जानवर दुःखी हो गये। पर मुर्गा मुर्गी अब भी खेल रहे थे। कुत्तेने कहा कि ऐ मुर्गियों, तुम बड़ी बदमाश हो, राजा मरने जा रहा है, हम तो इस बात पर हँस रहे हैं कि राजा अपनी बेवकूफीसे मरने जा रहा है। कुत्तेने मुर्गा मुर्गीसे पूछा कि राजाके बचनेका कोई उपाय भी है क्या ? कहा–हां, उपाय है। रानी के राजा दो तमाचे लगाये, इस बात पर कि हम जानवरोंको बोली समझना नहीं सिखा

येंगे, वस राजा बच जायेगा। राजा रानीके पास गये और तमाचे मारे, कहा—देख, तेरे पीछे कौन दिमाग खराब करे, मैं नहीं सिखाऊँगा। तुम अपने ऊपर ज्यादा भार न लादो, ज्यादा चिंतायें न करो तो सारा भार मिट जायेगा। भार तो हम खुद बनाये हुए हैं। जीव और अजीवको पृथक् करनेसे फायदा है। तो सब प्रकारसे निवृत्त हो। परसे निवृत्ति होनेसे मेरा स्वास्थ्य मुझे मिलेगा और स्वास्थ्यके मिलनेसे ही मुझे शान्ति मिलेगी। स्वास्थ्यके बिना शान्ति नहीं मिल सकती है, सो अपने स्वरूप पर विचार करो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

स्वस्थस्य सहजानंदोऽक्षोभतायाः परच्युतः।
एकत्वनियतिः स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखो स्वयम् ॥५–२८॥

जो जीव अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित है उसको क्षोभ नहीं होता। क्षोभ तो उसको हो जो किसी परसे लगाव रखता है। क्षोभ कब होता है कि जैसा हम परके बारेमें चाहें वैसा नहीं होता है तो क्षोभ होता है। क्षोभ दो पद्धतियोंमें नहीं होगा—एक तो यह कि जो हम चाहते हैं परपदार्थोंके बारेमें वैसा ही बन जायें तो क्षोभ नहीं होगा या हम कुछ न चाहें परपदार्थोंके बारेमें तो हमको क्षोभ नहीं होगा। हम परके बारेमें कुछ न चाहें, वह बात तभी बन सकती है जबकि हम अपने उपयोगको, अपने ध्रुव ज्ञायक स्वभावमें ठहरा दें। जब हम अपने आपमें ठहर जाते हैं तब क्षोभ नहीं होता है। अपने आपमें ठहर जाने का अर्थ क्या है कि जब मेरा ज्ञान, केवल ज्ञानके ही स्वरूपको देखे, ज्ञानमें ज्ञानही बना रहे, ज्ञान ज्ञानको ही जाने तो अपनेमें ठहरना कहलाता है। कोई आकाश जैसी जगह नहीं है और ठहरनेवाला कोई पिंडरूप चीज नहीं है कि यह मैं किस जगह ठहरूँ ?

भैया ! स्वास्थ्य वह कहलाता है कि यह ज्ञान, ज्ञानको जाने। हम यह जानने लगे कि ज्ञान क्या चीज है ? ज्ञान कैसा होता है ? यह ज्ञान एक भाव है, प्रतिभासमात्र, जानन मात्र है। इतनीही यह आत्मा तो देखो, कितनी सूक्ष्म अमूर्त है, जिसमें कुछ पिंडपनेका भाव ही नहीं आता है। केवल जाननस्वरूप यह आत्मा है। सो यह ज्ञान, इस ज्ञानके स्वरूपको जानने लगे, अपने ही स्वरूपको जानने लगे तो यही स्वास्थ्यपना कहलाता है। ऐसा स्वास्थ्य जिस ज्ञानीके होता है, उसके क्षोभ नहीं होता है। यह बिल्कुल निश्चयकी बात है। स्वस्थ कोई होकर देख ले। जब यह अनुभवशक्ति आ गई तो वहाँ क्षोभ नहीं है, परम शांति है। जिन बातोंमें राग करते हैं और राग करके हम अपनेको बड़ा समझते हैं, ये सब व्यर्थ है। अपनेको महान् कष्ट देनेके निमित्तभूत उनसे अच्छे तो वे हैं जिनको हम जानते ही नहीं, बहुत दूर हैं, विदेशमें हैं, कहीं हैं, कमसे कम उनके निमित्तसे क्लेश तो नहीं होते।

भैया ! हम दूसरोंकी चाकरी करते, दूसरोंकी सेवा करते हैं और अपने आपकी क्या करते हैं ? दूसरोंके मोहमें अपने आपका भुर्ता बनाते हैं, बरबादी करते हैं। दूसरे जीवोंके रागमें, मौहमें क्या मिलेगा ? कोई चीज आत्माके पास रह सके, ऐसा तो कुछ नहीं मिलेगा। गलत उपयोग हो गया, अज्ञान दशा छा गयी, पाप कर्म बंध गया, यही बातें मिलेंगी। इसके अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं मिलेगा। सो एक सिद्धान्त बना लो कि हमें परसे हटना है। यही हमारे कल्याणका मार्ग है। परमें लगना यही तो अकल्याणका मार्ग है।

भैया ! एक पौराणिक वृत्तान्त है कि पुष्पडाल अपने बाल्यकालके मित्र वारिषेण मुनिको आहार देकर जब जङ्गल तक पहुँच गये तो पहिले बड़ी कोशिश की कि ये कह दें कि यहाँसे लौट जावो। महाराजको याद दिलाया कि देखो महाराज यह वही तालाब है जहाँ नहाने आते थे अर्थात् बहुत दूर आ गये हैं। और क्या याद दिलाया कि महाराज यह वही जंगल है, जहाँ क्रीड़ा करने आते थे। वे कुछ नहीं बोले। धन्य है वह करुणाकी मूर्ति, जो मित्रको संसारके दुःखोंसे छुटानेका यत्न कर रहा है। नहीं बोले, घर जाओ, ऐसा नहीं कहा। पुष्पडाल चलते ही गये। उनके स्थान तक पहुँचते पहुँचते वैराग्य हो गया। पुष्पडाल सोचते जाते हैं कि अब ऐसा सत्संग कहाँ मिलेगा कि जिनके पास रहकर शान्ति मिलती है। अब इनको छोड़कर कहां जाना है ? परिणाम यह हुआ कि पुष्पडाल मुनि हो गये। कुछ माह व्यतीत हो गये। मुनि तो हो गये, पर कुछ समय बाद उनको अपनी स्त्रीकी याद आने लगी कि देखो विनयशील स्त्रीसे मैं कुछ कहकर नहीं आया, समझा-बुझाकर नहीं आया। उनको इतना ख्याल बढ़ा कि चित्तमें शल्य हो गया। ध्यान सब एक जगह रख दिया। वारिषेण मुनिने जब यह बात समझी तो देखो गुरुजी ने परमदयासे अपना नुक्सान सहकर भी मित्रको बड़े लाभमें पहुँचा दिया।

वारिषेण मुनिने मां को पत्र भजा कि हम एक बजे दोपहरको महलमें आयेंगे तो सब रानियोंको शृङ्गार करके, सजा करके अच्छी तरहसे रखना। मां सोचती है कि मैंने स्वप्नमें भी कोई खोटे भाव नहीं किये। मेरे बच्चेको घर आनेकी क्यों सूझ हुई ? खैर कुछ सोचा होगा। कोई राजा महाराजाकी बातको हम छोटी बुद्धि वाली क्या समझ सकती है ? खैर, जो हुक्म आया है करना चाहिए। बहुवोंको खूब आभूषणोंसे सजाया। जब आनेका टाइम हुआ, सभी लोग खूब प्रतीक्षा करने लगे, मनमें खूब आनन्द हुआ। जब आये तो उनके साथमें पुष्पडाल भी थे। दोनों मुनिराज चले आये। उनको देखकर माँ ने दो सिंहासन डाले एक सोनेका और एक काठका। परीक्षा भी हो जायेगी। यदि वे विरक्त हैं और किसी उत्तम ध्येयसे आये हैं तो वे काठके आसनमें बैठ जायेंगे और यदि बुद्धि बिगड़ गयी तो अब आसन

का भी क्या विवेक करेंगे ? वे इस सोनेके सिंहासन पर बैठ जायेंगे । खैर क्या हुआ कि वारिषेण मुनि काठ वाले सिंहासनमें बैठ गये । अब जब पुष्पडालने देखा कि देवांगनावों की तरह से मूर्तिवत् रानियाँ है । इनको त्याग करके ये साधु हुए हैं । अहा, मैं तो एक कानी स्त्रीके ही पीछे अपनेको बरबाद कर रहा हूँ । अब तो पुष्पडालको ज्ञान जग गया । जगत् के सभी जीव अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं, कोई किसीको पालता नहीं, कोई किसीको शरण नहीं । सब अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार अपनी जिन्दगी बिताते हैं । वारिषेण मुनिकी इस परम दयासे अनुगृहीत हुए वे पुष्पडाल मुनि निःशल्य हो गये ।

भैया ! जब तक परपदार्थोंसे लगाव न हटा लिया जाये, इन्द्रिय विषयोंकी साधनासे जब तक विरक्ति न मिल जाये तब तक जीवका हित नहीं हो सकता । यहाँ जो परमें लगा है उसको क्लेश ही क्लेश है । आनन्दका तो नाम ही नहीं है, क्योंकि आनन्दका निधानस्व-रूप जो यह परमात्मतत्त्व है । यदि इसपर दृष्टि नहीं है, झुकाव नहीं है तो जो स्वस्थ पुरुष है उसे स्वाभाविक आनन्द नहीं है । वास्तवमें स्वास्थ्य क्या है ? अपने आपके एकत्वस्वरूप को नियत हुआ जाने, सोई वास्तविक स्वास्थ्य है । उस स्वास्थ्यको दशामें शरीरके सारे झंझट खत्म होंगे । शरीर है, ऐसा भी ध्यान नहीं है । केवल एक शुद्ध ज्ञानविकासका परिणमन है । ऐसा स्वास्थ्य जिस जीवके प्रकट होता है उस जीवको आनन्द हो आनंदका अनुभव होता है । अपनेको न जाना तो दुनियामें रहकर इसने क्या किया ? एकत्वनियतं हि स्वास्थ्यम् । अपने आपके आत्माके आनन्दस्वरूपमें नियत हो जाना अर्थात् यह ज्ञान निज ज्ञानस्वरूपको ही जाने, ऐसा ज्ञानस्वरूप ज्ञेय बने, ज्ञानस्वरूप ज्ञाता बने तो जहाँ ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयका कोई भेद नहीं रह पाता है वहाँ होता है उत्कृष्ट, समाधि, स्वास्थ्य । इस स्वास्थ्यमें ही सामर्थ्य है कि अन-न्तकालसे परम्परामें बँधे चले आये हुए उन पुद्गल कर्मोंको नष्ट किया जा सकता है और कोईसा भी उपाय संसारमें ऐसा नहीं है जो जीवको सदाके लिए दुःखसे छुड़ाये । एक ज्ञान ही परम औषधि है, जिसको पीकर हम आप समस्त संकटोंसे सदाके लिए दूर हो सकते हैं । सो भाई इस ही ज्ञानके उपायको करके अपनेमें अपने आप सुखी होनेका यत्न करो ।

संचित्यभ्यास शिक्षातः स्वान्यभिन्मोक्ष सौख्यवित् ।
स्वस्थितिर्मोक्षसौख्यं हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२६॥

ज्ञानके अभ्याससे, स्वसंवेदनभावसे जो अपनेमें और अन्य पदार्थोंमें जो भेदविज्ञान करता है वह ही मोक्षके सुखको जान सकता है । मोक्षके मायने अकेला रह गया, उसीके मायने मोक्ष है । जीव अकेला रह जाये उसको कहते हैं मोक्ष । मोक्षमें क्या बात आयी कि न शरीरका सम्बन्ध रहा, न द्रव्यकर्मका सम्बंध रहा, न भावकर्मका सम्बंध रहा और द्रव्य-

कर्मके उदयके निमित्तसे जो इसमें बात उत्पन्न होती है न उसका सम्बंध रहा। केवल आत्मा रह जानेके मायने मोक्ष है। अब खालिस आत्मा रह जाये इसका उपाय करते चलो और खालिस आत्माके स्वरूपकी जानकारी भी न करें तो मोक्ष कैसे है? मोक्ष नाम तो कैवल्यका है याने केवल रह जानेका नाम मोक्ष है। कैवल्यको क्या बोलोगे? मियर (मात्र) केवल, कैवल्य रह जाना मात्र उसको ही मोक्ष कहते हैं। जब केवल रह जानेका नाम मोक्ष है तो केवल है कैसा यह? इस स्वरूपकी जानकारी शुद्धदृष्टिके बिना नहीं हो सकता है। शुद्धदृष्टिके मायने खालिस। स्वरसतः कोई द्रव्य जैसा हो सकता है वैसी दृष्टि करनेका नाम शुद्धदृष्टि है। शुद्धदृष्टिके मायने यह नहीं हैं कि अनंतज्ञान वाला, अनंतदर्शन वाला, अनंतशक्ति वाला। शुद्धदृष्टिके मायने हैं यह आत्मा स्वयमेव अपने सत्त्वके कारण सहज ही कैसा है इस स्वरूप को देखनेका नाम शुद्धदृष्टि है, परम शुद्धदृष्टि है। तो परम शुद्धनयके प्रतापसे आत्माके उस स्वरूपकी जानकारी होती है जिसके कारण मोक्ष प्राप्त होता है।

पंडित टोडरमल जी ने कितना बढ़िया मंगलाचरण किया कि—

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जाते भये, अरहंतादि महान्॥

जो मंगलमय है, पापोंका नाश करने वाला है, मंगलकरण है, सुखका देने वाला है ऐसा वीतराग विज्ञान याने रागद्वेषरहित ज्ञानस्वरूप जो है उसको मैं नमस्कार करता हूं कि जिसके प्रतापसे अरहंतादिक बड़े पद हो जाते हैं। अब देखो—इस दोहेके दो अर्थ लग सकते हैं। एक अर्थ तो यह है कि मंगलमय मंगलाकरण, मायने रागद्वेषरहित केवलज्ञान है, जो सारे विश्वको जानता है, ज्ञानका पूर्ण विकास है उसको मैं नमस्कार करता हूँ कि जिसकी वजहसे अरहंत आदिक बड़े बन जाते है। केवलज्ञान न हो तो अरहंतको बड़ा कौन कहे? एक तो यह अर्थ है और दूसरा अर्थ यह है कि जो मंगलमय मंगलकरण रागद्वेषरहित ज्ञायक स्वभाव है, ज्ञानस्वरूप है, सो उसको मैं नमस्कार करता हूँ। जिसके प्रसादसे बड़े-बड़े अरहंत बन जाते हैं। अब इनमें आपको कौनसा अर्थ रुचता है, पहला कि दूसरा? पहला अर्थ तो है मतिप्रधान और दूसरा अर्थ है विज्ञानसे भरा हुआ, वैज्ञानिक तत्त्व वाला।

भैया! जगत्के जीवोंकी दृष्टि अपनेको नाना रूप माननेकी तो रहे, पर मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूँ, यह दृष्टि न आ सकी तो व्यर्थ है। अभी देख लो दिनभर कितना भटके हुए, भूले हुए रहते हैं, बड़े रोजगारमें, बड़े व्यापारमें रहते है, कितना भी दूसरोंको अटपट बोलते आये हों, किसी समय जब यह दृष्टि आ गयी कि यह तो मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल प्रतिभासमात्र हूं, मैं तो इतना ही मात्र हूँ तो वे सारेके सारे जो झंझट बनें या कुछ न बनें, अगर अंदरसे ऐसी

भावना आवे तो उनमें फर्क हो जायेगा। किसी समय ऐसी दृष्टि आ जाये तो जो अटपट किया है उसमें अंतर आ जायेगा। अपने आत्माके सहज स्वरूपको आत्मा मानो, यही आत्मा पर दया है। अपनी दया करो, परकी दृष्टि करके निरंतर विह्वलता मचेगी। दुःख हुआ, बरबाद हुए, ठौरमें न रहे, यहाँसे वहाँ भटके, अब तो अपनी दया करो। वह अपनी दया क्या है ? अपने उस शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि तो करो। इस दृष्टिके प्रतापसे वहाँ कर्म नहीं रह सकता याने कर्म हटनेका निमित्त क्या है, इसपर दृष्टि दो वास्तवमें।

अभी यह प्रश्न हुआ कि ज्ञायकभावकी दृष्टि कैसे आ सकती है ? उत्तर यह है कि उस ज्ञायकभावका जो स्वरूप है उसे बार-बार सुना जाये, उसका बार-बार मनन हो, एकांत में बैठकर उसका मनन करो, परन्तु ऐसा करनेके लिए बड़ा त्याग करना पड़ेगा। वह त्याग क्या कि दुनियाभरकी चीजोंको जो हम रोक कर रहे हैं, दौड़ रहे हैं, उस दौड़का त्याग करना पड़ेगा। त्यागकी चीज नहीं कह रहे हैं, वे तो छूटेंगी ही। जहाँ भेदविज्ञान हो तो वहाँ जैसे कषाय उन्मूलन होती चली जायगी वैसे आप स्वयं बाह्यपदार्थोंको छोड़ते चले जायेंगे। तो यह त्याग करना पड़ेगा कि बड़ी उत्सुकताके साथ, लालसाके साथ। केवल आत्माकी चर्चा की, आत्माके जाननेकी धुन लगानी पड़ेगी तो वह ज्ञानस्वरूप इसके उपयोगमें आ सकता है। बिना धुन लगाये वह चीज नहीं आ सकती है।

भैया ! जो बाहरी चीजें हैं, जिनमें दृष्टि लगाना जरूरी नहीं है और वे मिल जाती हैं तो उनमें कौन तेज धुन लगाता है ? आत्माके स्वरूपकी बात तेज धुन लगाये बिना रह ही नहीं सकती है। उसमें हम धुन न लगाकर मनबहलाव ही करके प्राप्त करना चाहें तो नहीं हो सकता है। अगर आत्मस्वरूपके पानेकी धुन नहीं है तो धर्मके जितने काम किये जा रहे हैं, वे मन बहलावेकी बातें हैं। विधान करना, पूजा करना, हवन करना, न्यौता देना, पंगत कर लेना, ये सब मनबहलावा रह जायेंगी, धर्मकी बातें नहीं रह सकती हैं। आत्मस्वरूपकी लगन लगे, धुन लगे, उसके पीछे पागलसे बन जायें तो क्या वह चीज नहीं मिल सकती है ? वह तो बड़ी स्वाधीन चीज है, लानी कहींसे नहीं है। जैसा यह स्वरूप है, अपने आप है, वैसा इसको देखना है, पाना नहीं है, बस मुड़कर देखना है। यह चीज स्वके सम्वेदनसे मिलती है, अभ्याससे मिलती है। इसके लिए 'सोऽहं' जाप है। 'सोऽहं' भी जाप जो है, वह भी ऊँचा मनन नहीं है ! सो मानो कि जो भगवान है, वह मैं हूँ। जो भगवानका स्वरूप है वह मैं हूं। ऊँचा ध्यान तो यह है कि जैसा उसका चैतन्यस्वरूप है स्वरसतः अपने आप वैसा ही दृष्टिमें आ जाय तो वह मनन इससे भी ऊँचा है। जो भगवान है, सो मैं हूँ, ऐसा ध्यान किसलिए करते हो ? उस ध्यान करने वालेसे पूछो कि किसलिए ध्यान करते

हो ? भगवान्‌की भक्तिके लिए क्या प्रयोजन है ? 'सोऽहं' का जाप करनेका । सोऽहंके जाप करनेका प्रयोजन है अहंके अनुभवको कर लेनेका । सोऽहंमें झुककर अहंके कोई निकट आये तो यह काम तो सोऽहंसे बड़ा है कि नहीं ? दुनियामें कहीं ख्याल नहीं, कहीं विघ्न नहीं, कहीं चित्त नहीं, अन्दरसे केवल ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति हो रही है । जिस स्थितिमें शरीरका भी मान नहीं है वहाँ औरोंका ख्याल भी नहीं है ।

अगर तुम कहो कि कुटुम्ब नही है, तो कुटुम्बका ज्ञान तो आ गया, ख्याल तो आ गया । यदि हम मना करनेको कहें और तुम लगावकी बात कहो तो यह ठीक थोड़े ही होगा । यदि हम कुटुम्बके विलगावकी भी बात कहें तो ठीक न होगा । इसके मायने हैं कि बात करके ख्याल करवा दिया तो कुटुम्बका ज्ञेयाकार नहीं बनना चाहिये । अच्छा अब यह रहेगा कि अन्य अन्य पदार्थोंका ज्ञेयाकार होता है, वहाँ पर भी ज्ञेयाकारका आलम्बन नहीं करना चाहिये । यह होता है, पर अपने ज्ञानस्वरूपका आलम्बन करना चाहिये । जहां तक अपना पुरुषार्थ बन सकता है, उसको लगाकर पूरे बलके साथ अपने ज्ञायकस्वभावका अपने-में उपयोग ले जाना चाहिये । फिर जैसा जो कुछ होता है होवो, पर लक्ष्य यह होना चाहिए कि मुझे यह काम करना था । यहाँ यह प्रश्न हो रहा है कि ज्ञायक और ज्ञेयाकार, इसके बीच जो ममत्व हो रहा, ज्ञेयका ममत्व, ज्ञानका ममत्व मिटानेके लिए जो मेरी चीज है, उस पर दृष्टि डालनी चाहिये, तो ज्ञेयका ममत्व मिटेगा ।

ममत्व मिटानेके लिए जो वास्तवमें, जो मैं हूं, वह ज्ञानमें आ जाना चाहिए । परका ममत्व मिट जाना चाहिए अपना स्वरूप, अपना स्वभाव भी अपनी चीज है, ऐसा भीतरमें सम्वेदन होना चाहिये तो बाह्य पदार्थोंका ममत्व खत्म हो जायेगा । ऐसा यहाँ यह कहते हैं कि स्वसम्वेदनसे, ज्ञानके अभ्याससे, ज्ञानकी शिक्षासे जो अपनेको भेदविज्ञान करता है, वह अपने मोक्षको जानता है । मोक्ष क्या है ? अपने आपके स्वरूपमें अपने आपका रह जाना । मैं अपनेमें यह अभ्यास बनाऊं कि मैं अपनेमें अपने आप ठहरूँ और मनको सम्बोधित करूँ ।

स्वालक्ष्योऽन्योपकारी चेत्क्लिष्टः परकृतावपि ।
स्वलक्ष्योऽस्मान्न मुच्येत स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३८॥

दूसरे मनुष्योंका उपकार करने वाले जन अपनेसे गिर गये तो परका उपकार करने पर भी वे दुःखी हैं, संक्लिष्ट है । महिमा तो अपने निर्मल परिणामोंकी है । अपनेमें विशुद्ध हो, मोक्षका मार्ग बराबर चलता रहे और परका उपकार हो जाये तो यह बात प्रशंसनीय है और जिसका अपना कोई लक्ष्य नहीं है, परके ही उपकार मात्रमें रहता है, वह कोई न कोई अभिमानसे, अहंकारसे, प्रशंसासे या दूसरोंके उपकार करनेमें लोगोंसे प्रशंसा पाता है तो इस

भावसे वह विकार कर रहा है और जिनको अपने आपकी आत्माका लक्ष्य हो गया है वे उपकार इसलिये करते हैं कि दुःखियोंका, गरीबोंका उपकार करें, तो विषय कषायोंसे खोटे परिणामोंसे बच जायेंगे। ज्ञानीका परोपकार होता है, अशुभोपयोगसे बचनेके लिए और अज्ञानीका परोपकार होता है, अपनी महिमा बताने के लिये। ज्ञान और अज्ञानके परोपकारमें इतना अन्तर है।

भैया! जो परोपकार करने वाले हैं, वे यदि अपना लक्ष्य छोड़ दें तो वे संक्लिष्ट होते हैं। लेकिन जिनकी हम सेवा करते हैं, उपकार करते हैं वे मेरी कब तक मदद कर सकते हैं? अपने लक्ष्यसे छूट गये तो अपनी दुर्गति निश्चित है, दूसरे लोग क्या उसमें साथ दे सकते हैं। इसलिये अपना लक्ष्य तो कभी न कभी बन जाना चाहिये। भले ही कुछ मोहीजन, झूठे जन कह दें कि यह बड़ी खुदगर्जी है। अपने ध्यानमें, अपने ज्ञानमें, अपनी साधनामें लगे रहते हैं। दूसरोंकी कुछ नहीं सुनते।

भैया! इसमें देखो कि एक तो कोई अपने आपमें लगा रहे। सत्य साधना बन जाये तो उस व्यक्तिके दर्शन मात्रसे सैंकड़ों जीवोंका उपकार हो जाये और दूसरे पुरुषका, जिस को अपना लक्ष्य नहीं है और अनेक कामोंमें लगा रहता है, उसके दर्शनसे, सत्संगसे किसी का भी ठोस उपकार नहीं हो पाता। यह खुदगर्जी तो है सभीमें। जितने जीव हैं, सभीमें खुदगर्जी है। अगर साधु जन भी दूसरोंका उपकार करते हैं, उपदेश देते हैं, समझाते हैं तो उसमें भी एक खुदगर्जी उठी थी कि वे लोकोपकारकी, कषायकी पुष्टि कर रहे हैं। दूसरों का क्या कर रहे हैं? यह जीव तो खुदगर्ज है ही।

भगवान् भी जो वीतराग हैं, दिव्यध्वनिखिरती है उनमें, जिनकी बुद्धि उठ जाती है, उनका भी भगवान् क्या करते हैं? भगवान् सकलका ज्ञायक है, अपनेमें लीन है, अपना ही प्रयोजन साध सकता है, दूसरेका नहीं। अब अपना भला करना है तो अपने आपको यह देखो कि किसी विषयसाधनके लिए और खुदगर्जीके लिए या अपने स्वभावसाधनके लिये अपनी खुदगर्जी चल रही है। इस बातका निर्णय कर लो। अगर विषयसाधनके लिए खुदगर्जी चल रही है तो वह ऊधम है, वह मुक्तिका मार्ग नहीं है। स्वभावसाधनके लिए अगर चल रहा है तो वह ठीक है। परपदार्थ अपना ही तो प्रयोजन साधते हैं। कोई दूसरेका प्रयोजन नहीं साधता है। सो कहते हैं कि दूसरोंका उपकार करो, पर उसको उस एवज में उन दूसरोंसे कुछ न चाहो।

यह मेरे आगे किसी काम आयेगा, ऐसा मत चाहो। यह मुझे अच्छा कहेगा, ऐसा मत चाहो। दूसरोंके उपकारके एवज में कुछ मत चाहो। अपनी सरल प्रकृतिसे ऐसी प्रवृत्ति

करो कि जिससे दूसरोंका उपकार हो, मगर उनसे कुछ चाहो मत, उपकार कर दो। दुःखी हो, दीन हो, गरीब हो, उसका उपकार कर दो।

यह तन विनाशीक है, इसे परोपकारमें लगाओ। यह धन है, यह भी विनाशीक है, यह भी मिट जायगा, दूसरोंके उपकारमें लगाओ तो अच्छा है। यह वचन है, सो यह भी विनाशीक है, दूसरोंके उपकारमें लगे तो अच्छा है। सो ऐसा सोचकर दूसरोंका भला कर दो और ऐसा विचार बना लो कि मुझे इसके एवजमें कुछ न चाहिए। दूसरोंका भला करनेका प्रयोजन इतना ही है कि हम अटपट विचारोंसे बचें और दूसरोंके उपकारमें लगें। इसीसे अपने ज्ञानकी सुरक्षा बनी रहेगी। हम अज्ञानी मोही नहीं बनेंगे। सो अपने ही ज्ञानभावकी रक्षाके लिए दूसरोंका उपकार किया जाता है। यह ज्ञानी पुरुषकी वृत्ति है और अज्ञानी मोहियोंका रास्ता ही जुदा है। वह जो कुछ करता है, पर्यायबुद्धिसे करता है। उसको अपने अन्तरमें प्रकाशमान निजप्रभुकी खबर नहीं है। सो बाहर ही दूसरोंसे आशा रखता है। सो एक तरहकी वह दुकान ही है, व्यापार ही है। अपने देशका उपकार करना, अपने समाज का उपकार करना तो उसकी एवजमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी चाह और यश प्राप्त करने की चाह है। पर्यायबुद्धिसे इस आशयसे जिसका उपकार करना रहता है, उसके आगे दीन बनना पड़ रहा है।

बाहरकी वेशभूषा, रहन-सहन एक संत जैसा है, भिखारी जैसा है, भीतरमें दीनता भरी है। वह उपकार करना चाहता है लोगोंसे कुछ प्रशंसा चाहनेके लिए, मान और बड़प्पन चाहनेके लिए। वह उपकार वास्तविक उपकार नहीं है। दूसरोंका उपकार करने वाला यदि अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट है तो वह दुःखी है। यह जगत् चार दिनकी चांदनी है, फिर अंधेरी रात है। ये चार दिन जीवित रहने वाले लोग अपना बड़प्पन चाहकर कुछ भी ऐसी क्रिया कर दे कि जिससे लोगोंका उपकार हो। मगर उसने तो अपनेको धोखेमें डाला, खतरेमें डाला। भीतरमें अवनति है, उन्नति नहीं है। इस कारण दूसरोंका उपकार कर देनेपर उसकी एवज में कुछ न चाहिए। प्रत्युपकारकी वाञ्छा रंच भी न करे तो उस उपकारकी महिमा है और यदि भीतरमें कुछ वांछा रखी प्रत्युपकारकी तो उस उपकारकी महिमा नहीं है।

दूसरोंसे वाञ्छा न रखें, यह तभी बनेगा जबकि अपने प्रभुका दर्शन और स्पर्श हो जायेगा। क्योंकि निजप्रभुके मिलनमें संतुष्टि होती है, आनन्द होता है। उससे तृप्ति होकर फिर उसे ये तुच्छ चीजें नहीं भाती हैं। सो अपना लक्ष्य कभी न छोड़ो। अपनेको देखकर अपने आपमें ही रत रहकर संतुष्ट रहने, सुखी रहनेका यत्न करो। सब ओरसे अपना मुख मोड़ लो। किसी भी परकी अपनेमें कल्पना न रखो। केवल शुद्ध सत्ता मात्र चैतन्यात्मक

सबके दर्शन करो और उसीमें संतुष्ट रहो। इससे बढ़कर दुनियामें और कोई सारकी बात नहीं है। बाकी बातोंमें तो यहाँ भटकना ही रहता है। इस भटकनेसे आत्माको कुछ लाभ नहीं मिलता है सो करनेका काम यही है कि जो अपना उपयोग तितर-बितर है, उन सब जगहोंसे छुटकारा लेकर सीधे केन्द्रमें अपना उपयोग लगाना है, सब उपयोगोंको संकुचित करके, समेट करके एक जगह लगा देना है। यदि ऐसा उत्कृष्ट ध्यान बनता है तो उस अग्नि के द्वारा भव-भवके संचित कर्म भी जल जाते हैं।

जैसे सूर्यकी किरणोंके सामने काँच इस तरह लगाया जाये कि किरणें एकत्रित हो जायें, संकुचित हो जायें, फिर शीशेका अक्स जिस रुई पर, जिस कागज पर पड़ता है, जलने लगता है। सूर्य सामने है उसके आगे कागज या रुई रख दिया जाये तो जलता नहीं है, चाहे जेठ बैसाखके गर्मीके दिन हों, पर यदि काँचके अक्समें जाड़ेके दिनोंमें इस तरहसे रखो कि सूर्यकी किरणें उसमें संकुचित हो जायें तो वह रुई, कागज आदिको जला देता है। यह उसमें संकुचित करनेकी शक्ति है। अभी किसी चीजपर ज्यादा तेज प्रहार करना हो तो वह एक बार पीछे हट जाता है तब खूब प्रहार होता है। जैसे जम्प करनेमें जो डोरी लगाकर जम्प की जाती है तो पहिले पैरोंपर वजन दिया जाता है तो इससे कूद ऊँची हो जाती है। गेंद ऊपर यदि उचकाना है तो जमीन पर तेजीसे लगाव दिया जाता है। केन्द्रके अन्तरमें जितना ज्यादा झुकाव हो उसका चमत्कार हो विशेष होगा। हमारा आपका यह काम होना चाहिए कि जो उपयोग तितर-बितर है उसको संकुचित करना है, एक स्थानपर लाना है।

भैया ! हम जो हैं सो हैं, हम अपनेमें परिणमन करते हैं। जो जैसा है वैसा ही अपने में परिणमन करता है। अपनी कल्पनाएँ करना, खोटा ख्याल बनाना और उसमें ही भिड़े रहना इसका फल यह होता है कि नाना योनियोंमें, दुर्गतियोंमें घूमना पड़ता है और उस उपयोगको केन्द्रित कर दें, अपने उपयोगमें ला दें तो इसमें इतनी शक्ति उत्पन्न होगी कि उसके प्रतापसे भव-भवके संचित कर्म भी स्वाहा हो जायेंगे। अपनेमें ही अपना सहारा तको, अपनी दृष्टि अपनी ओर अधिक लगावो। मेरा दुनियामें क्या काम है, मुझे कौनसा द्रव्य सन्मार्गमें लगा देगा; आनन्द प्रदान कर देगा। पर वस्तुमें यह शक्ति नहीं है कि वह मुझको गुण दे दे, पर्याय दे दे, कुछ मदद दे दे, ऐसी शक्ति किसी परवस्तुमें नहीं है। मैं ही अपनी योग्यतासे विकाररूप परका निमित्त पाकर विकाररूप परिणम जाता हूं और अपनी ही योग्यतासे, शुद्ध परिणतिसे परिणम जाता हूँ। मैं ही अपने ज्ञानसे स्वभावरूप परिणमता हूँ, कोई मेरा सहायक नहीं है। इसलिए परकी आशा छोड़ो और दूसरोंका उपकार भी करो तो उसके बदलेमें कुछ न चाह करो। यही सुखी होनेका उपाय है।

।नर्द्वन्द्वेऽजेऽमरे शान्तेऽद्वैते ज्ञानिनि निर्ममे ।
स्वस्मिन् स्थित्वा स्थिरोभूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।५-३१।।

मैं अपनेमें ठहरकर स्थिर होकर, अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ। मैं कैसा हूं ? निर्द्वन्द्व हूँ। निर्द्वन्द्वका अर्थ है द्वन्द्वरहित, द्वन्द्वका अर्थ है दो याने मैं दो से रहित हूँ। मैं तो एक हूँ ।किसी दूसरे पदार्थसे मैं मिला हुआ नहीं हूं । जितनी आपदायें आती हैं सब द्वन्द्वसे आती है, दो से आती हैं । एकसे आपदायें नहीं आती हैं । लोकमें कहते हैं कि हम तो बड़े द्वन्द्वमें पड़ गये । मतलब यह है कि हम बड़ी परेशानीमें पड़ गये मायने दो में पड़ गये। द्वंद्व के मायने हैं हिन्दीमें दो । हम दूसरेमें पड़ गये, हम द्वन्द्वमें पड़ गये तभी दुःख होता है । अपने में पड़े रहे तो दुःख नहीं रहता है । मैं द्वन्द्वरहित हूं, दो से रहित हूं, केवल एक हूं और अज हूँ मायने मैं जन्मा हुआ नहीं हूं । मैं सत्भूत हूं, अनादिसे हूँ, मुझे किसीने उत्पन्न नहीं किया और अमर हूं मेरा कभी मरण नहीं होता । मेरा क्या, किसी भी पदार्थका मरण नहीं होता । कौनसी चीज मिट जाती है सो बतलावो ? यह शरीर क्या मिट जायेगा ? यह शरीरका ढाँचा मिट जायेगा, मगर शरीरके पुद्गल परमाणु वे कैसे मिट जायेंगे ? शरीर जल जायेगा तो धुवां बनकर उड़ जायेगा, उड़कर भी परमाणु रहेगा कभी समूल नाश नहीं होगा ।

कोई भी चीज मरने वाली नहीं होती । मरने पर भी कुछ न कुछ बना रहता है। सभी अविनाशी हैं । जीव हो, पुद्गल हो और कुछ हो, सभी मरने वाले नहीं है, ऐसा अपना अविनाशी अस्तित्व देखो तो उसे ज्ञान कहते हैं । जो अपने स्वरूपमें बसे उसे क्या होता है शांति; अशांति नहीं होती । अशांति तो कारण पाकर बन जाती है । शांतिके लिए कारण न चाहिए, पर अशांतिके लिए कारण चाहिए । तो शान्ति चाहो यह अच्छा है कि अशांतिके कारण दूर हो जाये यह अच्छा है । शांति के लिए कारण नहीं होता, शांति तो स्वभाव है, आत्मामें अपने आप होती है ।

और कैसा मैं हूँ ? मैं अद्वैत हूँ । मैं केवल अपने आपके स्वरूपका अस्तित्व रखता हूं । मैं दूसरोंसे मिला-जुला नहीं हूं । जो पदार्थोंके स्वरूपकी सीमाको देखते हैं वे ही यह निश्चय कर सकते हैं कि परपदार्थ अपनेमें अद्वैत हैं अद्वैत दो तरहके माने गये हैं—एक तो सर्वाद्वैत और विशिष्टाद्वैत । सर्वाद्वैतने यह कहा कि सब कुछ एक चीजें हैं और विशिष्टाद्वैतने यह कहा कि प्रत्येक चीज अपनेमें अकेली है । सो प्रत्येक चीज अपनेमें अकेली है यह तो वस्तु स्वरूपकी विशिष्टाद्वैत है । अपमेंमें आप ही हूं, मुझमें कोई दूसरा नहीं है । यहाँ सबसे बड़ी विपत्ति जीवकी है तो मोहकी है और कोई विपत्ति नहीं है । मोहसे अपनी बेवकूफी नजर आती है । पर जो समझदार हैं वे सब देखते हैं कि ये व्यर्थका मोह कर रहे है । मान लिया

एक जीवको कि यह मेरा लड़का है। बस उसी एक लड़केके पीछे मरे जा रहे हैं और है कुछ नहीं। जो दूसरे हैं उनसे प्रीति करनेमें फाँसी सी लगी है, पर जो एक अपना समझ रखा है उससे मोह कर रहे हैं। बाकीको गैर मानते हैं। यह घरके हैं ऐसा समझकर मोहकर रहे हैं। उनके कारण यह मोहका विकल्प लगा है और मिलता उनसे कुछ नहीं है। केवल अशांति ही मिलती है। मैं कैसा हूँ ? अद्वैत हूँ। अपनेमें तो मैं ही केवल एक हूँ।

और कैसा हूँ ? ज्ञानी हूं। ज्ञान मेरा ही है। आत्माका स्वरूप जानन ही तो है। जाननको छोड़कर आत्मामें और क्या हो सकता है ? जो जानन भाव है सो ही आत्मा है। वह जाननभाव निराधार नहीं है, सो मेरा जो आधार है उसको कहते हैं आत्मद्रव्य। मैं ज्ञानी हूँ, निर्मम हूँ, ममतारहित हूँ याने ये बाहरी चीजें तो मेरी है ही नहीं, पर बाहरी चीजोंमें ऐसी कल्पनाकी जाती है कि ये मेरी हैं। तो यह कल्पना भी मेरी नहीं है। चीज की तो बात दूर रहे, चीजके बारे में जो कल्पना होती है कि यह मेरी है तो वह कल्पन भी मेरी नहीं है, ममता भी मेरी नहीं है। सो मैं निर्मम हूं। ऐसा यह मैं आत्मा अपने आपको ही जानूं, अपने आपमें स्थित हो जाऊँ, अपने आपमें स्थिर हो जाऊँ तो फिर मुझे क्लेश ही नहीं हो सकते हैं।

भैया ! देखो खरगोशके पीछे शिकारी लोग कुत्ते दौड़ाते हैं, उसे पकड़नेके लिए। तो खरगोश बड़ी तेज दौड़ता है। इतनी तेजीसे छलाँग मारकर दौड़ता है कि कोई उसे पकड़ नहीं सकता है। जरासी छलांग मारी कि बहुत दूर पहुंच गया। वहाँ झाड़ीके किनारे छिप गया। मगर उसके भीतरमें घबड़ाहट है। वह कुत्तोंको देखनेके लिए झाड़ीके बाहर निकलता है। कुत्ते जब देख लेते हैं तो फिर पीछा करते हैं। फिर वह खरगोश भागता है। खरगोश अगर ऐसा उपाय करे कि जब वह छिप जाये तो अपने कानोंसे आँखें बन्द कर ले, पर वह ऐसा नहीं करता। देखो कर्मोंकी रचना, जीवों को उनकी रक्षाके साधन, उनके अंग कैसे अनुरूप हैं ?

अभी ये गाय, बैल, भैंस आदि जानवर हैं, उनके हाथ पैर हो गये। मक्खियोंको उड़ाने के लिए वे पूंछसे काम लेते हैं। जो पक्षी हैं, उनके दोही पैर हैं, वे अपने पंखोंसे काम चलाते हैं। इसी तरह खरगोशके बड़े-बड़े कान होते है। जब वह झाड़ीमें छिप जाये तो अपने कानोंसे अपनी आँख बन्द कर ले तो उसे यही रहे कि अब उसे कोई नहीं देखता है। इससे उस खरगोशकी रक्षा हो जायेगी क्या ? वह तो अपने आपसे ही निकलता और फिर झाँकता और कुत्ते उसके पीछे दौड़ते, उसका पीछा करते। ऐसे ही हम लोग अगर अपने आपकी आँखें मींचकर याने विकल्प छोड़कर किसीके बारेमें कुछ न सोचें, किसी परको न

देखें, ऐसा विचार यदि मनमें बैठ जाये तो अपनेमें आपत्तियाँ नहीं आ सकेंगी। पर ऐसा हम आप नहीं कर पाते हैं।

यदि अन्तरंगमें कोई विकल्प उठाये और परकी तरफ लग जाये तो आपत्तियाँ सताती हैं। जरा भी आपत्तियाँ आई तो समझो कि श्रद्धानके द्वारा दृष्टि बाहरमें लग गई। यही कारण है कि बाहरमें दृष्टि लगनेसे आपत्तियाँ मिटती नहीं हैं। जब आपत्तियोंको मिटना होगा तो मिनटोंमें मिट जावेंगी। केवल अपने ज्ञानस्वरूपको ही तो देखना है। अपने स्वरूप को ज्ञानके द्वारा यह विचारना है कि मैं द्वन्द्वरहित हूं, मेरा जन्म नहीं होता, मैं स्वतःसिद्ध हूँ और स्वभावसे ही शान्त हूँ।

भैया ! यह संसार एक अजायबघर है। इस अजायबघरमें चीजोंको देखते जाओ, ज्ञातादृष्टा बने रहो, पर इसमें किसी भी चीजमें हाथ न लगाओ। अगर किसी चीजमें हाथ लगाया तो गिरफ्तार कर लिये जावोगे और दण्ड मिलेगा। यह सारा संसार अजायबघर है। यहाँ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। किसीसे अपना स्नेह न लगाओ। ऐसा अपना ज्ञान जगाओ। केवल उनके ज्ञातादृष्टा रहो तो तुम्हारी कुशलता है और जहाँ स्नेह जगाया तो बस पराधीन हो गये, परेशान हो गये। ज्ञाता दृष्टा रहो, उनमें चित्त न लगाओ। कभी-कभी कहने लगते हैं कि तेल देखो और तेलकी धार देखो, ऐसी कहावत है। यह कहावत किस बात पर है, सो तो पता नहीं है। इसका मतलब यह है कि देखते जाओ, पर कुछ मत बोलो। उसमें बाधा कुछ न डालो। अपनी ओर से कुछ न कहो। दुनियाको देखते जाओ, पर केवल ज्ञातादृष्टा रहो। कोई ज्ञाता दृष्टा रहे, न बोले तो कितनी बड़ी उसकी शोभा रहती है। यह होती है कि यह बड़ा गम्भीर है, बड़ा नम्र है, बोलता कम है, सोचता विशेष है। जो बोलते हैं उनके झंझट भी ज्यादा होते हैं। बल भी मन, वचन, कायमें नहीं रहता है। मैं ज्ञानी हूँ, निर्भय हूं, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मेरेमें नहीं है ऐसा शुद्ध, स्वच्छ जो ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायकस्वभावमें ही अपना उपयोग लगाऊँ और वैसा ही ज्ञान रखकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

ज्ञस्वभावे मयि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं स्वभावतः।
तत्रस्थितौ सुखं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–३२॥

मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ। आत्मामें और ज्ञानमें कुछ अन्तर नहीं हैं। लक्ष्य लक्षण में भेद है। ज्ञान लक्षण है आत्मा लक्ष्य है, पर ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है। जो ज्ञानभाव है हम उसको ही आत्मा कहते हैं। जो ज्ञानस्वभाव है बस उसको ही आत्मा कहते हैं। तो

ज्ञानस्वभाव जो मैं आत्मा हूँ उस ज्ञानभावके जान लेनेपर स्वभावसे ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है। जिसमें प्रतिबिम्ब पड़नेका स्वभाव है ऐसे दर्पणको देख लेने पर दर्पणके सामने की चोजें सब देख ली जाती हैं। देख रहे हैं हम दर्पणको, पर सामनेकी सब चीजें देखनेमें आ जाती हैं। इसी तरह ज्ञानस्वभावी एक आत्माको जान लेने पर सब पदार्थ स्वभावसे जाननेमें आ जाते हैं। क्योंकि यह आत्मा पदार्थोंको नहीं जानता है। क्योंकि जितना ज्ञान है गुणकी परिणति है और ज्ञान गुण आत्माके प्रदेशमें है। आत्माके प्रदेशोंमें रहने वाले गुणकी परिणति आत्मप्रदेशमें हो है और उस ज्ञानपरिणमनका प्रयोग भी आत्मा पर ही होता है, अन्यत्र नहीं। पर आत्माका ज्ञान ही इस किस्मका चलता है कि जैसे सब कुछ पदार्थ हैं उनका ग्रहण रूप जानन आत्मामें होता है। यदि आत्माको जान लिया तो सभी को जान लिया और एक आत्माको नहीं जाना तो सब जाननेमें आ हो नहीं सकता।

भैया ! आज इस चीजको जानने चले, कल और चीज जानने चले, परसों अन्य चीज जानने चले। बाह्यमें दृष्टि देकर पदार्थोंको जान-जानकर कोई सर्वज्ञ बनना चाहे तो नहीं बन सकता है। संचय करके तो जान ही नहीं सकते हैं। आज इतना जाने तो कल दसोंको जानने चले। ऐसा संचय करके नहीं जान सकते हैं। सबके ज्ञाता बन सकते हैं तो केवल आत्माके जाननेमें बन सकते हैं। क्योंकि केवल आत्माके जाननेके प्रयोगमें वह शक्ति विकसित होती है कि इसका पर्दा या इसका आवरण सब समाप्त हो जाता है। पर्दा और आवरण तो उनमें रागद्वेष है और व्यवहारमें कर्म है। ज्ञानका पर्दा साक्षात् तो रागद्वेष है और व्यवहारमें कर्मका उदय है। कर्मके उदयका निमित्त पाकर रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेषके विभावोंमें उपयोग उलझा तो यह आत्माको नहीं जान सकता। तो एक आत्मा जान लेने पर सब सारा विश्व ज्ञात हो जाता है।

कल्याण वह ही कर सकता है कि जो दुनियाके लिए अपनेको मरा समझे। दुनिया के लिए हम मरे हैं, इतना कोई समझ ले तो आत्मकल्याण कर सकता है। दुनियाके बीच हम जोवित हैं, जिन्दा रहना चाहते हैं अर्थात् दुनिया इसे समझे, जाने, बस जिसके यह भीतर में आशय हुआ कि वह आत्मकल्याणसे गया। आत्मकल्याण वही कर सकता है जो अपना सर्वस्व त्याग सकता है। जीवका वर्तमान सर्वस्व क्या है ? अपना अहंकार, अपनी पर्याय-बुद्धि, अपना यश, अपनी कीर्ति, अपना मान। मैं मनुष्य नहीं होता, कीड़ा-मकोड़ा होता अथवा कहीं बहुत दूर देशमें होता तो मेरा फिर यहाँ क्या था ? तो यह समझना जरूरी है कि मेरा कुछ नहीं है। क्या ऐसा हो नहीं सकता कि मैं और पर्यायमें होता। हम अन्य पर्यायमें थे तब तो वह जबलपुर तथा लाटगंज न था। ऐसा ही सोच लो तो बाञ्छा नहीं

रहती, चाह नहीं रहती, अपने आपकी पोजीशन रखनेका, पोजीशन बढ़ानेका भाव नहीं रहता।

भैया ! शांति और आनन्द तो वहाँ ही है जहाँ किसी प्रकारकी तरंग न उत्पन्न हो। जैसे कि कोई मनुष्य विरोधियोंके बीच पड़ा हो और वह पुरुष यह चिल्ला उठे कि इन लोगोंने हमको मार डाला, किसी आक्रमणमें यह कहा जाये। बीचमें पड़ा हुआ पुरुष जो चिल्ला उठता है सो इसी तरहसे हमें चिल्ला उठना चाहिये कि इन इष्ट पदार्थोंने हमें मार डाला। ऐसे इष्टपदार्थ जिन्हें हम प्रिय समझते हैं, उन इष्टपदार्थोंने हमें बरबाद कर दिया है। क्योंकि उन इष्टपदार्थोंसे अंतमें हमें मिलता कुछ नहीं। राग करने, स्नेह करनेसे मिलता कुछ नहीं है बल्कि जितना राग और स्नेह घरमें किया जाता है, बच्चोंसे किया जाता है, अज्ञानी जनोंसे किया जाता है, उससेभी कुछ कम राग घर गृहस्थी त्यागकर अपने ज्ञान और चारित्रको साधनामें यदि उत्पन्न होता तो कुछ हाथ भी लग सकता था, कुछ अपनेमें लाभ भी देकर जा सकता था, पर उन मित्रोंमें, कुटुम्ब परिवारमें रात-दिन लगे रहते हैं, पर उसकी एवजमें उन्हें क्या मिल जाता है ? यदि हिसाब देखा जाये तो शून्य मिलता है। कुछ नहीं मिलता है। कुछ नहीं मिलता, उल्टी कषाय ही मिलती है, फँसाव ही मिलता है। उल्टी हानि ही मिलती है।

परकी दृष्टि हटाकर केवल ज्ञानस्वभावी निज आत्माको जाना जाये तो वहाँ ऐसी ऋद्धि प्रकट होगी कि सारा विश्व, तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ अवभासन में हो जायेंगे। जब हम सारे विश्वको जान जायेंगे तो हमें अणुमात्रका भी प्रयोजन न रहेगा और जब तक हमें प्रयोजन है तब तक ज्ञान विकसित नहीं होगा। सो न यहाँ मुझे लाभ है, न भगवान्‌को लाभ है। भगवान्‌को लाभ इसलिए नहीं है कि मुग्धोंकी दृष्टिमें जानना, न जानना सब बराबर है, जब कुछ वहाँ मतलब नहीं निकलता। जैसे कोई रोजगार या सट्टाको जानता हो तो नफा मिले तो उसके जाननेसे फायदा है। यदि भगवान् बातें जानता रहे, पर कोई प्रोजन नहीं साधता है तो जानना लाभरहित हुआ। संसारी लोगोंकी दृष्टि से यहाँ यों हम लोगोंकी जानें, यह यों लाभ हो, इस विकल्पमें तो हम कोरे बनते हैं, रोते बनते हैं, फंसाव आता है।

भैया ! यह मूढ़ोंके लिए बड़ी समस्या है कि सिद्ध हो गये तो मतलब नहीं रखते हैं और यहाँ लोग मतलब रखते हैं तो उनको जानकारी होती नहीं है। जो जानता है उसको जानकारीसे मतलब नहीं और जो मतलब रखता है उसको जानकारी होती नहीं। सो जानने तककी उत्सुकता छोड़कर अपनेमें कृतकृत्यता यत्न करो। ज्ञानवृद्धिका भाव न करके

कृतकृत्यताका यत्न करो। जाननेमें दुनिया आवे तो क्या, न आवे तो क्या, मगर कृतकृत्यता में क्षोभ नहीं हो सकता है। कृतकृत्यताके मायने सब कुछ कर लेना, अब कुछ नहीं बाकी रहा। करने योग्य जो था सो कर लिया, अब मेरे करनेको दुनियामें कोई काम नहीं रहा। ऐसा भाव होनेका नाम ही कृतकृत्यता है। मेरेको कोई काम नहीं पड़ा है। जो है सो होता है, ठीक है। कृतकृत्यताका भाव यदि आता है तो शांति है। मेरा करनेको कोई काम नहीं है क्योंकि मैं किसीको करता तो नहीं हूँ। मैं किसी भी पदार्थको परिणति तो नहीं करता, तो करनेकी उत्सुकता ही क्यों रखें, वह तो व्यर्थको चीज है। तो ऐसे विश्रामसे यदि अपने आपमें आ जाये तो ज्ञानस्वभावी इस आत्माके सब कुछ जाननेमें आ जायेगा। स्वके जानने पर सारा विश्व जाननेमें आ जाता हैं।

प्रत्येक पदार्थके जाननेका यत्न अगर छोड़ दिया जाये या परपदार्थको विशेष रूपसे न जानकर सामान्य रूपसे ही देखा जाये तो उसमें आत्माका ही ज्ञान होता है, आत्माका ही दर्शन होता है। ज्ञान और दर्शन हो तो उसमें दर्शनका स्वरूप यह कहा गया है कि—

जां सामण्णगहणं भावाणं णेव कट्टुभायारं।
अविसेसिदूण अट्ठें दंसणमिदि भण्णदे समये॥

पदार्थका विशेष आकार ग्रहण न करके जो सामान्य दर्शन होता है वही सामान्य दर्शन कहलाता है याने पदार्थको विशेष न जानकर सामान्यका स्पर्श करे सो दर्शन है। एक जगह यह लिखा है कि आत्माके स्पर्शका नाम दर्शन है और परपदार्थोंके प्रतिभासनेका नाम ज्ञान है यों दो लक्षण हो गये—आत्माके जाननेका नाम और पदार्थोंके जाननेका नाम।

भैया! दर्शनके लक्षण ये दोनों जुदे हैं क्या? नहीं, जुदे नहीं हैं। कहे कि इन पर-पदार्थोंको हमने विशेष नहीं जाना, चौकी, पुस्तक, कमंडल इत्यादिको हमने विशेष नहीं जाना, पदार्थोंको सामान्य ही हमने जाना। तो पदार्थोंका सामान्य क्या? इन पदार्थोंका सामान्य, ऐसा यदि कहें कि इस सामान्यका अर्थ तो वह विशेष हो गया। जिस दृष्टिमें कोई पदार्थ नजर आ जावे तो वह विशेष हो गया। पदार्थोंका सामान्य, ऐसा यदि कहें कि इस सामान्य का अर्थ तो यह विशेष हो गया। जिस दृष्टिमें कोई पदार्थ नजर आ जाये तो वह विशेष हो गया। पदार्थोंका सामान्य तो वह कहलाता है कि जहाँ जाननेके समय पदार्थोंकी खबर भी न रहे अगर किसी पदार्थकी खबर है तो वह पदार्थोंमें सामान्य हुआ कि विशेष? किसी एक पदार्थका अगर हमें पता लगता है तो विशेषका ज्ञान हुआ कि सामान्यका ज्ञान हुआ? यह विशेषका ज्ञान हुआ। जिस ज्ञानसे कोई पदार्थ नजर आवे तो

वह विशेष ज्ञान है। सामान्य ज्ञान वह है कि जिसमें कोई विशेष पदार्थ ध्यानमें न रहे तो यही अस्तित्व सामान्यका ज्ञान हो रहा है, सर्व पदार्थोंमें जो सत्ता सामान्य है उसका ज्ञान हो रहा है। सत्ता सामान्यके ज्ञानमें क्या यह सकते हैं कि इस पदार्थका सत्त्व सामान्य जान रहे हैं। इन पदार्थोंका, फिर सत्त्व सामान्य, यह विरुद्ध बात हो गई। तब यह है पदार्थ, यह जाननेमें आ गया तो विशेष सत्ता हो गई तो सत्त्वसामान्यके जाननेके समय सर्वपदार्थ उसके उपयोगसे निकल गये अगर कोई पदार्थ उसके उपयोगमें रहे तो वह सत्त्वसामान्यका उपयोग नहीं है। इस सत्त्वसामान्यके उपयोगमें बाहरी पदार्थ तो रहते नहीं, और यह ज्ञाता स्वयं है। सो यह कहाँ निकल नहीं जा सकता है। तब वहाँ ज्ञाता सामान्यका ही प्रतिभास होता है तो चाहे यह कहो कि पदार्थके सामान्य प्रतिभासको दर्शन कहते हैं, चाहे यह कहो कि आत्मप्रतिभासको दर्शन कहते हैं। दोनोंका एक अर्थ है।

ज्ञानस्वभावी निज आत्माको जान लिया तो सारा विश्व ज्ञात हो जाता है। क्योंकि इस आत्माके अन्दर जाननेका ही स्वभाव है कि विश्वमें जो है उसकी जानकारी हो जाये। हमें जो थोड़ी-थोड़ी जानकारी रहती है तो मेरे स्वभावके कारण नहीं है, किन्तु जाननेके विकासमें रोड़ा अटकाने वाले मौजूद हैं। इसलिए हमारा ज्ञान थोड़ा रह गया। स्वभाव की ओरसे कमी नहीं है, किन्तु उसमें आवरण है, रुकावट है, जिसके कारण हमारेमें ज्ञ की अल्पता है। मैं तो स्वभावसे ब्रह्म हूं। ब्रह्म कहते उसे हैं जो अपने ज्ञानसे रहता हो। अणुमें यह स्वाभ व नहींपाया जाता कि वह अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श के विकासमें चढ़ा हुआ रहे। जघन्यगुण वाला भी अणु हो वह मध्य गुण वाला भी हो सकता है, उत्कृष्ट गुण वाला भी हो सकता है और उत्कृष्ट गुण वाला उतरकर जघन्यमें आ सकता है। बढ़नेका स्वभाव परमाणुमें नहीं है, मगर आत्मामें है। परमाणुमें तारीफ उसकी मानी जाती है जिसमें जघन्य गुण रहे। आत्माकी तारीफ उसकी मानी है जिमें उत्कृष्ट विकास हो। परमाणुमें शुद्धताके लिए तारीफ उसकी मानी जाती है कि जघन्यगुण आ जाये, एक डिग्रीका स्पर्श आ जाये तो पूर्ण शुद्ध हो गया और जीवमें पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शक्ति हो जाये तो शुद्ध मानते हैं।

ज्ञानस्वभावी इस मुझ आत्माको जान लेनेसे सारे विश्वका स्वभाव ज्ञात हो जाता है और फिर इस पुरुषार्थसे सारे विश्वका ज्ञान हो जाता है। सो कहते हैं, ऐसा मैं ज्ञानस्वभावी निज आत्मतत्त्वमें ठहरूँ तो मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी हो सकता हूं। मेरा सुखी करने वाला कोई दूसरा नहीं है, अपनी शुद्ध दृष्टिसेही खुद मैं सुखी हो सकता हूं। किसीका भरोसा न रखो कि मुझे आराम देंगे, मेरे संकट मिटा देंगे, ऐसा दुनियामें कोई नहीं है।

वैसे भी देखो—जो मेरे ४ साथी होते हैं वे भी मेरे अच्छे चारित्र, अच्छे आचार व्यवहार के कारण होते है। तो असली साथी कौन है ? क्या वे चार साथी ? नहीं, मेरा चारित्र और व्यवहार हो मेरे साथी हैं जिसके कारण चार लोग मेरा साथ निभाते हैं।

साधुवोंकी बहुत भक्ति करते हैं और उन्हें बहुतसे लोग पूछते हैं। कौनसी ऐसी बात है जिसके कारण बहुतसे लोग उन्हें पूछने लगते हैं। एक चारित्र और सद्व्यवहार ही उनका ऐसा है कि बहुतसे लोग उनके पूछने वाले हो जाते हैं। तो बताओ किस कारणसे बहुतसे लोग पूछते है ? चारित्र और संयमसे। क्या फलाने सागर कहलानेसे, क्या फलाने कीर्ति कहलानेसे ? नहीं, भक्तिसे, संयमसे और ज्ञानकी शुद्ध दृष्टिसे। और आगे बढ़कर देखो उस साधु की शुद्ध भक्ति चारित्र आदि ही उनको सुहा गया जिसके कारण लोग उसका आदर करते हैं याने वे लोग अपने ही चारित्रका आदर करते हैं, साधुके चारित्रका आदर नहीं करते हैं। सो मैं ही अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभावको जानूँ और उसमें ही रहूँ तो सुखी हो सकता हूँ। मेरा सुखी होनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

कल्पनालोलकल्लोलैस्त्यक्तः शान्तः स्वयं सुखी।
तत्राश्रयः परो नास्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३३॥

कल्पनारूप चंचल तरंगोंसे जो छूटा हुआ पुरुष है अर्थात् जिस पुरुषमें कल्पनाओं की तरंगें नहीं उत्पन्न होती है वही पुरुष शांत है और वह ही सुखी है। जैसे कहते है ना कि बैठे-बैठे आफत मोल ले लेते हैं। तो इसी प्रकार जितने भी संकट हैं सो बैठे-बैठे ख्याल बनाकर आफत मोल ले लेते हैं। आफत कुछ नहीं है। देखो ये सब कितने अच्छे बैठे हैं, कितने शांत बैठे हैं, हमें तो यह लग रहा है कि इनमें आफत ही नहीं है। देखो सभीकी कैसी शांत मुद्रा है और जैसा हम समझते हैं तैसा सब समझते होंगे कि हम बैठे-बैठे आफत ले रहे हैं। ऐसा विरला ही होगा कि जो सोचता हो कि जो होता है सो होता है। इस जीवको सोचो तो कुछ तकलीफ नहीं है। तकलीफ इसको अपने आप कल्पनाएँ करके मिल जाती हैं। इसमें सम्बन्ध है निमित्तनैमित्तिक भावोंका, कर्मोदयका, मगर यह देखो कि दूसरी चीज चाहे परिवार हो, चाहे धन हो, चाहे लोक हो, कोई चीज इस आत्माके भीतर घुसकर इसमें आफत नहीं करती।

भैया ! जितने लोग हैं वे अपनी जगह बैठे-बैठे अपने हाथ-पैर फैला रहे हैं, अपने गाल मुंह फैला रहे हैं, इसके अलावा और कुछ नहीं कर रहे हैं, मगर यह जीव अपना ख्याल बनाकर दुःखी हो रहा है। सो जो क्लेशकी चंचल तरंगोंसे छूटा हुआ है वह शांत है, स्वयं सुखी है, क्योंकि सहजकी स्थितिमें पर-आश्रय तो रहता ही नहीं। कल्पनाएँ छूटें तो

उसमें कोई परपदार्थ आश्रय नहीं है। और जब पर-आश्रय नहीं है तो वहाँ परेशानी नहीं है। एक शब्द है ना—परेशान। यह आदमी बहुत परेशान है। परेशानी उर्दू का शब्द है। इसको हमने संस्कृतमें लिया है। संस्कृतमें इसका क्या अर्थ हैं—पर ईशान। परके मायने दूसरा पदार्थ, ईशानके मायने मालिक। परको अपना मालिक बनाना और परको स्वयं ईशान बनाना। याने पर है ईशान जिसका, पर है मालिक जिसका और परके मायने हैं अन्य पदार्थ। अन्य पदार्थोंको अपना मालिक बना लिया। ऐसा काम करने वालेको कहते हैं परेशान और परको मालिक बनाना इसके ही मायने हैं परेशान। सो देख लो कि जितनी भी परेशानियाँ हैं उनमें ही यह बात आती है कि किसी दूसरे पदार्थका स्वामित्व माना तो परेशान है, नहीं तो कुछ परेशानी नहीं है।

एक साधुके पास कुछ शिष्य थे। साधुके पास एक पाँच सेरकी सोनेकी ईंट थी। सोनेकी ईंटको एक शिष्य उठाये हुए साधुके पीछे-पीछे जा रहा था। साधु किसी जंगलके बीचमें शिष्यसे बोला कि बेटा! यहाँ संभलकर चलो, पैरोंकी आवाज न हो, क्योंकि यहाँ डर है। शिष्य बेचारा बहुत परेशान हो गया। स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दतासे चल नहीं सकता था। दोनोंको इस ही प्रकार चलते-चलते दसों दिन हो गये। सोचा कि अब मैं क्या करूँ? चलते-चलते रास्तेमें एक कुवेंमें शिष्यने ईंट पटक दी। गुरुको मालूम न हुआ। दोनों आगे चलते गये। दोनों फिर किसी जंगलसे गुजरे। गुरु बोला—बेटा! यहाँ चुप-चाप चले चलो, क्योंकि यहाँ पर डर है। शिष्य बोला—गुरुजी, अब आप निःशङ्क होकर चलिए, मैंने डर को तो एक कुवेंमें पटक दिया।

भैया! यहाँ पर परको अपना स्वामी भी बनाते और परके स्वयं स्वामी बनते, इसी कारणसे तो लोगों पर परेशानी है। कोई भी यदि परेशानीमें नजर आ रहा है तो समझो यही अपराध कर रहा है।

भैया! देखो स्त्रीने ऐसा कह दिया कि माँ यों बिगड़ गई, लड़केने मेरी बात नहीं मानी, पिताजीने हमारी उपेक्षा कर दी, बस इसीसे मानसिक दुःख हो गया लोगोंको। वह दुःख किस बातका है? परको अपना मालिक बनानेका या परका खुद मालिक बननेका। यही दुःखका कारण है। आदमियों पर दूसरा कोई दुःख नहीं है। सो यह कितना व्यर्थका ऊधम है? परको अपना मालिक बनाना या परका मालिक बनना कितना ऊधम है? सो यह एक तरहका कषाय आदिका ऊधम है।

थोड़े पुण्यके दिन हैं तो मौजमें रहता है। पर यह मौज जल्दी ही खतम हो जायेगी। जहाँ पुण्य खत्म हुआ तहाँ यह ऊधम मिट जायेगा। एक समुद्रमें एक बूंदकी गिनती है।

क्योंकि एक-एक बूंद मिल करके समुद्र बन गया। पर इन अनन्त कालोंके आगे १०० वर्ष की क्या १००० सागरकी भी कुछ गिनती नहीं हो सकती है। समुद्रकी बूंद तो गिनतीके काबिल हैं। यद्यपि अनगिनत बूंदें है, पर बूंद बूंद करके देख लो संख्यात में आयेगी। असंख्यातमें प्रकट हो गयी तो असंख्यातमें उत्कृष्ट हुई। वह बूंद संख्यात है, किन्तु अनन्त कालोंके सामने ये हजार सागर, एक लाख सागर, एक लाख क्या दस पचास लाख सागर भी कुछ गिनती नहीं रखते। वर्षोंकी बात जाने दो। तो फिर यह कितने दिनोंका ऊधम है? तो इन कल्पनाओंकी चंचल तरंगोंसे निवृत्ति हो तो उसका उपाय यह है कि स्वभावदृष्टि हो। उन कल्पनाओंकी निवृत्ति हो तो शान्ति प्राप्त हो सकती है।

भैया! जब किसी इष्टका वियोग हो जाता है तो बड़ा क्लेश होता है और उस समय बड़े हितू लोग समझाते हैं कि अरे वह तुम्हारा नहीं था। कोई भी किसीका नहीं होता। कोई किसीके साथ नहीं आया और न साथ जायेगा। वह कहता है कि यह तो ठीक है। मैं भी समझता हूँ, पर वे कल्पनाएँ छूटती तो नहीं हैं। देखो इन बातोंको जानते तो हम भी हैं, पर ये कल्पनाएँ यों नहीं छूटती हैं। तो एक कल्पना ही क्यों करो, अभी देखो कोई बिटिया की सगाई हो। सगाई न हुई हो, केवल बात चलती हो तो बिटिया दबकर चलेगी। अभी कुछ नहीं हुआ, जरासी बात केवल हुई। सगाई पक्की नहीं हुई, मगर कल्पनाएँ देख लो कितनी आ गयी कि ससुराल बनने वाली है, इसी कल्पनाओंसे ही वह लड़की प्रसन्न हो गयी। अभी किसीके बच्चा न हो, किसी लड़केको गोद लेनेकी बात ही चल रही हो तो बस ममता इसी समयसे हो गयी। अभी किसीका मकान गिरवी रख लिया और जान रहे कि वह तो गरीब हो गया। अब वह इस कल्पनामें आ गया कि मैं ही इस मकानका मालिक हूं। बस मालिकको जैसा बर्ताव उस गरीबके साथ होने लगा। तो जितनी भी अटपटी क्रियाएँ हैं वे सब परेशानोकी क्रियायें हैं। वे सब परेशानियां कल्पनाके कारण हैं।

एक कविने लिखा है कि दुनियामें सबसे बड़ा दानी कौन है? उसने बताया है कि दुनियामें सबसे बड़ा दानी महाकंजूस है। सबसे बड़ा दानी इसलिए है कि एक पैसा भी वह खर्च न करेगा और मरते समय साराका सारा दूसरोंको छोड़कर चला जायेगा। वह महा-कंजूस कितना बड़ा दानी है। जो धन खर्च करते रहते हैं, अभी फलांको देना है, अभी फलां को देना है, इस तरहसे सब खर्च कर डालते हैं, पर जो कंजूस दूसरोंको धन देना जानता ही नहीं है और अंतमें इकट्ठा सब दे जाता है तो वह कितना बड़ा दानी है। अरे मरने पर साथ में कौन ले जा सकता है? अगर सब ले जाया जा सकता होता तो वह कंजूस

उसे भी न छोड़ता। अरे भाई कितना बड़ा अन्याय हो रहा है। धन तो परभवमें संग जा ही नहीं सकता है। इसीसे तो वह कंजूस अन्तमें गम खाता है। अगर धन भी साथ-साथमें जाता होता तो वह कंजूस गम न खाता। अरे साथ जानेकी बात तो छोड़ो अपना ही कुशल नहीं है कि हम मरकर क्या बन जावें ? अपनी तो कुशलता नहीं है। आज मनुष्य हैं तो कल पता नहीं क्या हो जावेंगे ?

कल्पनाका जो जाल है उसे कम करना चाहिये और ज्ञानतत्त्वमें अपना उपयोग देना चाहिये तब जीव सुखी हो सकता है। जिस स्थितिमें परपदार्थोंका आश्रय नहीं लिया जाता वह स्थिति सुखद होती है और जिसमें परपदार्थोंका सहारा लिया जाता है, परपदार्थोंका आश्रय लिया जाता है वह स्थिति सुखद नहीं होती है। ये कल्पनाएँ चंचल हैं किन्तु चंचल होने पर भी यह किसीकी चीज नहीं हैं। निमित्त तो है अन्यका और ठहरनेकी जगह मिली आत्मामें, अगर एक ही के कारण उसमें ठहरें तो वे चंचल न रहें। ठहरने वाला भी वही हो और जगह भी उसकी हो तो कुछ समय ठहर सके। ठहराने वाले हैं कर्म और जगह मिलती है आत्मामें किनको ? कल्पनाओंको। इसलिए वे सब कल्पनाएँ ही हैं और नष्ट हो जाती हैं। न आत्माकी बनकर रहती हैं और न कर्मोंकी ही बनकर रहती हैं।

जैसे यह छाया है चौकीपर तो इस छायाकी क्या कीमत है ? हाथके निमित्त से यह छाया हुई और चौकी पर हुई, मगर वह छाया हाथ पर होती तब गनीमत थी। जैसे हाथमें रूप है, रस है, पर यहाँ छायाका निमित्त तो है हाथ और हुई है चौकी पर तो कुछ कुशलता नहीं है। मिटने के लिए जा रही है। इसी तरह रागद्वेषकी कुशलता खुद नहीं है। क्रोध कषाय प्रकृतिके निमित्तसे क्रोध हुआ और हुआ है आत्मामें, तो उसकी कुशलता नहीं है। जो स्वयं मर मिटने वाला है, अशरण है, अध्रुव है उससे प्रेम करते हैं, उसका गर्व करते हैं, अहंकार रखते हैं कि यह मैं हूं, बस यही अज्ञान है।

भाई ! एक कहावत है कि 'गले पड़े बजाय सरे' बोलते हैं ना ? जैसे ५–१० मित्र फिर रहे हो, आपसमें मजाक कर रहे हों। एकने दूसरेके गलेमें ढोल डाल दिया, मानो मजाक किया कि वह झेंप जाये। जिसके गलेमें ढोलक डाली वह भी चतुर था, उसने दो डंडे उठाये और ढोलका बजाना शुरू किया। इसका अर्थ यह निकला कि जो गलेमें ढोलक डाले है वह नेता है। उनका वह नेता बन गया। झेंपाना तो दूर रहा। जिसने गलेमें ढोल डाल दिया वह खुद झेंपकर रह गया। जिसके गलेमें ढोलक डाली उसने समझा कि बजा दें, नहीं तो धों-धों हो जायेगी। इसी तरह ये सब समागम जबरदस्ती हो रहे हैं। ठण्ड नहीं सह सकते, भूख नहीं सह सकते, प्यास नहीं सह सकते, पंचेन्द्रियके विषयभोग बिना नहीं रह

सकते, ऐसा आज समागम मिल गया है इससे बरबादी है। मगर ज्ञानी पुरुष वह है जो गृहस्थीमें रहकर भी अपना कल्याण करे। अरे यह गृहस्थी गले मढ़ दी गई तो गले पड़े बजाय सरे।

अब गृहस्थी मिल गई है तो पालन किये ही पिंड छूटेगा। तो ठीक है, मगर भीतर में अपनी करुणाके लिए, अपनी अनाकुलताके लिए यह समझना चाहिये कि ये सब मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ भी अगर स्वाहा हो जाए तो हो जाये, मगर शोककी कोई बात नहीं है। मगर शुद्ध ज्ञान यह अवश्य हो जाये कि मेरा कुछ नहीं है, मैं क्यों शोक करूँ, मुझे शोक नहीं होना चाहिये। इतनी हिम्मत ज्ञानी गृहस्थके होती है। इसी कारण वह कल्पनाएँ नहीं बढ़ाता और जो होता है उसका ज्ञाता दृष्टा रहता है। वह कल्पनाओंकी चंचल तरंगोंसे अगर छूटे तो शांति मिल सकती है। उसमें ही यह जीव आनन्द पायेगा जिस निर्विकल्प स्थितिमें किसी परको यह उपयोगरूपी आसनमें किसी पर मैलको स्थान नहीं देगा। किसी परतत्त्वको हम अपने उपयोगमें नहीं रखें तब वहाँ यह निज प्रभु प्रसन्न रहेगा। मित्रके दुश्मन से बोल दो तो मित्रका प्यार नहीं रहेगा। मित्रके दुश्मनसे अगर राग बढ़ाते हो तो मित्रका हृदय तुममें न रहेगा। इसी तरह चैतन्य प्रभुके बैरी कषायोंको अपने आपमें बुलाते हो तो वह चैतन्य प्रभु तुमपर कृपा नहीं कर सकता है। तो इन चंचल कल्पनाओंको छोड़कर अपने स्वभावके दर्शन करो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

इदं सुखमिदं दुःखमज्ञस्यैव हि कल्पना।
स्वच्युतो सर्वकः क्लेशः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३४॥

कहते हैं कि यह सुखी है और यह दुःखी है ऐसी कल्पनाएँ अज्ञानी जीवके ही होती हैं। ज्ञानी जीव तो उन सब बातोंमें क्लेश समझते हैं। जो-जो बातें अपने स्वाभावसे च्युत होने के समय होती हैं। चाहे वह सुख हो, मौज हो, विषयोंका आनन्द हो वह सब उसके लिए कष्ट मालूम होता है क्योंकि यह मौज कब तकका मौज है? कहते हैं ना कि चार दिनकी चाँदनी फिर अंधेरी रात। कितने दिनके आनन्द हैं, किसमें मोह हो रहा है? स्त्री है, पुत्र है, परिवार है, यह सब क्या है? जैसे स्वप्नमें देखे हुए दृश्य सही मालूम होते हैं वैसे ही राग-द्वेषकी बातें सही मालूम हो रही हैं। यह दुःख तो रागसे ही होता है। परमार्थसे यहाँ कुछ भी चीज सारकी नहीं। यहाँ तो सब अंधेरेमें रखने वाली चीजें हैं। प्रगतिके मार्गमें वे सब इस जीवके लिए घाटियाँ हैं।

जो लौकिक विवेकी पुरुष होता है वह बहुत भविष्य की सोचता है। यहीं देख लो घर गृहस्थी में जो एक जिम्मेदार गृहस्थ होता है वह आगे तककी सब बातें सोचता है।

और यहाँ तक कि गाँठमें दो हजार भी हों तो उनको भी खर्च न करेंगे। ५ साल, १० साल जो ब्याज होगा उसीसे अपना गुजारा करेंगे। हिसाब अगर लगावो तो ज्यादासे ज्यादा १० वर्ष और जीवेंगे। बूढ़े हो ही गये हैं। हजार भी एक सालमें खर्च करें तो १० सालमें १० हजार ही हुए। पर बहुत दिनोंकी सोचते हैं कि यह रकम बनी रहे तो अंतमें सब दान कर देंगे। परमार्थसे विवेकी लोग बहुत ऊंचा सोचते हैं कि ऐसा उपाय बना रहे कि जिससे अनन्तकाल तक आनन्द चले, क्लेश न सहना पड़े। जब ऐसा चित्तमें बन सके तो विषय प्रसंगोंके जो मौज हैं वे भी उसे फीके लगने लगते हैं वह समझता है कि ये पराधीन हैं, कषाय देनेके लिए हैं। ये तब तक रहते हैं जब तक कि दूसरोंका मन साधे रहें। दूसरोंकी जरूरत पूरी करते रहें याने दूसरोंके नौकर बने रहें तब तक यह मौज है। इन मौजोंसे वर्तमानमें उन्नतिमें बाधा है और आगे तो कुछ मिलता ही नहीं है। ऐसे ही विषय-भोग हैं जिनके कारण सब फीके लगते हैं। चाहे सुख हो या दुःख हो सभीमें क्लेश हैं, क्योंकि स्वभावसे च्युत होनेकी अवस्था है ना? उसीमें सुख और दुःख प्रतिभास होता है। तो यह सुख है यह दुःख है, यह अज्ञानकी ही कल्पना है। ज्ञानी तो उन सुखोंसे अलग रहकर स्वभावके दर्शनमें ही मस्त रहना चाहता है।

भैया! सुखमें भी क्लेश समझे कोई तो वह बड़ा ज्ञानी पुरुष हो सकता है। अच्छा आय है, दुकान है, सर्विस है, लोगोंका सम्पर्क है, लोग बड़ा मानते हैं, अच्छे साधन है, रईसी ढंगसे रहते हैं, ऐसे भी साधन उस ज्ञानीको विष लगते हैं, बेकार लगते हैं, उसे कुछ जंचते नहीं हैं, क्योंकि उसने तो सत्य स्वरूपके आनन्दको समझ लिया है कि उसका वास्तविक रूप सिद्ध समान है। वह ज्ञानी पुरुष इस विषयोंके बहकानेमें लग नहीं सकता। यह सुख तो एक कर्मके आधीन है। उदय हो तो मिले। उदय उसका अनुकूल नहीं है तो कैसे सुख मिल सकता है? पुण्यका उदय बड़ी चीज है या ज्ञानका रसास्वादन बड़ी चीज है। पहले भी देखो अनन्त साधु हो गये जिनको उनकी जिन्दगीमें जानने वाला भी कोई नहीं था। जो मोक्ष गये हैं उनमेंसे कितने साधु ऐसे हैं कि उनको जीवनमें यश नहीं मिला, इज्जत नहीं मिली, पूछने वाला भी नहीं मिला, दुःखोंमें ही उनकी जिन्दगी बीती, उपसर्गमें ही जिन्दगी बीती, ऐसे भी बहुतसे साधु हुएहैं। सबसे महान जो वैभव है, मूल्यवान चीज है वह ज्ञानका आनन्द है वह उन साधुवोंमें था।

जैसे व्यवहारमें भी लोग कहते हैं ना कि हम तो अपने घरके बादशाह हैं, दूसरोंसे क्यों दबें? वे अपने घरके बड़े होंगे, हम अपने घरके बड़े हैं, हम क्यों दबें? सब अपने-अपने घरके राजा हैं। ऐसी बात सोचकर कोई दूसरेके आधीन नहीं होना चाहता है। सभी अपने-अपनेस्वरूपमें परमात्मा हैं, प्रभु हैं सब कुछ हैं, किन्तु दूसरोंकी आशा लग जाये, दूसरों

का मुँह ताका जाये, दूसरोंके आधीन रहा जाये यह तो ठीक नहीं। अरे दूसरोंको परेशान करनेके लिए क्यों नाना यत्न किये जायें? अच्छा होना भी उल्टा असर है। अगर किसीके मनानेका यत्न करो, राजी रखनेका उपयोग करो तो वह समझता है कि वे मुझे मनाते हैं, तो राजी मुश्किलसे होता है और कोई उसके मनानेकी बात न करे, उसको राजी रखनेकी बात न करे तो वह खुद चाहेगा कि भाई किसी दिन कुछ बोल दें, किसी दिन कह दें तो हमारा भाग्य है। किसीको खुश रखनेका यत्न करो तो वह कठिनाईसे होगा और समतासे अगर रहें, किसीको खुश करनेका यत्न न करें तो दूसरे लोग उसके दर्शनसे खुश हो सकते हैं। अपने यथार्थ काममें लगना ही बुद्धिमानी है और अन्य काम तो स्वयं अपने आप होते हैं।

दो आदमी थे। उनमें विवाद हो गया कि भाग्य बड़ा है या पुरुषार्थ बड़ा है। तकदीर बड़ी है कि तदबीर बड़ी है। तकदीर भाग्यको कहते हैं और तदबीर पुरुषार्थको कहते हैं। तो दोनोंमें विवाद हुआ सो राजा तकके पास मामला पहुंचा राजाके दरबारमें तो यह होता है कि पेशी लग जाती है। जब राजाके यहाँ मामला आया तो मालूम हुआ कि कलकी पेशी है। राजाने नौकरोंको आज्ञा दी कि इन दोनोंको ऐसी कोठरीमें बंद कर दो कि जहां कोई न आवे। और वहाँ किसी गुप्त जगहमें दो लड्डू छुपाकर रख दो किसी आलेमें ऊपर और दोनोंको कोठरीमें बंद कर दो। अब दोनों भूखों मरें। पेशी दो दिन बादमें रखी। तकदीर वाला सोचता है कि अगर तकदीर होगी तो कुछ मिल जायेगा। तदबीर वाला क्या करता कि वह इधर-उधर खोजता कि चाहे घास ही मिल जाये खा लेवें। तदबीर वाला जब खोजते-खोजते ऊपर बढ़ता है तो दो लड्डू मिल गये। तकदीर वाला बैठा रहा तदबीर वाला बोला—देखो मैंने पुरुषार्थ किया, तदबीर किया तो दो लड्डू मिल गये। फिर उसके दया आई, कहा—अच्छा भाई जो विवाद है उसे मैंने माफ किया, तू भी खा ले जिससे पेट भर जाये। दोनोंने खूब खाया। अब दोनों ही पेशीमें हाजिर हुए। राजा बोला—तुम दोनों पर दो दिनमें क्या गुजरा? तदबीर वाला बोला—महाराज यह तकदीरमें ही बैठे रहे और भूखों मरे। हमने तदबीरकी तो खुद खाया और इनको भी खिला दिया। तो तकदीर वाला कहता है कि अगर मेरी तकदीर न होती तो लड्डू कहाँसे मिल जाते? तुमने खोजा हमारी नौकरी की, हमारे नौकर बने तो तुमने नौकरी खोजी और हमें बैठ ही बैठे मिल गये।

भैया! ये जो संसारके काम हैं, जिनकी हम आप चिन्ता रखते हैं। यह नहीं ध्यानमें लाना है कि हम बच्चोंका पालन करते हैं। यह तो भाग्य है। देख लो, गृहस्थीमें बाप से बढ़कर पुत्रोंका भाग्य निकलता है। बाप की परिस्थिति ऐसी है कि वह अनपढ़ है,

गरीब स्थितिमें है, समाजमें उसकी कुछ नहीं चलती। किन्हीं-किन्हींको देख लो कि बापके जिन्दा रहते हुए ही लड़के बापसे अच्छे रहते हैं। बच्चा हो, बच्ची हो, माँ हो, स्त्री हो, सभीकी तकदीर है तो सभीका भरण होगा, पोषण होगा। वैसी ही बात बनती, फिक्र किसका करना है ? अच्छे साधन मिले हैं, अच्छी बुद्धि मिली है। यह क्षण बड़ा कीमती है। यहाँ अपने परिवारकी फिक्र करनी है या अपने आत्महितकी फिक्र करनी है। परिवारकी फिक्र यों नहीं करनी है कि भाग्य तो परिवारके लोगोंके साथ भी है, मगर आत्महितकी बात तो खुद करनी पड़ेगी। उसमें परिवारका भाग्य मदद नहीं करेगा। वह तो अपनी ज्ञानकी स्थिति पर निर्भर है। सो आत्महितकी फिक्र करो। इसमें एक उत्कृष्ट तत्त्वका अनुभव होता है, ज्ञानरसका स्वाद मिलता है। विषय कषायोंके रस इस स्वादके आगे फीके मालूम पड़ते हैं।

दूसरी बात यह है कि लोकमें रहने वाले ये अज्ञानी जीव बड़ी विपत्ति पा रहे हैं। शरीरका बन्धन है, कर्मोंका बन्धन है, अशुद्ध पर्यायमें हैं, अशुद्ध स्थितिमें हैं, बड़ी विकट आपत्ति है। जो उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्द है, उससे हम दूर हो रहे हैं। उसको हम पा नहीं रहे हैं। ऐसा अपनेमें बड़ा संकट दिख रहा है। तो देखा होगा कि जिस मनुष्य पर कोई बड़ा संकट आ जाता है तो उसके आगे मिठाई भी खानेको रखी जाय, बड़े अच्छे रिस्तेदार लोग मना-मनाकर खिलाना चाहते हैं सो भी उसे कुछ खाना-पीना नहीं सुहाता है। कल्पना करो कि कोई बड़ा इष्ट था, स्त्री या पुत्र एकदम गुजर गया, सो उसे इतनी बड़ी परेशानी रहती है कि कोई मनाकर भी बढ़िया मिठाई, पकवान खिलावे तो भी ये सब कुछ उसे नीरस लगते हैं कि नहीं ?

इसी प्रकार ज्ञानी अपनेको बड़े संकटमें देख रहा है। कर्मका बन्ध है, शरीरका बंधन है तथा और भी मानसिक व शारीरिक व्याधियां लगी हैं। आज मनुष्य है न चेते तो कल इससे भी दीन दशा मिल सकती है। और कदाचित् असंज्ञी हो गये याने चींटा चींटी हो गये तो फिर सब उत्कर्ष धरा रह गया। यहाँ तो सब प्रकारके प्रकाशकी स्थिति है, सत्संग है, मन्दिर है, धर्मध्यान है, शास्त्र है, किसी भी प्रकार ज्ञानके विनोदमें अपने समयका अच्छा गुजारा किया जा सकता है। क्या संकट है ? संकट तो यह लदा है कि उपाधिका बंधन है। ये निमित्तनैमित्तिक भावकी रगड़ें भी कैसी हैं ? संकट तो यही हैं। इतने बड़े संकटका समझने वाला ज्ञानी इन विषयोंके सुखको सुख नहीं मानता है, दुःख ही मानता है। किसी को अपने इष्टका वियोग हो गया तो खोवाकी जबलपुरकी बनी जलेबी भी अच्छी नहीं लगती है। चित्त तो इष्टकी ओर लगा है यही दशा ज्ञानी पुरुषकी होती है। उसे विषयोंके

सुख नीरस क्यों लगते हैं ? एक तो वह अपनेको संकटमें पा रहा है, दूसरे वह सुख भी कई गुणित ऊँचे आनन्दका अनुभव कर चुका है, ऐसे तुच्छ विषय रसोंके स्वादके लिए इसको चाह नहीं है। इस कारण जिनको अज्ञानी जीव सुख और दुःख मानता है उनको ज्ञानी जीव क्लेश ही क्लेश मानता है। तो उन सब क्लेशोंसे रहित होकर अपने ही आनन्दसे अपनेमें अनाकुल होऊँ।

नृत्वं कुलं मतिः सत्त्वं सत्संगो देशना व्रतम् ।
स्वस्थित्यर्थाय सन्त्यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥५-३५॥

कहते हैं मनुष्यभव मिला, उत्तम कुल मिला, उत्तम बुद्धि मिली, श्रेष्ठ बल मिला, सत्संग भी मिला, उपदेश भी मिलता है और व्रत भी करते हैं तो ये सब किस प्रयोजनके लिए हैं ? सबका प्रयोजन एक यह है कि आत्माकी स्थिरता हो जाये। ये सब बातें कितनी दुर्लभ हैं ? संसारमें लाखों योनियाँ, लाखों, करोड़ों कुल हैं जिनमें ये जीव मरते है, भटकते है उनमें एक मनुष्य ऐसा भव है कि जो सब भवोंमें उत्कृष्ट है। अभी ये पशु पक्षी हैं, ये अपने मनकी बात बता नहीं सकते, कोई बात बोल नहीं सकते, कोई विशेष चर्चा नहीं कर सकते या कुछ भी चर्चा नहीं कर सकते और मनुष्योंको देखो तो कैसी उनकी वाणी है, कैसा वे बोलते हैं ? दूसरोंको समझते हैं, दूसरेकी सुनते हैं अर्थ भी सुनते है और तत्त्वचिन्तन भी करते हैं। तो सब भवोंसे मनुष्यभव श्रेष्ठ है।

मनुष्य भी हो और उसमें हीन कुल वाला हो, जहाँ जिस जातिमें मांस मदिराका रिवाज हो, जीवहत्माको कोई घृणित काम न मानता हो, ऐसे नीच कुलमें उत्पन्न हो गये तो वहाँ धर्मसाधना क्या कर सकते हैं ? सो देखो अपनेको कुल भी उत्तम मिला। कुल भी उत्तम हुआ और बुद्धि न हुई तो बतलावो क्या वह अपना हित कर सकता है ? सद्बुद्धि भी होनी चाहिए। सो देख लो अपने बुद्धिमय स्वरूपको, विवेक करो, विचार करो। बुद्धि भी मिल गयी, किन्तु बल न हो तो दुर्बलताके कारण बुद्धि भी काम नहीं देती। सो देखो अपनेको बल भी मिला है। बल भी मिल गया, पर एक सत्संग न हो तो अटपट उपयोग बनेंगे। हम सबका दुरुपयोग करेंगे। सत्संग भी प्रायः मिला हुआ है। सत्संगकी बहुत बड़ी महिमा अन्य लोगोंमें भी गायी जाती है। सत्संगमें कथा होती है, शास्त्र होता, पूजन होता। सत्संगकी बड़ी महिमा गाई है सत्संगमें बसने वालेका उपयोग मलिन नहीं होता हैएक धर्म के लिए प्रेरणा मिलती है। सो अपनेको सत्संग भी मिल गया।

सब कुछ मिल गया, पर अगर उपदेश न मिले तो इससे कुछ भी सिद्ध न होगा। उपदेशमें ऋषियोंके वचनोंमें वह शीतलता है कि आन्तरिक संतापोंको दूर कर देते हैं। और

किसी चीजमें संतापको दूर करनेकी सामर्थ्य नहीं है। न चंदनका लेप इतनी शीतलता ला सकता है, न बड़ा शीतलाहार, न ठंडी हवा ही इतनी शीतलता ला सकती है जितनी शीतलता ऋषियोंके वचन पैदा करते हैं देशनामें बहुत बड़ी शक्ति है। देशनाके बिना तो सम्यक्त्व नहीं होता, चाहे किसीको अपनी देशना मिली हो। पूर्वभवमें उपदेश मिलते हैं उसके अगले भवमें भी बिना उपदेश दिये सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। तो उपदेशका भी बहुत बड़ा महत्त्व है। और व्रत, चारित्र; व्रतसे तो साक्षात् अपने आत्मामें स्थिर होनेकी प्रेरणा मिलती है। ये सब आत्मामें स्थिरता लानेके लिए हैं।

भैया! व्रतकी तो खास बात ऐसी समझो कि व्रत वही कहलाता है जो अपने आत्मा में अपनेको रमण करनेका मौका दे सकता है। नहीं तो ऐसा व्रत जो एक खाने-पीने और शुद्ध रहने तक सीमित हो उस व्रतसे क्या प्रयोजन निकला ? ऐसे व्रतसे शांति मिलनी तो दूर रही, और क्षण-क्षणमें अशांति हो जाती है। किसीने छू लिया तो क्रोध हो गया। किसी ने कुछ चौकेमें अशुद्धता लादी, कोई चौकेमें घुस गया, लो सब छोड़ दिया तो ये सब चीजें करना तो चाहिए, शुद्धता तो होती है, पवित्रता तो होती है, मगर यह ध्यानमें रखकर कि इतना जो हम ध्यान करते हैं, पवित्रतासे भोजन बनाते हैं तो इसका प्रयोजन यह है कि बहुतसे पापोंसे हम बच जायें और अपनी आत्मामें हम लग जायें। यह है व्रतका प्रयोजन न कि उसकी क्रिया ही कर-करके इस समयको बिता देवें और अपना जो आत्मध्यान है, आत्मज्ञान है उसको मौका ही न दें। तो ये सब जो प्राप्त होते हैं ये सब अपने आपमें अपने आपकी स्थिरताके लिए होते हैं। सो मैं अपने आपमें अपनेको स्थिर करूँ अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ।

रागिणो जन्मने मृत्युर्वीतरागस्य मुक्तये।
स्वस्थितेर्वीतरागत्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३६॥

मृत्यु तो सबपर आती है। आयुका क्षय होता है। आयुके दोषका नाम ही मृत्यु है। सो आयु एक पुद्गल कर्मकी प्रकृति और उपाधि है। सो यह उपाधि तो मिटेगी ही। आयु का तो क्षय होगा, मृत्यु भी होगी। मगर रागी पुरुषकी जो मृत्यु होती है, वह जन्मके लिए होती है। मरे तो फिर जन्म लिया, किन्तु वीतराग पुरुषकी, ज्ञानी परमसन्यासी आत्माकी एवं ऋषियोंकी जो मृत्यु होती है अर्थात् आयुका क्षय होता है, वह मुक्तिके वास्ते होती है। अरहंत भगवानकी आयुका क्षय है कि नहीं ? मनुष्य ही तो अरहंत होते हैं। परमौदारिक शरीर हो गया, चार घातिया दूर हो गये, उसका नाम है अरहंत। अरहंतके मनुष्यायुका उदय चल रहा है और उसके मनुष्यायुका उदय खत्म होता है तो उसके बाद फिर नयी

जन्म नहीं होता है। उसके बाद तो मुक्ति ही होती है। रागी पुरुषकी मृत्यु तो जन्मके लिए है और वीतरागी पुरुषको मुक्तिके लिए है तो वीतरागता कैसे प्रकट हो कि जिसके बाद फिर कभी जन्म मरण न हो, वह स्वास्थ्यसे होता है।

भैया ! अपनेको अपनेमें अपने आप समा लेनेसे वीतरागता प्रकट होती है। सो इस जीवनमें यह ध्यान होना चाहिए कि मेरा जो शुद्ध स्वरूप है, मेरा जो कुछ भी स्वभाव है, वह मेरे उपयोगमें रहे और इसका ही विकास बने। जगत्में मुझे अन्य कुछ भी चीज नहीं चाहिए। धनसे सुख नहीं होता धनसे सुख होता तो जितने भी धनिक लोग हैं, फिर उनको कोई आकुलता नहीं होनी चाहिए। अरे! धन तो परपदार्थ है। धनसे सुख तो होगा क्या, किन्तु धनका उपयोग आ गया तो उससे दुख स्वयं हो गया। सुख तो धनसे होता ही नहीं है। धन अगर बन गया तो दुःखका कारण ही बन गया। धन सुखका कारण नहीं बनता है और नामवरी, ख्याति ये चीजें भी सुखके लिए नहीं हैं। जिसकी जितनी नामवरी है, ख्याति है, उसको उतने ही अधिक क्लेश हो गये हैं। क्योंकि कोई अचानक बात बिगड़ जानेपर वह नामवरी वाला पुरुष अपने आपकी हत्या भी कर सकता है। अब इस दुनिया में क्या मुँह दिखायेगा ? जिसने अपनी ख्याति सारी दुनियामें कर ली हो, वह यही सब कुछ सोच करके अपनी हत्या तक भी कर डालता है।

भैया ! एक बात ऐसी बनारसकी सुनी भी गयी। एक बहुत बड़े पंडित थे, वृद्ध हो गये, बड़ा अनुभव था, फिर भी वे रातों रात दीया जलाकर याद करते थे। पुस्तक ही पढ़ो करते थे। तो कुछ लोगोंने आकर पूछा कि पंडित जी आप तो इतने बड़े विद्वान हैं का आपकी विद्ववत्ताका यश आस-पास सभी जगह फैला है, तुम्हें और क्या चाहिए, जो तुम अभी तक रात-दिन पढ़ा करते हो। तो पंडित जी बोले कि देखो यदि हम विद्याको ताजी न बनाये रखें और किसीसे हमारा शास्त्रार्थ हो जाये और हम हार जायें तो कुवेंमें गिरने के सिवाय और कुछ चारा नहीं होगा। अपनी विद्ववत्ताकी छाप इस नगरमें लिए हूँ, अगर किसी समय शास्त्रार्थमें हार जायें तो जिन्दा कैसे रह सकते हैं ? कुछ दिन बाद हुआ भी ऐसा ही। एक नवयुवक विद्वान्ने, छोटी ही उम्र वालेने शास्त्रार्थ किया। किसी एक बात का उत्तर देनेमें पंडित जी चूक गये याने पंडित जी हार गये तो दूसरे दिन फिर उनका शरीर नहीं मिला। उन्होंने कुवेंमें गिरगर अपनी हत्या कर ली।

कीर्ति व धन से क्या सुख है ? सुख किसी भी परतत्त्वमें नहीं है। सुख तो मोह दूर करनेसे है। मोह दूर करो और अब खूब सुखी हो लो। सुखी होनेका उपाय मोहका नाश कर लेना है। पर वह मोह मिटे कैसे ? तो मोह मिटनेका उपाय वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञानकर

लेना है। कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुमें कुछ नहीं लाती है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने सत् में है, वह अपने आपमें ही अपना अस्तित्व बनाये है। किसीके सत्त्वके कारण किसी दूसरे पदार्थमें सत्त्व नहीं है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका रक्षक नहीं है। सब हैं और परिणमते हैं। इसके आगे किसी पदार्थका किसी अन्यसे कोई ताल्लुक नहीं है, ऐसा वस्तुस्वरूप यदि हम देखें और उन पदार्थोंका निर्णय करें तो बहुतसी आपत्तियाँ अपने आप शांत हो जावेंगी। आपत्तियाँ तो मोहसे प्रकट होती हैं। मोह नष्ट हो तो आपत्तियाँ भी नष्ट होंगी। इस कारण तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी यदि हमने आत्मस्वरूपका यथार्थज्ञान पा लिया है तो वह तन, मन, मन, धन, वचन क्या चीजें हैं? अगर दूसरोंके उपकारमें लग सके तो भला है। सो सब कुछ न्यौछावर करके भी अपना आत्मज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। इस आत्मज्ञानसे ही आनन्दकी प्राप्ति होगी। जितने भी धर्मकार्य किए जाते हैं या व्रत, संयम किये जाते हैं वे सब अपने आपकी आत्मा में रमण करनेके लिए किये जाते हैं। ऐसा जो नहीं करते वे इस संसारमें रुलते फिरते हैं।

वर्षाद्यं नूतनं लोके तत्त्वतस्तत्त्वबोधनम्।
स्ववृत्तिर्यत्र तत्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३७॥

इस लोकमें नया दिन किसे बतलाते हैं? जो सालका पहला दिन हो। जैसे–१ जनवरी, उसे नया दिन बोलते हैं या हिन्दीके महीनोंमें कार्तिक सुदी एकमको व चैत्र सुदी एकमको नया दिन कहते हैं। तो लोक व्यवहारमें सालके प्रथम दिनको नया दिन कहते हैं। मगर हमारा और तुम्हारा नया दिन कौनसा है? जिस क्षण तत्त्वज्ञान होता है वही अपना नया दिन है और वह तत्त्वज्ञान क्या चीज है कि अपने आपकी अपने आपमें समझ हो जाना यही तत्त्वज्ञान है। नया दिनके मायने हैं कि कुछ अपूर्व बात मिले और अपूर्व बात तो वही है कि ऐसा ज्ञान जगे कि जिसमें मोहका ध्वंस हो जाये।

इस जीवको विपत्ति केवल मोह है और कुछ विपत्ति नहीं है। सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं, सभी पदार्थ अपने आपमें परिणमते हैं। किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थमें कोई गुण पर्याय प्रभाव, असर कुछ नहीं आता है। पदार्थ ही स्वयं परका निमित्त पाकर अपना विभावरूप असर अपने प्रति बना डालता है। सब मामला ठीक है, सब बात व्यवस्थित है, सब है, हम हैं, सब न्यारी-न्यारी बातें हैं, लेकिन ऐसा भाव हो जाना कि यह मेरा है, ऐसा परिणाम जागना, ज्ञान करना, यह बहुत मलिनताका परिणाम है, अज्ञानमय भाव है। यह परिणाम मिट जाये और ज्ञानका उजेला जग जाये, वही अपना नया दिन है और

बाकी तो सब वही कीचड़ है, वही प्रसंग है, वैसा ही रुलना है, उसमें कोई सारकी बात नहीं है। सो अपने आपका ज्ञान हो और ज्ञानमय स्वरूपको देखनेका उपयोग हो तो वह अपने कल्याणकी बात है। सो इसका यत्न क्या है ? पदार्थोंके स्वरूप सीमाको देखना। यह है तत्त्वज्ञानका यत्न।

पदार्थ कितना होता है, यह ध्यानमें हो तो वस्तुस्वरूप उपयोगमें आता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु पृथक् है, भिन्न है, यह बात तब समझ में आयेगी जब वस्तुकी स्वरूपसीमा नजर आवे कि पुद्गल परमाणु इतना होता है वह गुणमें ही रहता है। इस ही प्रकार स्वरूपसीमा ज्ञानमें रहे तो वहाँ मोहका विकल्प नहीं होता है। क्या मेरा है ? वे भिन्न हैं। मृत्यु हो गई तब तो कुछ पता नहीं कि मरकर कहाँ पहुँचें, किस जगह जायें तो इतनी जिन्दगीमें, इतनेसे जीवनमें परपदार्थोंके साथ सम्पर्क बनाकर, सम्बन्ध बढ़ाकर अपने आपको सदाके लिए दुःखके गर्तमें डाले रहना चाहते हो। वस्तुकी स्वरूपसीमाको देखो। यह स्वरूपसीमा उपयोगमें अच्छी तरह आ सकती है। यह भी तो एक ज्ञेयतत्त्व है। जैसे इन पदार्थों के जानने की कोशिश करते हैं तो ये पदार्थ जाननेमें आते हैं। इन पदार्थोंकी स्वरूपसीमाको जाननेका यत्न किया जाये तो क्या यह जाननेमें नहीं आ सकेगा। बस रुचिकी बात है।

भैया ! जीवमें तो बड़ी सामर्थ्य है, कुछ भी कर डाले, भला कर डाले, बुरा कर डाले, सिद्ध बन जाये, निगोद बन जाये, पशु-पक्षी बन जाये। सामर्थ्य तो इसमें विचित्र है। बस एक रुचि चाहिए। सब रुचिके परिणाम हैं। तत्त्वमें रुचि हो, बाह्य वस्तुवोंको विषयभूत बनाकर अपने आपके विभावमें रुचि हो तो संसारमें भ्रमण करता रहेगा। सब रुचिका परिणाम है। जैसी रुचि हो तैसा अपने को बना लो। इस जीवमें सामर्थ्य बहुत है। एक मनुष्य है और वह निगोद मानो बन गया, प्रदेश आकार भी बदल गया, भाव भी बदल गया, गति भी बदल गई, इस प्रकारकी रचना हो जाना यह क्या सामर्थ्यकी बात नहीं है ? अपनी शक्ति को पतनकी ओर लगा दो, पर सामर्थ्य बिना तो निगोद नहीं हो सकता है। खोटी योग्यता बनाई या अच्छी योग्यता बनाई। जो मनुष्य संयम करके सिद्ध हो जाते हैं वह भी एक सामर्थ्यका फल है। जिसने अपना विकास किया तो उसने सामर्थ्य से ही अपना विकास किया। तो सामर्थ्य तो जीवमें पूर्ण है। बस रुचिकी बात है। जैसी रुचि करो तैसी अपनी दृष्टि बना लो। तो अपना चिन्तन कैसे हो जिससे कि हम बाहरी पदार्थोंके चिंतन से छूटें। इन बातोंको कहते हैं कि—

स्वयं यत्कर्तुमायाति तत्कृतौ न विपत्क्वचित्।
अन्यथा क्लेशता तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–३८॥

जिस समय स्वयं जो कुछ करनेको आता है वह आवे, उसके करनेमें कहीं विपत्ति नहीं अर्थात् विपत्तियाँ सम्यक् श्रद्धाके विपरीत कार्य करनेमें होती हैं। विपत्तियाँ अपने आप ही होती हैं। एक काम करनेके बाबतमें इच्छा उत्पन्नकी और उस इच्छाके साथ ही उस कार्यमें जुट गये तो इससे तो विपत्तियाँ हैं, क्योंकि इच्छा ही विपत्ति है। इच्छा और संकटों में पड़ गये। तो जो स्वयं अपने आप करनेमें आता है आवे। उसके करनेमें कोई विपत्ति नहीं है। परन्तु जो इच्छा करके, हठ करके बाह्य पदार्थोंमें झुककर जो बात आ जाती है उसमें विपत्ति है। जो ये संन्यासी अपनी समाधिमें धर्मसाधनामें लगा रहे हैं, इस स्थितिमें भी कितने ही रागद्वेष उस आत्माके अन्दर चलते रहते हैं, मगर वह अशुद्धि पूर्वक है। जो बुद्धि पूर्वक परिणमन चलाता हो, उसके कारण इसमें विपत्तियाँ होती हैं।

भैया ! जो स्वयं करनेमें आवे तो आओ, उससे विपत्तियाँ नहीं हैं। किन्तु जो होता है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, उस जातिका कर्म विपाक है और आत्मबुद्धिमें उस प्रकारका विभाव परिणमन हो, किन्तु उपयोग तो शुद्ध तत्त्वके ध्यानमें है, ज्ञानस्वभावके ज्ञानमें है। तो यह परिणमन इसको दुःखी नहीं करता। इसकी तो जानकारीमें ही वह कषाय नहीं आया या उसके ज्ञानमें रागद्वेष नहीं आये तो इसका बिगाड़ करेगा ही क्या ? स्वभावको मेरेमें देखो, विपत्तियाँ नहीं हैं। विपत्तियाँ तो हम आपने स्वयं अपने अज्ञानसे अपने आपपर मोल ले ली हैं। विपत्तियाँ कुछ नहीं हैं। परपदार्थोंसे जो बोलेगा वह फंस जायेगा। किसीने स्नेह की थोड़ी भी प्रवृत्तिकी तो बंध गया। हम जब अपने ज्ञानस्वभावसे हटकर इन बाहरी बातों में लगते हैं तो हम सबको क्लेश ही क्लेश होते हैं। दूसरा हमें कौन सुखी करता है ?

यह ज्ञान अमृत है, ऐसा मनमें निर्णय करो कि मुझे जब भी दुःख होते हैं तो मेरे ही अपराधसे होते हैं। दूसरेके कहनेसे, दूसरेके कसूरसे, दूसरेकी मूर्खतासे या दूसरोंकी किसी प्रकारकी परिणतिसे हमें दुःख नहीं होते। जब भी मुझे दुःख होते हैं, अपने ही कसूरसे होते हैं। सबसे पहले देखो तो दुःख बात सुननेसे है।

इन्होंने ऐसा क्यों कह दिया ? अब देखो व्यर्थकी चीज है, वह मलिन है। जो कहता है बोलता है, वह कम्पन भी इसमें नहीं है। मगर पर्यायबुद्धि तो है। दस जनोंमें अपने इस पर्यायका महत्त्व तो रखना चाहता है। अपनी आत्माका महत्त्व नहीं रखना चाहता, किन्तु इस पर्यायसे लोगोंके बीच महत्त्व रखना चाहता है। सो जो महत्त्वाकांक्षा है, वह नाना विपत्तियोंको बना देती है। बड़ेसे बड़े उपसर्ग हों, शत्रु शस्त्रसे छेद दे, सिंह शरीरको छेद दे, अचानक हो कठिनसे कठिन विपत्तियाँ आ जाती हैं। क्या उन सब विपत्तियोंसे भी बहुत अधिक बड़ा उपसर्ग है जिसमें हम इतना अधिक घबड़ाते हैं ? नहीं।

हम अपने आपमें बसें और बाहरी जितनी बातें होती हैं, उनकी हम उपेक्षा करें तो ऐसा अपने आप होने वाली बातोंमें कोई विपत्ति नहीं। जैसे बरसातके दिनोंमें जब कि एड़ी तक कीचड़ रहती है, वहाँ जब चलते हैं तो चलनेमें सदा अपने आपको सावधान बनाए हैं। यदि जरा भी असावधानीकी ओर पैर जरा भी सरका तो वह सरकता चला जायेगा और इस कीचड़में गिर पड़ेंगे। इसी तरह जब हमें ज्ञानसे हटना है, अज्ञान और कषायों में लगना है तो जरा भी हटे और जरा भी विकल्पोंमें लगे तो वह लगना बढ़ता जाता है। उससे हम मुक्ति नहीं पा सकते हैं। इस कारण ऐसा ही ध्यान बने कि स्वयं अपने आप जो होता है, सो हो। बुद्धिपूर्वक हमें कुछ नहीं करना है। क्योंकि कुछ भी करनेसे हमको लाभ नहीं। सो कुछ करनेका विकल्प हटायें और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवें।

संयमेन नरा धीरो गंभीरः शल्यनिर्गतः।
संयमः स्वस्थितिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥५-३६॥

संयमसे मनुष्य धीर होता है। संयमसे मनुष्य गम्भीर होता है, निःशल्य होता है और सुखी होता है। आत्मामें भली प्रकारसे स्थित हो जानेको संयम कहते हैं इसका नाम संयम है और इस संयमके लायक हम बने रहें। ऐसी प्रवृत्ति करनेका नाम भी संयम है। शुद्ध खाना, विषयोंका त्याग करना, अनशन करना, परिग्रह त्याग करना, तपस्या करना, ये सब संयम होते हैं। इन सभी प्रवृत्तियोंमें रहने वाले लोग अपने अन्तरंग संयमका पालन कर सकने की योग्यता रख सकते हैं। जो विषायासक्त हैं, कषायमें लीन हैं, मांसभक्षी हैं, मद्यपायी हैं, अन्टसन्ट इधर उधर बोला करते हैं, ऐसे जन क्या आत्मामें स्थिर होनेका यत्न कर सकते हैं? नहीं कर सकते। इस कारण वे सब संयम कहलाते हैं, जिनमें सभी परपरिणतियों से हटकर हम अपने शुद्ध चारित्रके पात्र रह सकें। सो ऐसा संयम जब होता है तब मनुष्य धीर होता है। अधीर तब होता है जबकोई क्षोभ हो। क्षोभ कब होता है? क्षोभ जब होता है, जब अपना कषाय बढ़ाया जाय। विषय कषाय कब बढ़ते हैं जब सत्यस्वरूपके उपयोगमें न रहें और उससे हट गये तो विषयकषाय बढ़ते हैं। तो धीर बननेका श्रेय संयमसे है।

संयमी पुरुष धीरवान् होता है और अधीरतासे कोई संयमी बातें करे तो वैसे भी व्यवहारमें शोभा नहीं देता है धीर कहते हैं कि 'धीं बुद्धिं राति ददाति इति धीरः।' जो बुद्धि दे, उसे धीर कहते हैं। समता हो, संयम हो तो इस प्रवृत्तिसे बुद्धि बढ़ती है, क्षोभ नहीं होता। संयमसे मनुष्य धीर बनता है और गम्भीर बनता है। गम्भीर कहते हैं गहरे और

अथाहको। दूसरेने कोई प्रतिकूल बात कही तो भी उसे क्षमा कर दिया, हृदय ऐसा ही गहरा होता है।

ये जगत्के जीव हैं, परिणते हैं, ये ज्ञानरूप भी परिणमते हैं, विरोध भी किया करते हैं या हो जाता है। इसमें मेरी कोई हानि नहीं है। उसके भी ज्ञाताद्दष्टा रह सकें, ऐसी गम्भीरता संयमसे पैदा होती है और यदि विवेक साथ नहीं दे रहा है तो बाह्यसंयमसे तो क्रोध दूना बढ़ जाता है। कषाय दूनी बढ़ सकती है।

भैया ! यदि विवेक मदद नहीं देता तो द्वीपायन मुनिकी तरह हाल हो जाता है। उनको तैजस ऋद्धि नहीं प्राप्त हो सकती है। चाहे अशुभ ही क्यों न हो ? शुभ तैजस और अशुभ तैजस ऋद्धिके ये दो भेद हैं। कोई कषाय बढ़ जाये, विवेक न रहे तो उस ऋद्धिका फूटना अशुभमें होता है। सिद्धि तैजसकी है, चाहे अशुभरूपसे फैलाये चाहे शुभरूपसे। जिसमें विवेक है, संयम है, सत्यसमता है ऐसा मनुष्य गम्भीर ही रहता है। संयम जिसके है उसके शल्य नहीं है। संयम उसके ही होता है जिसके बराबर अपने ज्ञानस्वरूपका स्मरण होता है। जिसके कारण वह अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित रह सकता है। ऐसा ही मनुष्य तो शल्य-रहित होता है। शल्य क्या है ? तीन प्रकारके हैं—(१) माया, (२) मिथ्या और (३) निदान। मायामें है छल, कपट। मायाचार क्या है ? कहना कुछ और सोचना कुछ।

मायाचार व्यर्थ है। सोच तो रहे हैं कि दूसरेका बुरा हो, वह मिट जाये, पर दूसरे के लिए भला होता है। मायावी लोग ऊपरसे तो भली-भली बातें करते हैं, पर सोचते हैं कि वह मिट जायें। व्यवहारमें भी घरमें, समाजमें व्यर्थकी बातें बोलते हैं और सोचते कुछ तृष्णा की बातें हैं। ज्ञानी पुरुष ऐसे मायाचारसे दूर रहता है। उसको तो यह खबर है कि मुझे दुनियामें अन्य बात कुछ करने लायक भी नहीं है और न कुछ बढ़ाकर जाना है, सब कुछ यहींपर रह जायेगा। जितने भी पदार्थ हैं सब मिटने वाले हैं। सब यहींके यहीं रहते हैं। हम सबको सब कुछ छोड़कर जाना ही होगा। यहाँका कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है। फिर किसके संचयके लिए, किस-किसकी वृद्धिके लिए मायाचार किया जावे ? मायाचार करने वाला शल्यमें रहता है। घरमें मित्रने अथवा किसीने कुछ बोल दिया, किसीने कुछ कह दिया सो अन्दरसे छल-कपटकी वृत्ति मनमें रहती है तो वह धर्मध्यानका पात्र नहीं बन पाता है। अपनी करनी अपनेको पता रहती है। दुनिया जाने न जाने। अपनेको विदित रहता है कि खोटी करनीकी है, धोखेकी बात की है तो वह सब उपयोगमें है तो उसका शल्य रहा करता है।

दूसरा शल्य है मिथ्यात्व। अनेक धनिक जनोंको देखो, कितनी शल्य है कि अरे अब

तो यह लाखों करोड़ोंका धन छूट जायेगा। अब तो लाखों नये-नये कानून बन रहे हैं, पता नहीं क्या होगा? अनेकों बातें चित्तमें आती हैं। यह क्या है? यह सब मिथ्याशल्यके कारण दुःख है। सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आपको देखलो कि मैं तो इतना ही हूं। इससे आगे मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है, ऐसा अपने आपका अनुभव कर ले तो किसी भी स्थितिमें अपनेको दुःखी नहीं पावोगे, शल्यसहित नहीं पावोगे। दुःखी सुखी तो लोक ही है, सम्यग्दृष्टिके भी दुःख-सुख रहता है, पर वह सम्यग्दृष्टि उनमें विह्वल नहीं होता। दुःखी होना और बात है और विह्वल होना और बात है। वह तीव्र दुःखकी बात है। मिथ्यात्व एक शल्य है। वस्तुका जिसने सत्यस्वरूप नहीं समझा और अमुक पदार्थका अमुक मालिक है, अमुकका अमुक अधिकारी है, उसका यह है, उसका मैं हूं, इस तरहका जब विश्वास रहा तो शल्य रहता है, क्योंकि पदार्थ तो उसका है नहीं। वह तो अपने परिणामसे परिणम गया। उनकी तो हम कोई जिम्मेदारी नहीं रख पाते। पर सोच रखा है जिम्मेदार, सोच रखा है अधिकारी तो वे आपकी इच्छाके अनुसार नहीं चलते तो दुःखी होना पड़ता है।

जहाँ सत्यज्ञान है कि ये तो सब निराले हैं, मेरी इच्छाके अनुसार नहीं परिणमते हैं तो ठीक ही बात है। स्वभाव ही वस्तुका ऐसा है कि वे अपनी-अपनी विधिविधानसहित बातों में रहा करते हैं। इसका वह दुःख नहीं मानता है। देखा होगा कि अविवेकियोंको स्त्री पर, पुत्र पर जरा-जरासी बातोंमें क्रोध आता है, क्योंकि यह जानता है कि हम इनके मालिक हैं, ये हमारे अण्डरमें हैं। जैसा हम चाहें वैसा इन्हें करना पड़ेगा। सो उन बेचारोंको करना ही पड़ता है, पर सब बातें कैसे हो सकती हैं? पदार्थ तो भिन्न-भिन्न हैं सो कोई और प्रकारका परिणमन करता है और कोई और प्रकारका परिणमन करता है। दुनियामें बहुतसे पुत्र हैं, बहुतसे लोग हैं, बहुतसी स्त्रियाँ हैं। उनकी करतूतपर उनकी परिणतिसे कभी क्षोभ नहीं होता है। जब चित्तमें यह बैठ जाता है कि मैं इनका मालिक हूं तो सिवाय दुःख के और कुछ हाथ नहीं लगता। क्लेश ही उसके बोझमें आते हैं। जब सम्यग्ज्ञान होता है तब ये मिथ्यात्व शल्य आदि नहीं रहते हैं। समयग्दृष्टि पुरुष मिथ्यात्वसे रहित होता है।

तीसरा शल्य है निदान। निदानमें आगामी कालके लिए वाँछा बने सो निदान है। ज्ञानी जानता है कि समस्त पदार्थ जुदे हैं। जब जो चीज परिणमना है परिणमती है। उनका मैं कुछ हेर-फेर नहीं करता, उनका मैं परिणमन नहीं करता और फिर ये बाह्यपदार्थ सब मिलकर भी मेरे सामने स्थित हों तो भी उन बाह्यपदार्थोंसे मेरेमें कुछ नहीं आता है। मैं हूं और अपने आपमें आप बन गया। ज्ञानीके निदान शल्य नहीं होता। धर्म करो, मगर अच्छा भव पाऊँ, इतना संचय करूँ—ये बातें चित्तमें न लावो। वह तो समयपर छोड़ देना है कि

जैसा जो कुछ उदय है तैसा समागम होगा। हमारे सोचनेसे कुछ नहीं होगा। कौन प्रायः ऐसा नहीं चाहता है कि मैं कुबेर बन जाऊँ और यत्न करते हैं और होता क्या है ? तो ज्ञानी पुरुष वह है कि धन को भी हेय दृष्टिसे देखे, तुच्छकी दृष्टिसे देखे।

भैया ! जीवका धन है संयम, जीवका धन है ज्ञान और जीवका धन है श्रद्धा। जिसके कारण यह जीव सदाके लिए क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। मैं धनकी दृष्टि करूँ तो उसको तुच्छ दृष्टिसे देखूँ। मैं तो केवल ज्ञाता दृष्टा रहूं। ये जगत्के लोग जो नाम चाहते हैं, जो लोकमें अपनेको अच्छा कहलवाना चाहते हैं वे स्वयं दुःखी हैं। उनके कर्म मलीन हैं, पापमय हैं, मोहमय हैं। संसार भावमें लगे हुए हैं। ये कोई ईश्वर नहीं हैं जो मेरेको कुछ डरा दें, कुछ कर दें और ईश्वर भी हो तो मेरा कुछ परिणम नहीं कर सकते। मैं स्वयं जैसा सोच लेता हूं वैसा ही बन जाता हूँ। सो कोई बाह्य पदार्थ मेरे हितरूप नहीं हैं, इसलिए किसी भी पदार्थका निदान न हो। ज्ञानी वह सुखी रहता है जिसके किसी भी परपदार्थका निदान नहीं होता है। संयम और है क्या ? अपने आत्मामें स्थित हो जाना बस यही संयम है। इस संयम भावका आदर करके और जितने अपने आपमें यत्न बन सकते हैं उन समस्त यत्नोंको करके मैं अपने आपमें स्थित रहूँ, अपने सर्व वैभवको देखता रहूं कि यह मैं हूं और क्या परिणम रहा हूँ। इसके आगे यह अमूर्त ज्ञान ज्योतिमात्र मैं आत्मा कुछ भी नहीं करता हूँ ? सोचता हूँ, जानता हूं, इतना ही तो मेरा काम हो रहा है। इससे आगे और मेरी कोई करतूत नहीं है। सो बाह्यविकल्पोंको त्यागकर, अपने ज्ञान और आनन्दस्वरूपको देखकर अपने में ही स्थित रहूँ, और अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

यावद्दूरं कषायेभ्यस्तावात्धीरः सुखी बुधः।
आकषायः स्ववृत्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४०॥

जितना कषायोंसे दूर रहो, उतनी ही शांति है। मोक्षमार्ग प्रकाशमें बहुत वर्णन करते करते यह लिखा है कि कषायोंकी कैसी स्थिति है और लिखा है कि यदि सुखी होना है तो कषाय न हों। कषायोंका स्वरूप ही विह्वलता लिए हुए है, झंझट लिए हुए है कषायोंसे दूर होनेके लिए अन्तरङ्गमें ज्ञानरूप बहुत यत्न करनेकी जरूरत है। यों तो साधारण तथा सब कही सुनी बातें तो हैं ही। सब कहते हैं, पर उन बातोंसे अपना ही व्यवहार बने याने अपनेमें कषाय उत्पन्न न हों, इसलिए ज्ञानरूप भारी पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता है। तभी मनुष्य कषायों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

भैया ! जब सबसे तेज कषाय होता है तो वहाँ यह रहता है कि मैं चारके बीचमें हूं, ठीक हूं इत्यादि। इस प्रकाके कषाय, ये सबसे अन्तमें विनष्ट होते हैं। वे क्रोध भी छोड़

सकें, माया भी छोड़ सकें, मनमें गर्व करना व माया, लोभ इत्यादि जिसे कहते हैं आकांक्षा करना, उसे भी छोड़ दें, इसलिए इस तरह जो तरङ्ग उत्पन्न हो, मनमें उसे छोड़ दें तो धर्मका मार्ग सुगम है, नहीं तो बहुतसे नियम हो गये। धर्मके नामपर बहुतसे जलसे भी हो गये, पर भीतरमें पर्यायकी कामनाके विभाव नहीं कम हुए हैं तो यहाँ कुछ भी असर नहीं होता।

जो कल्याणार्थी पुरुष हैं, उनका कल्याणार्थ यह ही एक मार्ग है कि बाहरके सब जंजालोंसे हटकर अलग होकर कल्याणमय ज्ञानसुधासागरमें डुबकी लगायें। जैसे यमुना नदी में कछुवे बहुत रहते हैं। कछुवे कभी-कभी अपने शौकसे पानीसे बाहर मुँह निकालकर तैरते चले जाते हैं। जब वे कछुवे तैरते चले जाते हैं तो उन कछुवों पर हमला करनेके लिए पक्षी ऊपर मंडराया करते हैं। तो जब कछुवोंके ऊपर बहुतसे पक्षी मंडराकर आ गये चोंच मारनेके लिए तो कछुवोंको उनसे बचनेके लिए केवल एक ही काम करना है कि वे कछुवे पानीमें डुबकी लगा लें। जहां ४ इंच पानीमें डुबकी लगा ली तो उनके सारेके सारे उपद्रव समाप्त हो गये। इसी तरह बहिर्मुखतामें बड़े संकट हैं और मूल संकट बहिर्मुखता ही है। बाहरी चीजोंमें कोई संकट नहीं है। बाहरी पदार्थोंसे आत्मामें कोई बात नहीं आती। आत्मा ही अपना ख्याल बनता और उसके अनुकूल ही अपने संक्लेश करता है। पर बाहर से देखो तो बड़े संकट हैं, परिवारसे अपना उपयोग लगाये हैं, इधर-उधर भागते हैं, व्यापार में, रोजगारमें परेशान हैं, समाजमें, देशमें अपना उपयोग लगाये हैं और दुःखी होते हैं। संकट तो इस जीवपर बहुत पड़ रहे हैं। पर इस आत्माको तो केवल एक काम करना है, फिर सारे संकट विफल हो जायेंगे। उसे काम केवल यह करना है कि अपना जो सहज स्वरूप है अर्थात् जिस स्वरूपके कारण अपने आप जैसी हमारी परिस्थिति हो सकती है, बस उस परिस्थितिमें आ जायें याने इसका काम है केवल माननमात्र होना। उसमें और कुछ विशेष ऐसी स्थिति यदि बन सकती है तो वे सारेके सारे संकट विफल हो जाते हैं।

आत्महितके इस बड़े कामको करनेके लिए हमें बहुत बड़ा ख्याल करना चाहिए। यह चीज तो कहीं भी बैठे हों, लेटे हों, एकान्तमें हों, कुछ मनन कर रहे हों तो भी हो सकती है। नहीं तो मनुष्य हैं, सब बातें अच्छी हो रही हैं। पशुओंकी अपेक्षा, पक्षियोंकी अपेक्षा जंगली जीवोंकी अपेक्षा बहुत बातें तो ठीक चल रही हैं, पर परिणाम हमारा उत्तम न हो, मोहसे हटे हुए न हों, अपने स्वभावकी पहचान न हो और कषायोंके परिणाम ही रहें, बहिर्मुख दृष्टि ही रहे तो हमें इस मनुष्यभवको पाकर भी कुछ अच्छा परिणाम न मिला

भैया ! मरकर कहीं कीड़े मकोड़े बन गये तो मनुष्यभव पाकर भी क्या लाभ पाया ? अपने आपमें विचार करो कि यदि मरकर असञ्ज्ञी पर्याय बन गए तो क्या होगा।

तो फिर कुछ बडप्पन रहा क्या ? जिसने जब चाहा तब पेड़ काट डाला, जब चाहा पक्षियों को उड़ा दिया, जब चाहा तब जंगली जानवरोंका शिकार कर लिया।

भैया ! जरा जरासी बातोंमें क्रोध कर लिया, कषाय कर लिया, झगड़ा कर लिया। भिन्न-भिन्न भाव कर लेनेसे अपना भला नहीं। दूसरा कैसा ही दुःखी हो, पर अपना स्वार्थ सिद्ध होना चाहिये। ऐसी बातें होती हैं तो वे इसके लिए सब अनिष्टकी बातें हैं। हम तो हम हैं, हम ज्ञानमात्र हैं। समस्त द्रव्योंके बीच रहकर भी उन स्वरूपमें मैं नहीं हूं, उनमें मुझें नहीं रहना, आगे भी उनमें नहीं रहना है। किसी भी स्थितिमें रहें, यह ऐसा हमें ध्यान करना है और इसका सीधा उपाय है कि श्रद्धा सच्ची बने, उसमें कषाय न हों।

भैया ! इतना ही काम करना है। जैसा भी हो, अपनी श्रद्धा बनाऊँ और कषाय न करूँ। यह ज्ञान कर सकूँ, तो कुछ अच्छा रहे और भीतरमें यह काम न कर सके, तो जैसे रबड़ तानी जाती है तो किसी तादाद तक हो, किसी सीमा तक ही तन सकती है, नहीं तो टूट जायेगी। इसी तरह हम ज्ञानकी परिणतिमें शौक शान बनाकर ज्ञानमार्गमें, त्यागमार्ग में, कुछ सज्जन कहलानेके मार्गमें, कुछ समझ पर व्यवहारकी बोल-चालको बनाये रहें और भीतरमें कुछ परिणति ऐसी कर सकें कि कषाय न कर सकें और अपनी श्रद्धाको हम बना सकें तो लोग भले ही समझें कि बहुत अच्छा है, विद्वान् है, सद्व्यवहारी है या न भी समझें, पर अपने भीतरमें ऐसे ही भाव बनाने हैं।

भैया ! जैसा हम भीतरमें कर रहे हैं, उसीके अनुसार हमारा भविष्य होता है। दूसरोंके अनुसार हमारा भविष्य नहीं है। तो जितना हम कषायोंसे दूर रह सकें, उतनी ही शांति है, उतना ही आनन्द है। आनन्द शब्दकी व्याख्या है कि आत्मामें सर्वसमृद्धि उत्पन्न हो। इन्द्रियजन्य जो विषय मिल गया, उससे सुख मानने लगे तो यह गन्दी परिणति है। आनन्द की परिणति नहीं है, क्योंकि उसमें समृद्धि की बात तो दूर रही उसमें हानि ही हानि बढ़ती है। वे पुरुष धन्य हैं जिनको किसी चीजकी आवश्यकता नहीं, केवल एक चद्दरमें ही रहने वाले पुरुष हैं, जिस पुरुषका उपयोग ऐसा है कि विषय कषायोंके उपभोगसे दूर रहने वाला है वह पुरुष धन्य है। वह दूसरोंके लिए धन्य नहीं है, बस इतनी तरक्कीके लिए वह धन्य है। सबसे बड़ी तरक्की उसकी यही है कि वह वर्तमान असंक्लिष्ट रहे, संकटरहित रहे, बस यही उसकी तरक्की है। एक कथानक है कि एक देश ऐसा था जिसमें यह परम्परा थी कि किसीको एक सालके लिए राष्ट्रपति बना दिया जाता था और फिर एक सालके बाद में जंगलमें छोड़ दिया जाता था। तो जैसे साल भरके लिए राजा बना दिया जाये और फिर उसे जंगलमें छोड़ दिया जाये तो फिर उसकी दुर्गति है। इसी प्रकार हम मनुष्य हैं अच्छा

भव है। अगर भीतरमें, पर्यायमें आत्मतत्वके विकल्प होते रहे, जो हमारा जाननमात्र स्वरूप है, सामान्य वृत्तिरूपसे अपना उपयोग न बन सका अर्थात् सब विभावोंको यदि हम विच्छिन्न न कर सके और मरकर कहीं असंज्ञी बन गये तो फिर कौनसी बुद्धिमानी की ? उस राजा के यदि ऐसी बुद्धिमानी आ जाय कि साल भर केवल राज्य करना है फिर नहीं करना है, फिर तो जंगलमें ही रहना पड़ेगा। तो जंगलमें रहनेकी सारी व्यवस्था बना ले, खेती वगैराका इन्तजाम कर ले तो अच्छा है। क्योंकि एक सालके राज्यमें वह सब कुछ कर सकता है। तो जितना ज्ञानबल चाहो उतना ज्ञानबल बना लो, ऐसा यदि अपना पुरुषार्थ बना लो तो वह तुम्हारे काम आयेगा। बाको जितने भी कुटुम्ब परिवार इत्यादिके व्यवहार हैं, वे सब मेरे साथ नहीं जा सकते है।

भैया ! सोच लो, मेरे साथमें तो अपना ज्ञान बल अगर दृढ़ कर सके तो वह रहेगा, मेरे काममें आयेगा। ज्ञानबलके बिना कुछ नहीं काममें आयेगा। ज्ञानबलमें भी कोई बोलने वाला, जानने वाला या जिसके व्यवहारमें अपना बल है वह ज्ञानबल नहीं, किन्तु यह ज्ञानमय है आत्मा ज्ञानस्वरूप ऐसा जब ज्ञानमें आ जाये और उस ज्ञानोपयोगके कारण विलक्षण आनन्दका अनुभव करते रहें, ऐसा जो ज्ञानप्रकाश है वह ज्ञानबल इतना रह सके तो हम सुखी रह सकते है। यदि इतने ज्ञानबलकी अनुभूति हमने पा ली तो ऐसे स्मरणके कारण, अपनेमें आनन्दके अनुभवके स्मरणके कारण हम निराकुल रह सकते है। यदि निश्चयतः आनन्दका अनुभव आ जाये तो उन कषायोंको छोड़ सकते हैं। और वह अनुभव एकके आधीन है। केवल इसके आधीन है, अपने आपके स्वरूपकी ओर झुकना, जानना। यदि अपने आपकी ओर यह झुके तो उसे आनन्द प्राप्त हो सकता है। यदि यह ज्ञानबल हो सकता है तो यही इसका सहायक होगा।

जगत्की कीर्ति, जगत्के यश आदि इन सब कषायोंसे दूर रह सकें, इतना धैर्य हमें ज्ञानबलसे ही प्राप्त हो सकती है। इस ज्ञानबलसे ही धीरता उत्पन्न हो सकती है। इन्हीं कषायोंसे तो अधीरताकी ज्वाला जलती है, जिसके कारण कषाय बढ़ते हैं। यदि कषाय हों तो धीरता अपने आप नष्ट हो जायेगी, आनन्द अपने आप नष्ट हो जाता है। कषायरहित स्वभाव होनेपर आनन्द अपने आप प्राप्त होगा और धैर्य अपने आप बढ़ेगा। यदि कषायरहित वृत्ति न बनी और ऐसा मनमें बना रहा कि हम चार लड़कों वाले हैं, स्त्री वाले हैं, फलां कुल वाले हैं तो इससे आकुलता ही बनी रहेगी।

परतत्त्वको अपना मान लेनेसे इस प्रकारकी क्रिया चलती है और अपने आत्मस्वरूप में, ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानवृत्तिकी क्रिया चलती है। यहां लोग यह सोचते हैं कि मैं इतने लड़कों

का बाप हूं, मुझे लड़कोंके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि लोग यह श्रद्धा रखते हैं कि मैं इनका बाप हूँ, और लड़के यह श्रद्धा रखते हैं कि मैं इनका लड़का हूं, मेरा तो अब यह बाप है, इसलिए वे चिंता करने लग जाते हैं, जिससे कषाय बढ़ाते जाते हैं।

भैया ! जब कोई किताब लेकर किसीके पास पढ़ने जाता है तो उसके यह भाव होते हैं कि हम पढ़ने जा रहे हैं, विद्या पढ़नेका काम करने जा रहे हैं, इसलिए कुछ क्रोध कम हो जाता है और विषय वासनायें कम रहती हैं और कुछ काम वासनायें भी कम रहती हैं। जैसे गाँधीजीके आजादीके आन्दोलनके समयमें चरखेसे सूत काता जाता था। कोई कहे कि चरखेसे सूत कातनेमें क्या लाभ ? पर अन्तमें उस चरखेसे सूत कातनेमें स्वराज्य मिला। चरखेसे सूत कातनेमें यह हो गया कि सूतसे बने भावोंसे मनुष्यके दिमागकी व्यवस्था हो गई, लोगोंमें, रईसीका अहंकार समाप्त हो गया। अच्छे हो भाव बननेको वजहसे स्वराज्य प्राप्त हो गया। देखो, चरखेसे सूत कातनेकी वजहसे ही स्वराज्य मिल गया।

भैया ! इसी प्रकार जब वे विद्या पढ़ने गये, तो अंदरसे विद्या पढ़नेके भाव हुए, तो ऐसे भावोंसे ही उनमें कुछ न कुछ अन्तर आ जायेगा, कषायोंमें मंदता आ जायेगी, विषय वासनाओंमें मंदता आ जायेगी। यदि हम सहज शुद्ध स्वरूपको सोचकर उसीमें अपनी वृत्ति बढ़ा लें, तब विषय कषायोंमें मंदता आ जायेगी। भैया ! सब कुछ अपने आप पर ही निर्भर है। अपना उत्थान पतन अपने ऊपर निर्भर है। सबसे पहली बात यह है कि अपने आपकी श्रद्धाका अभ्यास करके उसको मजबूत बनाना है। इसोसे अपना आत्मकल्याण संभव है।

रागद्वेषोदयस्तस्मिन्नवहं का कृपा कृता।
स्ववृत्तिः स्वदया तस्मात स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४१॥

रागद्वेषका उदय हुआ और उसमें बह गये तो हमने क्या कृपा की ? अपनी हमने क्या दया की ? परन्तु जगत्के जीवोंका यह हाल हो रहा है कि उनमें रागद्वेष होते हैं, क्लेश होते हैं, परन्तु मरनेके समय तक भी विवेक नहीं आता है। इन विकारोंको हटाने, विकारोंसे दूर रहने, विकारोंको निष्फल कर देनेकी यही विधि है कि यह ख्याल रहे कि यह विकार, कर्मोंके उदयसे होता है और यह निकल जायेगा। जो भी वर्तमानमें विकार हो रहे हैं, उन पर यदि हम ध्यान रख सकें कि यह विकार कर्मोंके उदयसे होते हैं, और ये निकल जायेंगे, यदि यह ध्यान रहे तो विकारोंमें फँसाव नहीं हो सकता है।

भैया ! विकारोंमें फँसाव कब होता है ? जब यह परको अपना स्वरूप मानने लगता है तब विकारोंमें फँसाव होता है। जो कि घर हमारा है, जो वैभव हमारा है, जो कुटुम्ब हमारा है, उसके बारेमें ये कल्पनायें नहीं उठती कि वे मिट जायेंगे। जितनी सरलतासे दूसरों

के बारेमें कल्पनायें हो जाती हैं वैसे अपने बारेमें नहीं हो पाती हैं।

भैया ! देखो मोहका ऊधम दूसरोंमें दोष है, यह बात बड़ी जल्दी समझमें आ जाती है और अपने बारेमें नहीं समझमें आती है। अभी छोटे बच्चोंको कुछ खोटी बात कह दो कि तू ऐसा है, तो झट वह कह देगा कि हट तू ही ऐसा होगा, तूने ऐसा किया है। यह बच्चा उसकी बातको रिटायर्ड कर देता है। यही सबसे बड़ा झंझट है कि ये मेरी निन्दा करने वाला है, मेरी आलोचना करने वाला है, मेरी बुराई करता है, पर अपने दोष नहीं देखते हैं। दूसरोंके दोष तो सुगमतासे दिख जाते हैं। यह प्राकृतिकता है कि मोही जीव निन्दा करने वाले, बुराई करने वाले और आलोचना करने वाले होते हैं। दूसरोंकी निन्दा करना, आलोचना करना, बुराई करना यह एक महान् ऐब इस जीवको लगा है। उसमें जीव तरक्की नहीं कर सकता है।

भैया ! बड़े पुरुषोंको क्या कहीं निन्दा करते देखा है ? जो लौकिक विद्या पढ़े हुए प्रोफेसर, डाक्टर, वैज्ञानिक आदि हैं, जिन लोगोंका दिमाग कभी फुरसतमें नहीं रहता है, वे दूसरोंकी बुराई करना, निन्दा करना क्या जानें। भैया, इस स्वच्छ हृदय पर दूसरोंकी बुराई क्यों जम गई ? इसलिए कि हमें अपने वचनोंमें उलझना पड़े, हममें यही सबसे बड़ा ऐब है।

किसी पुरुषको जैसे कोई बड़ी चोट लग जाये, शारीरिक ही नहीं, किसी भी तरहकी हो। वह चोटको जैसे-तैसे गुपचुप रहकर सहन कर लेता है और किसी भी प्रकारसे काम कर लेता है। इसी तरह इस जगत्में कर्मविपत्तिकी और रागद्वेषकी बड़ी चोट लगी हुई है। हमें गुपचुप रहकर, शांत रहकर अपने क्लेषोंको दूर करनेका उपाय निकाल लेना चाहिये। दूसरोंसे मुझे क्या पड़ी है ? इस समय रागद्वेषका उदय है, यदि हम उसमें बह गये और अयोग्य काम किया तो हमने अपनेपर क्या दया की ? हमने अपने आपको तो गड्ढेमें ही डाल लिया। अपनी दया तो यह है कि हम खुदमें रमें, दूसरोंमें न रमें।

अपने आपमें रहना कितने तरीकोंसे हो सकता है ? उसके तरीके अनेक हैं—जैसे सबसे पहले वस्तुविज्ञान देखो, यही सबसे पहला तरीका है। अपने आपमें रमनेकी तैयारी में सबसे पहला उद्योग, वस्तुका ज्ञान करना है। यह वस्तु क्या है ? आत्माकी तो अभी बात छोड़ो। यहाँ पहली बात कह रहे हैं, इसमें उत्सुकता रहनी चाहिये।

किसी भी पदार्थके बारेमें उक्त ज्ञान करनेके लिए पहले पदार्थोंका ज्ञान करो और फिर अपना ज्ञान करो। क्योंकि उस लक्ष्यमें स्थिरताका ज्ञान रहता है। आत्मा आत्माको ग्रहण करती है। इसका यह अर्थ है कि वह ज्ञातामात्र रहता है। केवल जाननहार रहना ही आत्माका ग्रहण है, आत्माका कल्याण करना है, यही सबसे सर्वोत्तम बात है।

देखो भैया! बिना प्रयोजनके भ्रमकी बात लग बैठी है, जिससे कुछ मतलब नहीं है, कोई बात नहीं है, कुछ मिलता नहीं है। यदि कुछ फायदा मिलता है तो क्या मिलता है? लोभकी वृत्ति मिलती है। अपने कुटुम्बके द्वारा देख लो कि बच्चों और स्त्रीसे अनुराग करते हैं, तो क्या मिलता है? लाभ क्या गाँठमें रह जाता है, क्या चीज रह जाती है? केवल क्षोभ और आकुलताएँ रह जाती हैं। पहले अनुराग किया, बोले-चाले और किसी बातपर झगड़ा हो गया तो बस विवाद करने लग गए। यह हर घरमें होता है। उस परिणामके अंतमें मिलता क्या है? केवल क्षोभके अलावा कुछ नहीं मिलता है। अभी यह कहें कि भैया! इन तुम्हारे बच्चोंसे तुमको कोई लाभ तो मिलता नहीं है, केवल क्षोभ मिलता है।

भैया! वह तो जहाँ मोह लगा है, जहाँ व्यर्थका राग लगा है, बस वह ही इसका है। कहो भैया, तनिक देर हम ही को समझ लो, जितना भिन्न वह है उतने ही तो भिन्न हम हैं और चाहे हम आपकी आकुलताओंमें विशेष कारण न बनें, पर घरके बच्चोंको ही वे मानेंगे। वह लड़का चाहे चपटी नाकका हो, छोटे कानका हो, चाहे धँसी हुई आँखोंका हो, पर कहें कि भैया! यह दूसरा लड़का सुन्दर है, इससे राग करो तो वह उससे राग न करेगा। वह लड़का कितना ही ठोक हो, पर उससे वह प्रेम नहीं करेगा। बतलाओ कि मोह क्या है? राग करनेसे अंतमें क्या मिलता है? अंतमें बस यही मिलता है कि उसे छोड़ना पड़ेगा। हैरान होकर छोड़नेसे तो यह अच्छा है कि विवेकपूर्वक छोड़ो। आखिर परेशान होकर छोड़ना ही पड़ेगा। जीवनभर यदि चल भी जाय, तो अंतमें छोड़ना ही पड़ेगा।

भैया! किसीके घरमें कोई मर जाये और उसके यहाँ जाते हैं, जिसे कहते हैं फेरा करना। तो चित्तमें यह रहता है कि यह मर गया। लोकमें दूसरे भी तो मरा करते हैं। ऐसे ही यह मर गया। इसमें अचरजकी क्या बात है? मित्र समझते भी हैं, मगर थोड़ा बहुत क्या, यह भी ख्याल होता है कि मेरे कुटुम्बके लोग भी तो इसी तरहसे मर जावेंगे। इस तरहकी बात अपने लिए नहीं उत्पन्न होती। रागद्वेषका उदय हो, उसमें हम बह गए तो बतलाओ कि हमने अपने पर क्या दया की? हमारी दया तो स्ववृत्ति ही है। अपने आपमें रम जाना है। सो यह मैं अपने आपमें रमकर अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

वंधिका किन्न चेष्टेयं चेष्टेयं किन्न वंधिका।
स्थित्वा ह्यचेष्टिते भावे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४२॥

चेष्टा तो सम्मुख आती है, उद्योग तो हमारे सामने रहता है, परिणाम तो मेरे सामने रहता है। उस चेष्टाके प्रति यह भावना करो कि क्या वह चेष्टा बंध करने वाली नहीं है।

चेष्टाका अपने आपमें उदय होता है, पर ऐसा सोच लो कि वह चेष्टा क्या बंध करने वाली नहीं है ? क्या यह परिणाम खोटे कर्मोंका बंध न कर देगा कि मरकर गधा और सूकर आदि होना पड़ेगा । क्या यह चेष्टा बंध करने वाली नहीं है ? क्या ये रागद्वेषभाव कर्मोंका बंध कर देने वाले नहीं हैं ?

अपने विकारोंके प्रति, चेष्टाके प्रति ऐसा विचार बार-बार उठना चाहिए--क्या यह चेष्टा बँध नहीं करती ? ऐसा सोचनेसे चेष्टासे अनुराग न रहेगा । अपनेही घरमें रहने वाले किसी जीवके प्रति अहितकारिताका भाव हो जाये कि यह तो बड़ा चालाक है, यह मुझे नीचा दिखाना चाहता है । किसी तरहका विरोधीभाव नजर आ जाये तो उससे राग नहीं रहता । इसी तरह अपने आपमें जो परिणाम विकार चेष्टा आदि हो रहे हैं वे असलियत में समझमें आ जायें कि ये खराब कर देनेके लिए हैं तो उन परिणामोंसे भी उपेक्षा हो जायेगी । अपने विकारोंसे उपेक्षा हो जाना ही कल्याणका मार्ग है ।

भैया ! करो जिसको जो करना हो, जहाँ जो होता हो । पर अपने आपको तो मजा केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेमें है । यह चेष्टा क्या बंध नहीं करती ? जिस परिस्थितिका ज्ञाता पन हो, दृष्टापन हो उस परिस्थितिके अनुकूल उत्तर आता है । किसी ज्ञातृत्वमें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान दोनोंका कोर्स है और किसी ज्ञानमें सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तीनोंका कोर्स है । जब अपनी चेष्टासे अपनेकोउपेक्षा हो जाये तो अचेष्ट परिणामों में ठहरना बन जाये । तो निष्क्रिय स्वतंत्र, निश्चल निष्काम जो परिणाम है वह सहज स्वाधीन है, अचल है, काम, क्रोध आदि भावोंसे रहित है, ऐसे चेष्टारहित स्वरूपमें मग्न होना चाहिये ।

बड़े-बडे लौकिक लोग भी यह चाहते हैं कि जो मेरे मनमें आये वह उस वक्त ही हो जाना चाहिए, और इसीमें अपनी शेखी मारते हैं कि जब जो चाहा उसी वक्त हमारा काम हुआ । हमारा उदय उत्तम है, पुण्य है क्योंकि जो चाहा वह तुरन्त हो गया । वह तुरन्त होना ही चाहिये इस प्रकारका परिणाम है तो उसमें पर्यायबुद्धिकी बात है, वह हितके लिए नहीं है, भलेके लिए नहीं है । जैसे कभी इच्छा हो गयी कि अब पापड़ खाना है घर में कह दिया । अगर देर होती है तो अपना अपमान समझते हैं कि देर क्यों हुई ? सो उसका क्षोभ होता है । जो चाहा वह तुरन्त होना चाहिए--ऐसी मनमें आकांक्षा रहती है, सो घरके लोगों पर जल्दी क्षोभ हो जाता है और बाहरके लोगोंसे चाहे महीनों तक न हो तो भी धैर्य बना रहता है । फिर उद्योग करो, फिर मिलेगा उसमें धैर्य रहता है और घरके लोगोंमें बात न मानी जाये, काम तुरन्त न हो जाये तो झट अधीर हो जाते हैं ।

प्रश्न--उस आधीरताका कारण क्या है ? उत्तर--स्वामित्व बुद्धि । इनके हम मा-

लिक हैं, ये मेरे आश्रित हैं और इन्होंने हमारी उपेक्षाकी है, सो इस आशयमें वह अधीरता हो जाती है । अधीरता वहाँ होती है जहाँ विवेक नहीं रहता है। जहाँ विवेक होता है वहाँ धीरता रहती है । सो अपने ही विकार परिणमोंके प्रति यह चिन्तन किया जावे कि क्या यह परिणाम बंध करने वाला नहीं है ? क्या मुझे आकुलतावोंमें ले जाने वाला नहीं है ? ये मुझे बरबाद करनेके लिए ही पैदा हुए हैं ना ? ऐसी बातें विकारके प्रति, परिणामके प्रति विचारकर चलना चाहो, विकारोंसे हटकर अचेष्ट निज भावोंमें उतरना बन जाये तो वहाँ ही अपनेको अपनेमें अपने लिए अपने आप सुख हो सकता है ।

दुःखं द्वन्द्वश्च संतापो विपत्तृष्णाऽन्ययोगतः ।
एकेऽनिष्टं न किञ्चिद्धि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४३॥

दुःख, द्वन्द्व, संताप, विपत्ति, तृष्णा—ये अन्यके सम्बन्धसे होते हैं । केवल एकमें कोई अनिष्ट नहीं । जहाँ अन्यसे सम्बन्ध है वहाँ दुःख है । जहाँ अन्यसे सम्बन्ध है वहाँ द्वन्द्व है, जहां अन्यसे सम्बन्ध है वहाँ संताप है । जहाँ प्रकृति है वहाँ तृष्णा है । अभी कोई देहाती आदमी है, बेचारा रोटी भाजी खाकर खुश रहता है और किसी कारणसे कहीं शहर वाला उस देहाती पर नाराज हो जाये या उसको कुछ बड़ा दंड देना चाहे, उसका बुरा करना चाहे तो सबसे बुरा जो किया जा सकता है वह यह है कि उसे या तो कुछ अच्छी मिठाई खिला दे, फिर वह जिन्दगी भरको दुःखी हो जायेगा ।

एक हजामत बनाने वाला एक सेठकी हजामत बना रहा था । सो एक दो जगह उस्तरा लग गया । दाढ़ीमें खून आ गया । सेठने सोचा कि इसे दंड देना चाहिए । इसने दो जगह छुरा मारा । सो उसने क्या दन्ड दिया कि उसको दो रुपये दिये । सेठ बोला—भाई तुमने बहुत अच्छी हजामत बनायी देखो दो जगह छुरा मारकर तुमने हमारी तबियत ठीक कर दी । हम अब ठीक हो गये । दो जगह लगनेसे मैंने तुम्हें दो रुपये दिये । यह बड़ा खुश हुआ । इसके बाद किसी बाबू साहबकी हजामत बनायी । सोचा, वैसा ही काम करना चाहिए जिससे दो रुपये मिलें । उसने बाबू साहबके दो जगह छुरा लगा दिया, उसने उठकर १०-५ जूते लगाये । कहा—अरे बाबू जी यह क्या कर रहे हो ? हमारा हिसाब तो सही है । हमारा हिसाब तो गलत नहीं है । अभी-अभी सेठजी की हजामत बनाकर आया, उनके दो छुरे मारे तो उन्होंने दो रुपये दिये । बाबू हमारा हिसाब तो सही है । सो किसीसे अगर दुश्मनी निकालनी हो तो उसको कुछ विषयोंका स्वाद चखा दो उन विषयोंके वश वह जीवन भर दुःखी रहेगा । और अगर उसके एक दो लाठी मारो तो क्या है ? वह तो ५ मिनटमें ठीक हो जायेगा । जितना दुःख है, द्वन्द्व है, संताप है, विपदा है, तृष्णा है वे सब अन्यके सम्बन्धसे होते हैं ।

कषायविषयत्यागे स्वास्थ्यमन्तर्वहिर्द्वयम् ।
तत्त्यागो ज्ञानमात्रं हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४४॥

कषाय और विषयोंके त्यागमें अंतरंगमें भी स्वास्थ्य रहता है और बहिरंगमें भी स्वास्थ्य रहता है। जो बहुत ही दुबले पतले होते हैं उनको कहते हैं कि इनमें गुस्सा भरा है। इस गुस्सेके कारण ही वह मोटा नहीं हुआ। किसीमें मान मायाकी मात्रा ज्यादा हो तो वह भी मौजमें नहीं लग सकता। चित्तमें भ्रम हो जाये, दिमाग दसों जगह लगे और किसी की बात न सुने तो स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता, यह उसकी परिस्थिति हो जाती है। लाभ तृष्णा रहे तो जो पापमें है उसका भी आनन्द नहीं ले सकता है। किसीके पास एक लाख रुपयेकी जायदाद है और कहीं जायदादसे दो हजारका नुकसान हो गया तो ९८ हजार पासमें हैं, मगर उसकी दृष्टिमें तो केवल दो हजार ही हैं, जिनका नुकसान हो गया है। हाय दो हजारका नुक्सान हो गया, इस तरहसे रोनेके कारण वह ९८ हजारका आनन्द नहीं लूट पाता है। उसके लोभ तृष्णा ऐसी है जिसकी वजहसे जो मिल गया है उसका भी उसे आनन्द नहीं मिलता है। जो नहीं मिला उसकी तो मौज ही क्या लूटेगा ? जो पासमें है उसका तो आनन्द नहीं लूट पाता है।

कषायोंका और विषयोंका त्याग हो जाये तो अंतरंगका स्वास्थ्य ठीक रहे और बहिरंग का भी ठीक रहे तो कषाय और विषयोंका त्याग है क्या चीज ? ज्ञानमात्र रह जाना, केवल ज्ञानरूप रह जाना यही कषायका और विषयोंका त्याग है। कषायोंका त्याग करना इसका अर्थ क्या है कि ज्ञाता दृष्टा रह जाना, ज्ञानमात्र रहना—यह इसका अर्थ है। मेरा त्याग यही है ज्ञाता दृष्टा रह जाना। ममता छोड़ी जाती है क्या ? ज्ञानमात्र हो जाये, केवल ज्ञाता रह जाये, इसीके मायने हैं ममताका त्याग।

वस्त्र मलिन हो गये, मैले हो गये तो कोई कहे कि भैया, मैल निकाल दो तो इसका दूसरा अर्थ है कि यह जिस स्वभावका है वैसा बना दो। यह तो मैल निकालकर दिख भी जायेगा। लो यह मैल है, बड़ा मैला पानी है, देखो कितना मैल निकला ? क्योंकि वह मैल भी एक पौद्गलिक संचय है और कपड़ा भी एक पौद्गलिक पदार्थ है। यहाँ मैल क्या बतावेंगे ? कषायोंका विषयोंका विकल्प और क्या बताया जा सकता है ? विषय कषायों का त्याग करो, इसका अर्थ क्या है कि ज्ञानमात्रर रहें। केवल देखना जाननहार रहें तो। सब छूट जावेंगे। बुद्धिमान् जो पुरुष होते हैं, गृहस्थ होते हैं उनमें झगड़ा निबटानेकी बड़ी अमोघ कला रहती है। घर गृहस्थीका कोई झगड़ा होवे तो वे उन झगड़ोंको महत्त्व नहीं देते हैं। वे

उन झगड़ोंकी उपेक्षा कर देते हैं, ज्ञाता बन जाते हैं। इनकी जब कषाय कम होगी तब होगी तो यह उपेक्षा भाव और ऐसा ज्ञाता दृष्टापना, झगड़ोंमें कमसे कम बोलना, यह झगड़ा निबटानेका बड़ा ही विलक्षण उपाय है।

सास बहूका झगड़ा हो, जेठ जेठानीमें झगड़ा हो और उनके बीचमें कोई पुरुष ज्यादा बोले, ज्यादा अपमान करे तो उनके झगड़ेका निबटारा करनेमें पहले तो झगड़ा बढ़ेगा, निबटारा नहीं होगा। ज्यों-ज्यों निबटानेका यत्न किया जायेगा त्यों त्यों झगड़ा बढ़ेगा। और निबटानेका यत्न न करें और उन्हींकी बातोंको देखते जायें तो अपने आप ही वे दोनों अपना झगड़ा बन्द कर सकती हैं और न कर पावें तो अंतमें उनके लिए लाभदायक है और उनकी शान्तिके कारण बन जायेंगे। और ज्यादा बढ़नेसे उनका कोर्स निकल जायेगा यह बात तो कह ही रहे हैं। अभी भोजन करनेमें भोजन बनाने वालीको अगर रोज रोज नाम धरें इसने यह किया, इसने यह किया तो बनाने वाली पर असर नहीं पड़ता। गी कि ये तो रोज ही ऐसा कहते हैं। तो किसीके बीचमें पड़ना अच्छी चीज नहीं।

सभ्य लोगोंकी गोष्ठीमें जो खेलते हों तो उनके बीचमें नहीं पड़ते। दो हँसते हों, मंत्रणा करते हों, फिर भी उनके बीचमें नहीं पड़ते। बस जहाँ द्वितीय पर दृष्टि है द्वैतपर दृष्टि है वहाँ ही स्वास्थ्य बिगड़ गया। अपने कषाय और विषयोंका त्याग हो जाये तो अंतरंग स्वास्थ्य अच्छा रहे और बहिरंग स्वास्थ्य भी अच्छा रहे, क्योंकि उन विषय कषायोंका त्याग क्या कहलाता है ? ज्ञानमात्र रह जाना। यही उनका स्वास्थ्य है। सो मैं ज्ञानमात्र रहता हुआ अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

परैः शरणमान्यत्वं नाशोऽशरणमान्यता।
सुखं स्वः शरणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४५॥

लोकमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने स्वरूपको ही लिए हुए हैं। सबमें ६ साधारण गुण हैं, जिनके कारण सभी पदार्थोंमें यह व्यवस्था बनी है कि वे हैं और अपनेमें परिणमते रहते हैं। यह व्यवस्था पदार्थोंमें पदार्थोंके स्वरूपकृत है। विकारभावोंके लिए पर-पदार्थ निमित्त हैं। तिसपर भी परिणमने वाले पदार्थ परिणमते हैं। अपनी परिणतिसे वह विकार निमित्त बिना नहीं हो सकता। निमित्तका सान्निध्य है फिर भी होता है उस ही अकेलेमें। सारे पदार्थोंकी ऐसी व्यवस्था है कि वे हैं और परिणमते रहते हैं इस कारण कोई भी जीव किसी दूसरे जीवका परिणमन नहीं करता। कोई जीव किसीकी रक्षा करने वाला नहीं है। ऐसी स्थितिमें यदि यह बुद्धि रखी जाये कि मेरे लिए तो भैया शरण है, पिता शरण है, अमुक मित्र शरण है, ऐसी बहिर्मुखी दृष्टि होती है तो इस दृष्टिसे वह अपना

विनाश कर रहा है। दूसरोंसे अपनेको शरण हो जायेगी, ऐसी मान्यतामें उसने अपना तो घर छोड़ दिया, अपनी तो कोई मान्यता रही नहीं। स्वयं तो शून्य बन गये, उसकी रक्षा तो स्वयं ही थी, ऐसी दशामें उसकी स्थिति अपनेको छोड़कर बाहरमें भ्रमण करने लगी। इस स्थितिमें वह दुःखी रहता है।

भैया ! सबसे बड़ा दुःख है पराधीनता। एक पद है—'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' श्रद्धामें अपना सत्त्व पराधीन है, ऐसी बात यदि आती है तो उसको कभी शांति नहीं मिल सकती। दूसरोंके द्वारा मुझे मदद होगी, वे मेरेको शरण होंगे, ऐसी श्रद्धाको मान्यता हो तो उसमें अपना विनाश ही है। दूसरे मेरेको शरण नहीं है। मेरा शरण मेरा ही स्वभाव से होता है, ऐसी मान्यता करनेमें सुख और शांति है। जगत्में सबसे दुर्लभ चीज है तो सम्यग्ज्ञान है। भूधरदास जी कविने भी कहा है कि "धन, कन, कंचन, राज सुख, सबहि सुलभ कर जान। दुर्लभ है संसारमें एक यथार्थ ज्ञान।" सब चीजें सुलभ हैं, धन, वैभव, राजसुख इत्यादि सभी समागम हो जावेंगे, कल्पनामें ऐसा लावो कि सारे जगत्का वैभव भी यदि मेरे निकट है तो उन समस्त जगत्के पदार्थोंसे इसकी परिणति क्या हो जायेगी ? कहाँसे आनन्द हो जायेगा ? जो जैसा है अपनेमें उस योग्य, वैसी ही यह अपनी बात उगलेगा।

भैया ! कई लोग क्रोधी स्वभावके होते हैं तो उनको जरा-जरासी बातोंमें क्रोध आता है। कोई नौकर है, काम करता है तो जरा-जरासी बातोंमें भी नौकर पर क्रोध आता है। सोचता है कि यह बड़ा खराब है इसको निकाल दो, दूसरा रखेंगे। दूसरा रखा तो उस दूसरेके प्रति भी क्रोध आने लगा तो झुंझला जाता है। फिर अपने आपमें निश्चय करता है कि मैं अब नौकर नहीं रखूंगा। सब काम अपने हाथसे करूँगा। अपने हाथसे काम करते हुएमें भी गुस्सा आता रहता है। जिसमें गुस्सा आनेकी प्रकृति है वह किन्हीं साधनों में हो वह तो क्रोध ही उगलेगा, और जिसके ज्ञानवृत्तिकी प्रकृति है वह किन्हीं साधनोंमें रहे वह ज्ञानका ही विकास करेगा, ज्ञानका ही उपयोग करेगा। ये सब बातें तो अपने आपकी स्थिति और योग्यता पर निर्भर हैं। दूसरे मेरी शरण नहीं, हो ही नहीं सकते। वह अपना परिणमन करेगा या मेरा परिणमन कर देगा।

भैया ! समझाने वाले लाखों हैं, मगर समझने वाला समझना ही नहीं चाहता तो वे क्या करेंगे ? एक कथानक है कि एक अपने गाँवका मुखिया था। किसी सभामें पंच लोगों की बैठक हुई। कोई बात ऐसी चल उठी, कहा कि ४० और ४० कितने होते हैं ? तो वह मुखिया बोला कि ४० और ४० ६० होते हैं। तर्क होने लगा। ४० और ४० मिलकर ८० होते हैं। कहा—नहीं, ४० और ४० मिलकर ६० होते हैं। लोगों ने बहुत

कहा—४० और ४० मिलकर ६० नहीं होते। तब मुखियाने कहा—अगर ४० और ४० मिलकर ८० हो जायें तो हमारे घरमें चार पाँच भैंस हैं जो पाँच-पाँच, सात-सात सेर दूध देती है। वे सब भैंसें हम पंचायतको दे देंगे। कहा—४० और ४० मिलकर ६० होते हैं, ८० नहीं होते। सब बड़े खुश हो गये, सोचा अब तो भैंसें मिलेंगी। सबने सोचा कि अब तो बच्चे खूब दूध पीवेंगे, कसरत करेंगे। कहा—बहुत ठीक। यह बात स्त्रीने भी सुन ली। घर पहुँचे तो देखा स्त्री बड़ी उदास, मुखिया बोलता है कि तुम उदास क्यों हो? कहती है कि तुमने बोला है कि ४० और ४० मिलकर ६० होते हैं। यदि ४० और ४० मिलकर ६० न होते हों तो हम सब भैंस दे देंगे। तो अब तो ये बच्चे भूखों मरेंगे। मुखिया बोलता है कि तू तो बड़ी भोली है, अरे ४० और ४० मिलकर अगर ८० होते हों तभी तो भैंसें जावेंगी। हमने यही तो कहा कि ४० और ४० मिलकर ६० होते हैं। यदि ६० न होते हों तभी तो हमने भैंसें देनेको कहा। जब हम मुखसे बोल दें कि ४० और ४० मिलकर ८० होते हैं तभी भैंस जावेंगी।

भैया! स्वयं ही सारे पदार्थ सत् हैं। जब तक यह स्वतन्त्रता अवगत न होगी तब तक तृप्ति और शांति तो प्राप्त हो ही नहीं सकती है। क्योंकि इस सम्यग्ज्ञानके भावोंमें तृष्णा कहीं रुक ही नहीं सकती। तृष्णा तो आगे ही आगे बह जावेगी। क्योंकि पदार्थोंका स्वयं सत् तो समझमें आया ही नहीं। कृतकृत्यता तो भ्रममें आ ही नहीं सकती। मेरा जगत् में करनेको कोई काम नहीं पड़ा है, ऐसी दृष्टि आये बिना आत्मा शांत हो ही नहीं सकती अगर बाह्यपदार्थोंमें से कुछ कर देनेका श्रद्धान् है तो बतलाओ कि विराम कब मिलेगा? यदि कोई पदार्थ परिणम जाए, पर किसी पर दृष्टि न डालें तब शांति प्राप्त हो सकती है।

भैया! अपनी ही पुरानी बातों पर ध्यान करके देख लो कि सभी जो कल्याण चाहने वाले हैं, उन्होंने यह सोचा होगा कि २ वर्ष पहले, ५ वर्ष पहले और ७ वर्ष पहलेका इतना काम बाकी रह गया है, यह भी ४-६ माहमें समाप्त हो जायेगा। फिर कोई काम नहीं रहेगा और आनन्दसे धर्मसाधना करेंगे। इस प्रकारसे प्रायः कई वर्ष पहले भी अनेकों ने सोचा होगा, मगर वह समय निकल गया होगा, बल्कि उससे चौगुना काल भी निकल होगा, पर आज अपने आपको ऐसा पा रहे होंगे कि उन व्यतीत हुए वर्षोंकी अपेक्षा हम अब ज्यादा फँसे हुए हैं।

भैया! कोई जीव किसीसे बँधा हुआ नहीं है। किसी भी जीवसे किसी जीवका कोई बंधन नहीं है, नाता नहीं है और न ही कोई रिश्ता है। यह मेरा है, ऐसी कोई पहिचान भी नहीं है। यह जीव तो आज इस घरमें है और कल किसी घरमें पहुंच गया। किसी

जीवका किसीसे कोई नाता नहीं है, फिर भी वे श्रद्धामें बन गये हैं, ऐसी बुद्धिका होना एक अन्धकार है। जितनी सेवा और जितना व्यय हम अपने बच्चोंपर करते हैं उसका आठवाँ हिस्सा भी यदि किसी दूसरे बच्चे पर व्यय करें तो वह उस आपके पुत्रसे भी कहीं अधिक आज्ञाकारी होगा और एहसान भी मानेगा।

भैया! यह बात कही जा रही है कि कोई व्यवस्था नहीं हो रही है। व्यवस्था तो होगी और उससे भी बढ़कर होगी। चाहे शास्त्रोंमें या भगवानकी परम्परामें कितना ही लिखा हो कि भाई! ममत्व छोड़ो। अगर यहाँ यही हठ रही कि चाहे भगवान कहें, चाहे आचार्य देव कहें, मगर हमारा तो वही काम रहेगा, वही घर रहेगा, वही ममत्व रहेगा रहेगा और वही पुत्र रहेगा। अब यह हठ छोड़ दो, ऐसी बात नहीं कही जा रही है, मगर भीतरमें प्रकाशको सही संभाल लेनेकी बात कही जा रही है।

राजा भोजके समयकी बात है कि जब कवियों और विद्वानोंको हजारों व लाखों रुपयोंका पुरस्कार दिया जा रहा था, उस समय सब लोग बैठे हुए थे, राजा भी थे और एक विद्वान्का पिता भी बैठा था। यह कोई नियम नहीं है कि विद्वान्का पिता भी विद्वान् ही हो, डाक्टरका पिता डाक्टर ही हो। हमने तो डाक्टरके बापसे इलाज करवाया, डाक्टर की बात जाने दो, ऐसा नहीं है। तो कोई नियम नहीं है कि विद्वान्का लड़का विद्वान् ही हो। उस विद्वान्का पिता देहाती था। उसको एक समस्या दे दी गई। राजाने क्या समस्या दी—'क्व यामः किं कुर्मः हरिण शिशुरेवं विलपति।' कहा कि इस समस्याकी पूर्ति करो। अब वह बेचारा मतलब ही न जाने। लड़का पासमें बैठा था। उस लड़के से देहाती गंवार बापने कहा कि 'पुरारेवापा' जो राजाने समस्या दी है, श्लोक बोला है, इसको पूरा बना दो।

'पुरारेवापा' इस देहाती वचनको सुनकर जो लोग वहाँ पर थे, मनमें हंसने लगे। तो उस लड़केने श्लोक बनाया 'पुरा रे वापा' से शुरू करके उसने सीधा श्लोकमें फिट कर दिया ताकि लोग समझें कि यह पिता मूर्ख नहीं है, क्योंकि इन्होंनेही कहा कि इन शब्दोंमें पूरा करके इस श्लोकको बना दो। वह बनाता है—'पुरारेवापारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे, गिरौसन्धेऽभव्ये दवदहनज्वालाव्यतिकरः। धनुःपाणिः पश्चान्मृगयुशतकं धावति भृशम्, क्व यामः किं कुर्मः हरिण शिशुरेव विलपति।' पुरारेवापा, इसके आगे एक रे और लगा देता है। 'पुरारेवापा रे' यों बोला। पुरारेवापा रे—केवल शब्द जुड़नेकी कला है। आगे रेवा नदीके तटपर बहुत पानी पड़ता है और दायें और बायें विकट जंगल है, जंगलमें आग लग रही है और पीछे सौ शिकारी धनुष्बाण लिए हुए हिरणके पीछे दौड़ लगा रहे हैं, ऐसी स्थिति है। उस स्थितिमें हिरणका बच्चा बोलता है या कवि कहता है—आगे रेवा नदी है। दोनों

ओर पहाड़में आग लगी है। पीछेसे सौ शिकारी धनुषबाण लिए हुए शिकारके लिए पीछे दौड़ रहे हैं। ऐसी स्थितिमें हिरणका बच्चा विलाप करता है कि मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ?

भैया! ऐसी ही स्थिति हम आप सबकी है। क्या हुआ कि योग्यता खोटी है, कम बंधन साथ है, शरीरका सम्पर्क नहीं छूटता है, बाहरकी ओर दृष्टि बनी रहती है, पर समागममें, इस संयोग वियोगमें अपने अनुकूल प्रतिकूल कल्पनाएँ की जाती हैं, ऐसी परिस्थितिमें यह आत्मा कहाँ जाये? क्या करे? कैसे शांति प्राप्त हो? उसका कोई मार्ग है।

एक राहगीर था। वह शामके समय भी रास्ता चलने लगा। अंधेरी रात थी, पगडंडियाँ बहुत ही छोटी थी मार्ग भूल गया। मील डेढ़ मील चलनेके बाद वह परेशानीमें फंस गया कि कहाँ जाये, किधर जाये, घना जंगल है, वह घबड़ाने लगा। पर बादमें विवेक किया कि घबड़ावो मत। अब आगे न बढ़ो, तुम मार्ग भूल गये हो तो अपनी भूलको मत बढ़ावो। यहीं ठहर जावो। जो कुछ होगा देखा जायेगा। रात्रिके १०-११ बज गये। अचानक बिजली चमकी, क्षण भरको उजेला हुआ। उसे दिख गया कि वह सामने सड़क है, यहाँसे आधा मील दूर पर। बिजली खत्म हो गयी, प्रकाश न रहा, अंधेरा ही अंधेरा है, लेकिन उसे बहुत संतोष हो गया। समझमें आ गया कि इतनी हमारी भूल है और हमें उस रास्तेसे जाना है। इतनी ज्ञानकी बात आ जानेसे उसको बड़ा संतोष है। हालांकि वह जंगलमें बैठा हुआ है, लेकिन उसे पता हो जानेके कारण उसे संतोष है। उसके धैर्य हो गया –ठीक है, सुबह होने दो, ६ ही घंटेकी बात है और सुबह होते ही यह पगडंडी उस सड़कसे मिलती है, सड़कपर पहुंचती है। विश्रामसे, आरामसे चलता है और अपने इष्ट स्थानपर पहुंच जाता है।

इसी प्रकारसे हम और आप चलते रहते हैं, यात्रा कर रहे हैं, परिणम रहे हैं जानकर रहे हैं, कल्पना कर रहे हैं। इन कल्पनाओंके पैरोंसे चलते हुए हम भूल जाते हैं। उस विषय अटवीमें भूल गये, भ्रमण कर रहे, आकुलताएँ हो गयीं, विह्वल हो गये। कुछ थोड़ा विवेक हो तो थोड़ा गम रहे। बाह्यपदार्थोंमें दौड़ लगाकर उनमें ही विश्राम करते कुछ मालूम हो रहा है कि हम भूल रहे हैं, हम विपरीत मार्गमें आ गये हैं। हम अब अपनी भूलको न बढ़ावें, लम्बा न करें तो अचानक कोई ऐसी झलक समझमें आगयी कि यह विषय वन है। यह भूल बहुत है, इसमें अगर गये, बढ़े तो भूल ही बढ़ेगी, आगे जाना नहीं है, क्योंकि रास्ता खराब है, रास्ता कौनसा जो एकाकी अनुभव किया और समझा, अपनी स्वतंत्रताकी बात वह कैसा है आनन्दस्वरूप है, वही परमपद है, वही रास्ता चलने योग्य है। यह दिख गया एक क्षणको झलकमें। गम खाते हैं कि मिलेगा वह रास्ता। चल सकेंगे उस रास्ते पर।

सुबह हो, प्रभात हो, ज्ञानविकास कुछ हो, जिसे कहते हैं एक देशचरित्र। कुछ भीचारित्र हो कि उस पगडंडीमें चलना है जिससे आत्माका अनुभव पुष्ट होनेपर कुछ अधिक अवसर मिलता है। फिर राजमार्गपर सड़कपर पहुंच गया। जिसे महाव्रतका पथ कहा है। उससे और आगे बढ़कर इस निर्विकल्पकी अनुभूतिमें चलकर वह अपने परम इष्ट निजपदको प्राप्त कर लेता है।

भैया ! दूसरे मुझे शरण हैं, इस भ्रममें जो रहेगा वह अपना जीवन खो देगा। और जो अपनेको अपना ही शरण मानेगा, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अपना परिणमन बनावेगा। मैं ही अपनेको शरण हूँ ऐसी उत्सुकता है, इसीलिए अपना प्रयत्न भी करेगा तो उसको शांति मिलेगी, सुख होगा। जैसे कोई पुरुष बापकी बड़ी सेवा करता है याने खूब भोजन देता है और उस पिताकी एक भी बात नहीं मानता है, उल्टी ही बातें करता है और दो चार ऊटपटांग गालियाँ ही देता है तो बतलावो कि वह पिताका उपासक है कि नहीं ? सच्चे मायनेमें उपासक नहीं हुआ। पिता सही मार्ग बतलाता है तिस पर भी लड़का उल्टा सीधा कहता चला जाता है, पर हाँ इतनी बात है कि भोजनमें वह दुःखी नहीं करता, यों ही हम अपने परमपिता परमात्मदेवकी बड़ी उपासना करें, सज-धजके शृङ्गारके साथ सब कुछ करें, किन्तु प्रभुकी जो आज्ञा है उसे न मानें तो क्या उसे भक्त कहा जावेगा ?

भैया ! सब अपने अपने ही परिणमनमें रत हैं। कोई भी किसीकी फिक्र नहीं करता, सब केवल अपना ही परिणमन करते हैं। सोच तो लो, जरा अनुभव तो कर लो, यथार्थ जाननेके लिए उत्सुकता भी नहीं। तो फिर बतलावो कि इस प्रकारसे प्रभुके भक्त कैसे कहला सकते हो ? जो सुख और शांति उत्पन्न कर सकनेका उपाय है उस उपायसे नहीं चलते, इतनी मनमें हिम्मत नहीं रखना चाहते कि मुझे अपना कल्याण करना हैं। परपदार्थोंका संयोग हो जाये, वियोग हो जाये तो भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है, मैं तो परिपूर्ण हूं, सुरक्षित हूँ, क्या मैं अधूरा हूँ ? सो मुझे कोई नहीं बनावेगा या मैं किसीको कुछ बना दूंगा, ऐसा नहीं है। फिर बाहरमें किसकी चिन्ता करते हो ? बाहरमें ही अपनी व्यवस्था बना ली है, पर कहीं भी अपना सहारा नहीं मिलता है।

यदि प्रभुकी आज्ञा न मानी और भीतरमें अपने शुद्धस्वरूपका विश्वास न बना सके तो भला बतलालो कि क्या ये घरके लोग आपके सहायक हो जावेंगे ? ये परिवार मित्रजन आदि क्या आपके सहायक बन सकेंगे ? क्या ये परिवारके लोग व मित्रजन आदि मरनेसे बचा लेंगे ? मरना तो एक दिन पड़ेगा ही मरनेसे क्या कोई रोक देगा ? पंडित आशाधर

जीने एक श्लोकमें कल्पनाकी है कि श्राद्ध करने वाले लोग पिताके मरनेके बाद श्राद्ध करते हैं और गाय, बछिया, कपड़ा, सोना, इत्यादि पंडोंको देते हैं। इस भावसे कि ये मेरे पिताके पास भेज देंगे। तो मरा हुआ पिता मानो कहता है, कविकी कल्पनामें कि 'ऐ पुत्र जनों मरनेके बाद हमें ये चीजें देते हो, अरे जिन्दगी भर तो सुखसे पानीभी नहीं दिया, पर मरनेके बादमें गाय, बछिया, कपड़ा, सोना, चाँदी इत्यादि देते हो, अब ये मेरे किसी कामके नहीं।' सोचो तो सही कि क्या कोई सहायक हो जायेगा ? किसपर भरोसा रखो कि बस इनसे मेरा क्या काम बन जायेगा ? अब किसी चीजकी चिन्ता रही तो ऐसा नहीं हो सकता। भाई इस जगत्में अपनेको केवल अपना ही नहीं भरोसा है, कोई दूसरा मददगार नहीं है। यदि खुद भले हैं, खुद अच्छे हैं तो चार भाई भी सत् कर्मोंमें मददगार बन सकते हैं। अगर खुद भले नहीं' खुद अच्छे नहीं, खुद बलिष्ट नहीं, खुद धीर वीर नहीं तो दूसरे साधक कैसे बनेंगे ? दूसरोंको अपना शरण न समझो, किन्तु अपने आपकाही भरोसा रखो। वह भरोसा है ज्ञानबलका। सही-सही स्वरूपको समझना ही ज्ञान है। यदि यह बात बनी है तो मेरे लिए मैं शरण हूँ। इससे ही सुख होगा, शांति होगी। इस कारणसे ऐसा ही अपनेको देखकर अपनेमें ही तृप्त होकर मैं सुखी होऊँ।

दुःखमूलं स्वधीरन्ये न परेऽर्थाः परे परे।
स्वच्युतिः सा च स्वस्थोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४६॥

दुःखोंका कारण अन्य पदार्थोंमें आत्मबुद्धि होना है। परपदार्थ कोई क्लेशके कारण नहीं हैं, किन्तु अपने आपमें वस्तुस्वरूपके विपरीत ख्याल बना लें तो उससे दुःख उत्पन्न होता है। परपदार्थ तो पर ही हैं, भिन्न ही हैं, उनसे मेरेमें कोई परिणमन नहीं आता है, पर हम ही परबुद्धि बनाकर जो अपना ख्याल बनाते हैं, उस ख्यालसे ही क्लेश उत्पन्न होते हैं। किसी भी प्रकारका दुःख हो, उस दुःखके अनुभवकी जो स्थिति है, वह अपने आपके स्वभावसे च्युत होनेकी स्थिति है।

भैया ! स्वकीं ओर जहाँ उपयोग है, वहाँ क्लेश नहीं है। यह बात यद्यपि हम सबकी पूरी तरह गुजरती है और किसी न किसी रूपमें कुछ न कुछ ख्याल बनाकर हम अपने आप को संतोषमें रखते हैं। ठीक है कि दुःख आते हैं, पर दृष्टि सही स्वरूपकी बन जाये तो उस दृष्टिके प्रसादसे बाहरसे दुःख होने पर भी अन्दरमें दृष्टि कर लेगा और अपने आपमें भी धैर्य बना लेगा कि दुःख रहता है तो कब तक रहेगा ? ऐसा अन्दरसे बल प्रकट होता है। एक सत्य और असत्य स्वरूपकी दृष्टि होनेसे और इस ही कारण अपने आपसे अन्दरमें जो स्वाद आता है, आनन्द होता है, वह एक सत्य आनन्द है।

भैया ! बाहरमें दुःख है । फिर भी भीतर सुख है, ऐसी स्थिति सच्ची दृष्टि रखने वालेकी होती है। जैसे हम किसी कामकी जल्दीकी वजहसे भागे दौड़े जा रहे हैं और कदाचित् सिरमें कहीं कुछ लग जाय, चोट आ जाए, खून निकल जाए, मगर सुध अन्यत्र लगी है, जल्दीकी वजहसे हम भागे जा रहे हैं, हमें दर्दका ख्याल नहीं रहता है और जब उस ओरकी सुध हो जाती है तब उसका ख्याल होता है कि यह खून कहाँसे आया ? जिस तरफ दृष्टि लगी है, अनुभव उसका ही होता है ।

भैया ! यदि भ्रमरूप दशामें उल्टा सीधा उपयोग बना हो तो उस उल्टे सीधे उपयोग के बन जानेसे ही दुख हो जाता है । जैसे एक जगह समयसारमें दृष्टान्त दिया है कि 'एक कमरेमें एक मनुष्य बैठा हुआ ऐसा अनुभव करने लगा जैसे कि अन्य लोग गरुड़का ध्यान करने लगते हैं कि मैं गरुड़ हूँ तो ऐसा ध्यान कमरेमें बैठे-बैठे करने लगा कि मैं भैंसा हूं बहुत मोटा ताजा हूं, बड़े लम्बे-लम्बे सींग हैं । उसे ऐसी एकाग्रताकी भावना है कि उसे यह ध्यानमें आ जाए कि इस कमरेका दरवाजा छोटा है, इसमेंसे मैं कैसे निकलूंगा ?

भैया ! जिस ओर दृष्टि लगी है, उस ओरका ही सारा वातावरण बन जाता है और वैसा ही परिणमन होता है । हम अपनेको मनुष्य समझते हैं तो मनुष्य जैसा काम करनेकी नौबत आती है । हम अपनेको कई पुत्रोंका बाप समझते हैं कि मैं पिता हूँ तो बच्चोंके साथ भीतरसे अपना पिता जैसा व्यवहार रखना चाहता है । पिता जैसा व्यवहार करनेकी नौबत आती है । यदि अपनेको केवल यह देख सको कि यह मैं एक चैतन्यमात्र एक वस्तु हूं, इस तरह अपने आपको सबसे निराला केवल चेतनाशक्तिमात्र समझ सकता हूँ, तो वे मनुष्यादिक जैसी प्रवृत्ति नहीं करते, अन्तरङ्गमें ज्ञातादृष्टा रहनेकी प्रवृत्ति कर लेंगे । जैसी आपकी मान्यता है, वैसे ही यहाँसे बात निकलती है । जब भ्रमरू बाह्य पदार्थोंमें ममत्व करते हैं, यह मैं हूँ, यह मेरा है इतनी बुद्धि होनेमें कारण क्लेश होना तो प्राकृतिक बात है ।

भैया ! क्लेशोंसे मुक्ति पानी है तो वह सम्यग्ज्ञानसे ही पायी जा सकती है । जहाँ ज्ञानशक्ति हो, जिसकी निजकी पर जाननेकी वृत्ति हो वहाँ यह आत्मा अपने आपमें स्वस्थ हो सकता है ओर यह स्वास्थ्य ही शांतिका कारण है । गुरुजी बताते थे कि देखो भाई यह जो संसार है उसे एक अजायब घर समझो । जैसे अजायब घरमें लोगोंको देखनेकी इजाजत हैं, देखते जावो, पर किसी चीजको छूनेकी, उठानेकी कोशिश न करो या किसी भी चीज प्रयोग करनेकी इजाजत नहीं है । अगर वे बेइजाजत काम करते हैं तो वे बांधे जाते हैं, दंडित होते हैं । इसी प्रकार यह जो समस्त पदार्थोंका समूह है एक अजायब घर है । इसके देखनेकी इजाजत है, आत्मवस्तुके स्वरूपकी ओरसे केवल देखने जाननेकी इजाजत है । इस

तरहसे पदार्थोंमें राग करनेकी, द्वेष करनेकी या इस तरह आपा माननेकी इजाजत नहीं है। लेकिन जो इजाजतके विरुद्ध बाह्यपदार्थोंमें स्वत्व बताया करते हैं, आत्मीय भाव करते हैं तो वे अपने आप ही बंधनको प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः कोई बंधन नहीं है, पर बध जाते हैं। जैसे गायको बाँधते है लोग गायके गले को पकड़कर और गिरवाके एक छोरसे दोनो छोरोंको बाँध देते हैं। गायका गला सुरक्षित है, गायके गलेको गिरवेसे नहीं बांधा जाता है। किन्तु गिरवेका एक छोर दूसरे छोरसे बांध देते हैं। ऐसी स्थितिमें ही ये जगत्के जीव पंचेन्द्रियोंमें ही बंधे रहते हैं और उन्हींमें विहार किया करते हैं। जैसे गिरवेसे गायका गला नहीं बंधा है वैसे ही यह जीव कर्मोंकी उपाधि से तिरोहित हो गया है। पर साक्षात् बंधन नहीं हैं। साक्षात् बंधन तो पुद्गलका पुद्गलसे है। जैसे निमित्तनैमित्तिक भावोंके कारण गाय बंधनको प्राप्त है, इसी प्रकार यहाँ भी इन कर्मोंका कर्मोंसे बंधन है, मूर्तसे मूर्तका बंधन है। परन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि कर्मोंकी उपाधिके बीच रहने वाला यह जीव बंधा हुआ होता है, बंध जाता है और उन कर्मों के विपाकके कारण इस जीवके नाना ख्याल, नाना कल्पनाएँ जो इसकी भूमिकाके उत्पन्न होती हैं, उससे यह जीव अपनेको पराधीन अनुभव करता है, परतंत्र हो जाया करता है। तो कोई अन्य पदार्थ उसे साक्षात् नहीं बांधे हुए हैं, किन्तु उनमें वह भ्रम करता है व राग द्वेषकी भावनाएँ लाता है तो वह परतंत्र बन जाता है।

भैया ! पराधीनके भावसे शांति नहीं प्राप्त होती। अपने स्वरूपमें अभेदरूपसे प्रविष्ट हो तो शांति है। जितना हम भेद भिन्न होते जा रहे हैं, उपयोगमें उतना ही हमारा बिगाड़ है। हम स्वतः जैसे हैं सामान्य स्वरूपसे अथवा साधारणतः चैतन्यमात्र इस तरहका उपयोग बनायें। यह ज्ञातृत्व पर्याय और यह लक्ष्यभूत चैतन्यस्वभाव यह कर्ता कर्म एकमेक हो जाये अर्थात् उपयोगमें यह चैतन्वस्वभाव इस प्रकारका ज्ञेय हो जाये कि वहाँ बदलनेकी आकुलता नहीं हो। केवल एक शाश्वत स्वभावके अनुभवका स्वाद लिया जा रहा हो, ऐसा अभेद अनुभूतिकी दशामें जीवकी शुद्ध पर्यायका विकास होता है। यह कार्य भीतर ही भीतर गुप्त रूपमें ही अपने आपके द्वारा अपने आप कर लेनेका है और यह मात्र ज्ञान साध्य है। इस ही कामको स्थिरता होना ही चारित्र है। चारित्रका जो पालन है वह ऐसा प्रयोजक है कि कहीं मेरी इस आत्मानुभूतिकी पात्रताके विरूद्ध आचरण न हो। अगर विरूद्धाचरण हुआ, विषय कषायोंको आसक्तिका आचरण हुआ तो वहाँ इस अनुभूतिके पात्र भी नहीं हो सकते हैं। अतः अपना प्रवर्तन जितना है, इतनी सावधानीका हो कि किसी जीवकी हिंसा न हो, किसीके प्रति असत्य व्यवहार न हो, झूठ न बोलें, किसीकी चीज न चुरावें, बेईमानीका व्य-

वहार, कामवासनाका प्रसंग न हो, परिग्रहबुद्धिता न हो, ऐसा अगर चारित्र रहता है तो आत्मानुभूतिका स्वाद लिया जा सकता है।

अन्यायकी वृत्तिमें तो अपने आपको शल्य रहता है। जिसके कारण हम मोक्षमार्गके पात्र नहीं बन सकते हैं। इसलिए मिथ्यात्वका त्याग हो, अन्यायका त्याग हो तो हम अपने ज्ञानको ज्ञानके मार्गमें सुगमतासे ले जा सकेंगे। अच्छा ! एक यही श्रदान् हो कि मुझे जितने भी दुःख होते हैं वे सर्व मेरे अपराधके कारण ही होते हैं। दूसरोंके अपराधसे मुझे कोई दुःख नहीं होते। कल्पना बनाते हैं परवस्तुके बारेमें और परवस्तुवोंका परिणमन हमारी कल्पनाओंके कारण कुछ होता नहीं, इसलिए हम दुःखी बने रहते हैं। सो जब इस वस्तुस्वरूपका सम्यक्बोध करें और अपने आपमें यह निर्णय करें कि मेरे किस कसूरके कारण, किस अपराधके कारण मुझे दुःख हुआ ? अपने अपराधके सोचनेमें लग जायें तो शांति मिलेगी। जब दुःख होते हैं तो उस स्थितिमें हम दूसरोंका अपराध सोचते हैं। ऐसा सोचने के कारण हमारे दुःख और बढ़ जाते हैं। हम दुःखी होते हैं अपने ही अपराधसे, यह पूर्ण निश्चित बात है। तो दुःखी होनेके समय हम अपने अपराधोंके खोजनेमें लग जायें कि मैंने क्या कसूर किया ? किस वस्तुमें राग किया इसलिए दुःख है। इसी कारण हम अपने अपराधको खोज लें तो निश्चित तत्क्षण शांति प्राप्त हो सकती है। अगर दूसरोंमें दृष्टि लगी रही कि अमुकने यों अपराध किया, अमुकने यों किया, इसलिए बिगाड़ हुआ, ऐसा अपने मनमें जो दूसरोंका अपराध सोचे उससे दुःख बढ़ेगा, घटेगा नहीं तो अपने जीवनमें एक यह बात आ जाये कि जब भी मुझे दुःख होते हैं तो वे दुःख मेरे ही किसी कसूर से होते है।

एक घटनाका और विचार करो। कभी हम अपने न्यायसे चिगते नहीं, अपना आचार विचारसे चलते हैं तिसपर भी कोई मुझे सताए, कुछ भी करे तो उसमें मेरा कौनसा अपराध है जिससे मुझे दुःख हुआ और कुछ नही तो यह ही अपराध है कि हम अपनी स्वभावदृष्टिको छोड़कर किसी परकी दृष्टिमें लगे हैं, आत्मतत्त्वकी ओर झुके हैं तो बस यही हमारा अपराध है। कोई दुःख हुआ तो समझो कि मेरे ही अपराधसे मुझे दुःख हुआ। अन्य के अपराधसे मुझे दुःख नहीं हो सकता है और वह अपराध इतना ही है कि हम वस्तुके सच्चे स्वरूपकी दृष्टि न कर सकें। एक स्वयंके ज्ञानके बीच एक बाधा डाल सकने वाली चीज है तो यहाँ मूल दो ही हैं—कर्तृकर्मभाव और निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ निर्णय का अभाव। जहाँ दोनों बातें दिखाती हैं कि कर्तृकर्मभाव परस्परमें नहीं हैं, पर निमित्तनैमित्तिक भाव इस प्रकारसे चल रहे हैं, ऐसी दोनों ही बातें जिस दृष्टिमें हों, जिस निर्णयसे समझ मे आती हैं वह बड़ी सावधानीका ज्ञान है। किसी और एकांत न कर सके, किसी एकांतमें न

झुक सके और सर्व प्रकारकी सावधानी अवश्य बनी रहे, यह बड़ी प्रामाणिक दृष्टिका काम है।

परपदार्थ अपने ही स्वरूपमें अवस्थित हैं। यहाँ जो बिगाड़ रहता है, इसीका विकार है। जितनी भी कुछ परेशानियाँ होती हैं वे सब अपने ही भावके कारण होती हैं। किसी दूसरेके भावके कारण परेशानियाँ हों ऐसा नहीं होता। यह दुःख क्यों विकृत कहलाता है कि वह पर-उपाधिका निमित्त पाकर प्रकट होता है। फिर भी यह देखो कि अपने ही भावोंके कारण यह जीव बिगड़ा हुआ है। किसी दूसरेके भावोंके कारण यह जीव नहीं बिगड़ा हुआ है। इसलिए यह जीव अपना ही वास्तवमें कर्ता है, कर्म है, करण है और कर्मफल है, ऐसा जो मानता है वह जीव मोहका विनाश कर सकता है। किन्तु मोहीको वह ज्ञान नहीं रुचता है। यह मेरा ही तो घर है, यहाँसे उठकरमें सीधा उस ही घर तो जाता हूँ। मैं किसी दूसरे घर तो नहीं जाता। यह मेरा घर है। अरे ये सब व्यवस्थाकी बातें हैं। वस्तुतः मेरा तो मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको छोड़कर कुछ अन्य है ही नहीं। ये बाकी तो सब व्यवस्थाकी चीजें हैं या अज्ञानकी अवस्थामें मोहको बढ़ाने वाली वासनायें हैं ज्ञानीको अपने सत्य स्वरूपका ज्ञान होता है और वही प्राप्त हो जाता है। प्रभो ! केवल मुझे यह स्वभाव-दर्शनका ही परिणमन हो तो ही भला है। पर-परिणतिसे हटकर जो विचार भिन्न परिणति लगी हुई है बस यही अकल्याण है। मेरा एक ही निर्णय है, स्वस्थिति हो, कल्याण हो। च्युत होकर बाह्यमें रमना वही अकल्याण है।

स्वलक्ष्यता महादुर्गस्तत्रत्यस्य न बाधनम्।
तत्र गुप्तो न जेयोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४७॥

अपने आपकी आत्माका लक्ष्य करना वह महान् किला है। जैसे कोई अपनी रक्षाके लिए मजबूत किलेमें बैठता है तो उससे भी अधिक जबरदस्त मजबूत किला है अपने आपके आत्माका लक्ष्य रखना। उस ईंट पत्थरके किलेके भीतर भी कल्पनाएँ करके यह जीव दुखी हो सकता है, पर अपने आत्माके लक्ष्यमें रहता हुआ पुरुष दुःखी नहीं हो सकता। सो अपने आपका लक्ष्य होना ही महान् किला है। उस किलेमें रहने वाले पुरुषको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। उसमें जो गुप्त है, सुरक्षित है, ऐसा पुरुष दूसरोंके द्वारा जीता नहीं जा सकता है। संसारमें सबसे महान् कार्य है कि अपने आत्माके यथार्थस्वरूपका परिचय हो जाये और उसमें ही यह लीन हो जाये। ऐसा जिन्होंने किया है। उनको ही राजा महाराजाओंने, इन्द्रोंने पूजा है। उस किलेमें गुप्त सुरक्षित जो रहता वह विजयी पुरुष है। सो मैं ऐसी बाहरकी वृत्तिको छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यरूप दृढ़ किलेमें बैठूँ और अपने

में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

भैया ! दुर्ग उसे कहते हैं जहाँ बड़ी कठिनाईसे पहुँच हो सकती है। दुःखेन गम्यते प्राप्यते यत्र सः दुर्गः।' बड़ी मुश्किल जहाँ जाना होता है उसको दुर्ग कहते हैं। यह आत्मा दुर्ग ईंट पत्थरके किलेसे भी मजबूत होता है। वह ऐसा मजबूत होताहै कि उसके भीतरमें अन्यका प्रवेश होना असम्भव है। आत्माके लक्ष्य होनेकी बात इतनी कठिन है कि इसमें सर्व साधारण जीवका प्रवेश नहीं हो सकता। जिसका संसार निकट है, जिनकी मुक्ति पास है, ऐसे ही जीव अपने आपके आत्माका लक्ष्य कर सकते हैं। सो ऐसा अपना लक्ष्य हो यही एक सुरक्षित अपना महल है, जिसमें निवास करके यह जीव व्यग्र नहीं होता, आकुलित नहीं होता। तब यह अपने आप स्वयं सुखी हो जाता है।

स्वलक्ष्यता सुधासिन्धुस्तत्रत्यस्य न तापनम्।
तत्राविष्टः सदा शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४८॥

अपने आपका लक्ष्य होना यही अमृतका समुद्र है। उस समुद्रके निज लक्ष्यमें रहने वाले जीवको किसी तरहका संताप नहीं है जैसे कोई बड़ी गर्मीसे सताया सो और वह समुद्रमें नहाये, डुबकी लगाये तो उसको संताप नहीं रहता। सारा खेद उसका दूर हो जाता है। इसी तरह संयोग वियोगके नाना दुःख संताप इस जीवमें लगे हैं। सारे संतापोंसे यह जीव बहुत संतप्त है। उसका संताप इन दोनों लक्ष्योंरूप समुद्रमें नहानेसे दूर हो सकता है। निज लक्ष्यके काममें किसी प्रकारका अनिष्ट नहीं, सदा शांति है सो यह मैं निज ज्ञानसुधा सागरमें मग्न होकर अपनेमें अपने लिए आपने आप सुखी होऊँ।

पापोदये न हानिर्मे हानिः पापमये निजे।
पापं पराच्युतिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४९॥

पापोंका उदय होनेपर मेरी कोई हानि नहीं, पर पापमय मैं खुद बन जाऊँ तो उसमेंहानि है। निश्चयतः पाप क्या चीज है कि परपदार्थमें मैं मोही हो जाऊँ, स्नेहीबन जाऊँ यही पाप है, इसमें ही हानि है। और जो व्यवहारतः पापप्रकृतियाँ हैं उनका उदय बाह्य बात है। देखो पाप का उदय बड़े-बड़े पुरुषोंपर भी आया। आदिनाथ भगवानको ६ माह आहार नहीं मिला। गजकुमार मुनिराजके ससुरने उनके सिरपर अगीठी जलाई क्योंकि भगवान् नेमनाथके समवशरणमें गजकुमार विरक्त हो गये थे दो दिन पहले शादी हो गयी थी, लेकिन विरक्त होकर साधु बन गये थे। जब भीतरसे राग और मोह हटता है तब यह जीव अपने ज्ञानका ही कार्य करता है। गजकुमार साधु हो गये, उनके ससुरकोक्रोध आया कि अगर साधु बनना था तो विवाहसे पहले क्यों न हो गया ? सो गजकुमार मुनिराजके सिर

पर अगीठी जला दी । कितना बड़ा पापका उदय है । सुकोशल स्वामीकी पूर्वमाता सिंहनीने उन्हें मार डाला । कितना बड़ा पापका उदय है, किन्तु हानि कुछ नहीं ।

सुकुमार जब ग्रहस्थ अवस्थामें थे, यदि उन्हें दीपक दिख जाये तो आँखोंसे आँसू आ जायें । वे तो रत्नोंके उजेलेमें रहते थे । यदि चावलोंकी जातिमें से कोई रद्दी चावल होता था तो उसे निकाल देते थे । समस्त चावलोंमें उत्तम जातिके चावल उनके भोजन थे । जिन गद्दोंमें बिनौला रह जाता था उनपर वे सुखसे नहीं बैठते थे । लेकिन कुमारको अपनी सुकुमारताका कोई ख्याल नहीं हुआ । वे अपने आत्मीय ध्यानमें रत हो गये । जिस समय पूर्व भवकी भाभी वर्तमान भवकी स्यालनी अपने बच्चे सहित वहाँ घूम रही थी, इस सुकुमारको देखकर उसे एकदम स्मरण हो आया कि इसकी ही वजहसे मुझे नाना कष्ट उठाने पड़े थे । क्रोधमें आकर सुकुमार मुनिराजके पैरोंको चाटने लगी । खून निकल आया और कुछ माँसके टुकड़ेभी खा लिए, लेकिन सुकुमार आत्मध्यानसे नहीं चिगे । यद्यपि स्यालनीको हटाना कोई बड़ी बात न थी । एक हाथसे डंडा उठाकर उस स्यालनी को यों ही भगा दिया जाता, मगर इतने आत्मस्नेही सुकुमार महाराज कि आत्मध्यानको छोड़कर कोईसा भी विकल्प करना उन्हें नहीं सुहाया । उन्होंने विकल्प नहीं किया और अपने आत्मध्यानका ही पोषण किया । सो पापका उदय भले ही था मगर उनकी आत्मा पापमय न थी, पुण्यमय थी । तो पापके उदयमें हानि नहीं होती, मगर पापी बन जाये कोई तो वहाँ हानि है ।

जैसे बड़े-बड़े राजा महाराजा अहंकारके गर्वमें आकर लालसा और तृष्णामें फंसकर अनेक अत्याचार करते हैं, अनेक पाप बन गये । सो पापमय बन जानेसे हानि है, खोटा बंध है । सो पापके उदयसे नुक्सान नहीं है, किन्तु पापमय परिणाम करनेमें नुक्सान है । पापोंका उदय बड़े-बड़े पुरुषोंके आया, पर वे शांत सदाचारी ही रहे । उनको विकारभाव नहीं हुआ । और जो बड़े पुण्यके ठाठमें रहते हैं उनको विकारभाव हो जाता है । तो अब बतलावो कि पापके उदयमें हानि क्या है ? पापके उदयमें हानि नहीं है, किन्तु अपने आपको पापमय बना लेनेमें हानि है । पाप इतना ही है । यही सब पाप है । जिसकी अपने आपकी प्रतीति मिटी, अपने आपसे हटा, बाह्यमें अन्य पदार्थोंमें लगा तो वे सब काम पाप हैं । जिन्हें अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी खबर नहीं और परभावोंमें लिपटा है, जो परिणति होती है उस परिणतिमें मुग्ध है तो वह पापमय है और तब उसे फल बुरा भोगना पड़ता है । सो पापोंको छोड़कर अपने आपको अपने आपमें देखकर यह मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ ।

पुण्यदयो न लाभो मे लाभः पुण्यमये निजे ।
पुण्यं स्ववृत्तिता तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।५-५०।।

देखो भाई पुण्यके उदयमें मुझे लाभ नहीं है। पुण्यका उदय हुआ, धन वैभव पास हो गया, लोग मेरी जी हजूरी करने लगे और यदि मेरी वृत्तिमें आसक्ति चलती है तो संक्लेश ही संक्लेश रहते हैं। पुण्यमय परिणाम नहीं हैं और बड़े पुण्यका ठाठ है तो यह जीव आनन्द नहीं पा सकता। पुण्य क्या है ? पवित्रता करना अपने आपको अपने आपमें जानना, यही पवित्र काम है। पुण्यका अर्थ है पवित्र, सो जैसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उस रूप अपने उपयोगको बना लिया तो यही संकटोंसे दूर हो जानेका उपाय है।

बड़े-बड़े राजाओंके पुण्यके उदय आये, बादशाहोंके वर्तमान इतिहासमें जो महापुरुष हुए उनका बड़ा पुण्यका उदय आया और उस उदयमें दूसरों पर अन्याय किया, अत्याचार किया तो उन्हें क्या पुण्यसे लाभ मिला ? बोलो, उनकी दुर्गति हो गई, खोटे कर्मबंध हो गये, कुछ थोड़े समयके लिए काल्पनिक मौज ले ली। मगर इन कल्पनाओंके मौजसे ही तो पूरा नहीं पड़ता। सो पुण्यके उदयमें कोई लाभ नहीं। लाभ तो अपने आपको पवित्र बना लेनेमें है, अपना शुद्ध स्वभाव बना लेने में लाभ है, अपने आपको संभालना, मोहसे बचा लेना यही अपना पुण्यभाव है।

भैया ! मोहके समान कोई पाप नहीं। मोह स्वयं एक पाप है। हिंसा, झूठ, चोरी, कशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ—इनमें जितने पाप हैं उससे भी अनन्तगुना मोह में पाप है। मोहमें अपना आत्मा अपने आधीन रह ही नहीं पाता। पराधीन हो जाता है। तो मोह ही एक विकट पाप है और निर्मोहता ही बास्तविक पुण्य है। अपना आत्मा देखने जानने वाला पदार्थ है तो बस जानो और देखो। उसमें रागद्वेष करनेसे लाभ क्या है ? मिलता तो कुछ है नहीं ! पर प्रत्येक वस्तुके विषयमें विकल्प विचार बना लेनेसे इस जीवको केवल क्लेश ही होते हैं। सो पापवृत्तिका त्याग करो, अपने आपके दर्शन करो, इस ही ज्ञानस्वरूपमें प्रसन्न होकर अपनेमें अपने आप सुखी होओ। प्रसन्नताका अर्थ है निर्मल होना। निर्मल होनेमें ही आनन्द है। इसलिए प्रसन्न होनेको आनंद पाना लगा लेते हैं, पर वास्तव में प्रसन्न होनेका अर्थ खुश होना नहीं है बल्कि निर्मल होना है। सो आत्माकी निर्मलता यही है कि मोह छूटे, कषाय छूटे मोह और कषाय छूटनेसे ही निर्मल हो गये और आत्मा की मलीनता यही है कि मोहका भाव पैदा हों और कषायोंका इसमें जागरण हो। सो उस मोहसे परे होकर अपने आपको पवित्र बनाता हुआ मैं ज्ञानमें आनेके लिए अपने आप सुखी होऊँ।

प्राङ्मया चेष्टितं यत्तत्स्वकषायविचेष्टितम्।
अकषायः स्ववृत्तिः शं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–५१॥

मैंने जो पहले चेष्टाएँ कीं, वे सब अपने आपकी ही चेष्टाएँ हुईं। मैंने दूसरोंका कुछ

काम नहीं किया, किन्तु जब जो कषाय उत्पन्न हुई, उस कषायका इलाज किया। कोई किसीसे राग नहीं करता, किन्तु उसमें रागकी कषाय उापन्न हुई तो अपने राग कषायको वह मिटाना चाहता है। सो सर्वत्र यह जीव अपने कषायोंकी ही चेष्टा करता है दूसरोंका कुछ नहीं करता, घरमें रहते हुए बच्चोंकी कितनी खबर रखते, मित्रोंकी कितनी खबर रखते, पर उनमें जब इस तरहका कषाय नहीं रहता तो वही परिवारके लोग हैं, वे ही मित्र जन हैं, पर उसे नहीं सुहाते और जव राग कषाय रहता है तो वे परिवारके लोग चाहे न पूछें, पर वह अपने रागभावसे अपने कषायकी चेष्टा करता रहता है।

एक पौराणिक कथा है कि एक देवरति नामके राजा थे और उनकी स्त्रीका नाम रक्ता था। सो देवरति राजा अपनी रानीसे बडा मोह रखते थे। जब राज्यके कामोंमें फर्क आने लगा तो पुरवासियोंने राजासे कहा कि महाराजा या तो आप रानीसे ही मोह कर लें या राज्य सम्भालें। दोनों बातें नहीं हो सकतीं। राजाने कहा कि हम राज-काज नहीं करेंगे। सो रानीको लेकर राज्यसे निकल गये। चलते-चलते एक छोठे नगरके बाहर खेतोंके पास ही ठहर गये। राजाने रानीसे कहा कि तुम यहीं ठहरो, हम कुछ भोजन सामग्री ले आयें। राजा भोजन सामग्री लेने गया और रानीका क्या हाल हुआ कि एक लूला कुबड़ा आदमी चरस हाँक रहा और गा रहा था। उसका कण्ठ सुरीला था, उस सुरीले कण्ठको सुनकर रानी मोहित हो गई। कुबड़ेसे रानीने जो कुछ कहना था, कहा। कुबड़ा डरा और कहा कि तुम बड़े राजा की रानी हो, यदि राजाने सुन लिया तो न तुम रहोगी और न मैं जीवित रहूंगा। रानीने कहा कि यदि राजाको खबर मिल गई तो हम संभाल लेंगे। राजा आया तो रानी उदास होकर बैठ गई। इस सारी कथामें यह समझे कि कोई किसीसे प्रेम नहीं करता, सब अपने-अपने कषायोंकी चेष्टा करते हैं। रानी उदास होकर बैठ गयी तो राजा कहते हैं कि तुम्हारे लिए राज्य छोड़ा, तुम्हारी इतनी उदासीका कारण क्या है? रानी बोली कि आज आपकी वर्षगाँठ मनाते। राजा बोला कि वर्षगांठ जिस तरहसे मनाना चाहो मना लो। रानी बोली कि बहुतसे फूल ला दो और बहुतसा सूत ला दो, डोरा ला दो १०-२० गज। हम २-३ मालाएँ बनायेंगी। जब मालाएँ बन चुकीं तब रानी राजासे कहती है कि राजा महलमें होते तो ऊँचे दरबारके ऊँचे सिरेपर बैठाकर वर्षगाँठ मनाती। चलो उस पहाड़ पर वर्षगाँठ मनाएँ। पहाड़ पर चले गये। रानी जब राजाको पहाड़की चोटी पर ले गयी तो वहाँ चारों तरफ मालावोंसे राजाको जकड़ दिया। तो केवल उसके मनानेका बहाना था रानीने एक धक्का लगा दिया जिससे राजा पहाड़से लुढ़ककर एक नदीमें गिर गया।

नदीमें बहकर राजा एक किनारे पर पहुँचा। तो जिस देशमें पहुँचा वहाँका राजा

गुजर गया था। उस देशके मंत्रियोंने सलाहकी कि आज प्रधान हाथीकी सूँडमें माला डालकर फिराओ। हाथी जिसके गलेमें माला डाल देगा, उसोको राजा बनाया जायेगा। हाथी गया घूमता-घूमता, देवरतिके गलेमें ही माला डाल दी और देवरतिको सूंडसे चढ़ाकर मस्तक पर बैठा लिया। देवरहित तो यहाँ राज्य करने लगा। रानीका क्या हाल हुआ कि कुबड़ेपर आसक्त हो गयी थी। कुबड़ेसे चलते नहीं बनता था तो एक चंगेड़ीमें अपने सिर पर रखकर नाचे, कुबड़ा गावे और नाचे। जो रुपया आठ आने मिल जाते उससे ही अपना पेट पालते। दुनियामें बतावे कि हम सती हैं और अपने पतिको सिरपर रखे रहती है। वह रत्ना इस तरहसे पहुँचते पहुँचते उसी नगरमें पहुँची जहाँ देवरति राजा थे। वहाँ भी नाचे और गावे। थोड़ी देरमें देवरतिने कुछ पहिचान लिया कि यह तो हमारी स्त्री मालूम पड़ती है। सो जब दरबारसे उठ गये तो उस नाचने वालीसे पूछते हैं कि तुम कौन हो, क्या हो, ऐसी बातें करते करते उस राजाने समझ लिया। उस राजाको यह जगत्का बड़ा असार मालूम हुआ कि एक मेरी ऊँची पटरानी भी ऐसा काम कर सकती है, ऐसा सोचकर ही ये विरक्त हो गये। इस कथानकमें शुरूसे अंत तक यह देखो कि कोई किसीसे राग नहीं करता है। जो करता है वह अपने कषायकी चेष्टा करता है।

भैया! आप बच्चोंका पालन पोषण नहीं करते। आप एक अमूर्तवस्तु हैं। सो जैसा कषाय आया उसका आप इलाज कर रहे हैं। यदि भ्रम साथ न है तो यह मान रहे हैं कि मैं बच्चोंका पोषण करता हूँ, ये बच्चे मेरे ही तो हैं। सो मने जो भी चेष्टाएँ की वे सब अपनी कषायकी चेष्टाएँ कीं। वास्तवमें मेरा जो कार्य है, मेरी जो वृत्ति है वह तो कषायरहित ही है। सो कषायरहित जो मेरी आत्माका स्वरूप है उस स्वरूपमें ही मैं रमूं और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

मनोवाक्कायिकी यावच्चेष्टेच्छातस्ततोऽसुखम्।
सुखं स्वास्थ्यमनिच्छा तत्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-५२॥

कहते हैं कि जब तक मनकी, वचनकी, कायकी चेष्टा रहेगी तब तक इस जीवको सुख नहीं हो सकता। जब तक इच्छा है तब तक इसको शांति नहीं है। इच्छा ही तो व्याधियोंको उत्पन्न करती है। इच्छा ही क्षोभ मचाती हुई प्रकट होती है। कुछ हुआ और उससे दुःख हो गया, ऐसी बात नहीं है किन्तु इच्छा स्वरूप ही दुःख है। इच्छा जब उत्पन्न होती है तब इस जीवकी परिणतिको हिलाती हुई ही प्रकट होती है। देखो जब तक इच्छा है तब तक सुख अपनेमें प्रकट नहीं हो सकता। वैसे तो यह जीव स्वयं दुःखी है, स्वयं आनन्दस्वरूप है। सब आनन्दस्वरूप है। सब मामला ठीक है। बस समझका सब फेर है।

भैया ! किसी प्रकारकी इच्छा चलती है, विशेष आकांक्षा उठती है तो आधी बुद्धि तो यों ही खत्म हो जाती है। इच्छा जब तीव्र होती है तो बुद्धि काम नही कर सकती। इच्छा के होनेसे बुद्धिमान् बुद्धू बन जाता है। जहाँ इच्छा होती है वहाँ धीरता नहीं रहती है। धीर किसे कहते हैं ? धी और र। 'धीं बुद्धि राति ददाति इति धीरः।' जिसकी बुद्धि अत्यन्त प्रगत है, उसे धीर कहते हैं। तो इच्छा रहते हुये धैर्य नहीं रह सकता। सो जब तक इच्छा है तब तक दुःख ही है। सुख तो अपने आपमें स्थित हो जानेमें है। सो जब अपने आपमें स्थित हो तब इच्छा न रहे या जब इच्छा न रहे तब अपने आपमें स्थित हो। सो वास्तवमें सुख तो स्वास्थ्य ही है और स्वास्थ्य भी क्या, इच्छाओंका जो अभाव है वही स्वास्थ्य है और वही सुख है।

पुण्यका उदय जब आता है तो यही रोना रह जाता है। इच्छा बढ़ रही है, तृष्णा बढ़ रही है, सो पूर्वपुण्यके प्रसादसे जो पाया उसका भी सुख, सामग्रियाँ पायीं, धन वैभव पाया उसका भी सुख तृष्णा वालोंको नहीं रहता है, क्योंकि वह तो अधिक उमंगमें आकुल व्याकुल रहता है। पासकी प्राप्त सम्पदाका भी भोग नहीं करता है। इच्छा तृष्णा ऐसी डाइन है और इच्छा तृष्णाके कारण ही सम्पदा है। कुछ सम्पदा मिली तो कुछ इच्छा बढ़ेगी, तृष्णा बढ़ेगी। तो उन अनर्थोंकी जड़ यह सम्पदा है जिसके पीछे लोग इतना मरते हैं। वह सम्पदा आत्मोन्नति नहीं करने देती है। विपत्तियोंमें तो फिर भी स्वाधीनता रहती है, सदाचार बना रहता है। गरीबोंका ध्यान बना रहता है, न्यायसे चलनेकी उमंग रहती है। सम्पदामें सब भूल जाता है। सो किसी भी सम्पदाकी, कीर्तिकी इच्छा उत्पन्न न हो और अपने सहजस्वरूपके दर्शन होते रहें तो मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकता हूं।

भ्रमे नष्टे यथा स्वप्ने दृष्टं भ्रान्तिस्तथा सदा।
निष्क्रियोऽहं यतः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-५३॥

जैसे जब स्वप्न आता है तो स्वप्नमें देखी हुई बात स्वप्नके समय ऐसी मालूम होती है कि यह बिल्कुल सच है। यही तो बात है। उसे झूठ नहीं समझ सकते हैं और झूठ ही समझ लें तो स्वप्न ही कैसा है ? वह तो जागना हुआ और स्वप्न जब नष्ट हो जाता है, जाग जाता है तो उसे यथार्थ मालूम होता है कि अरे वे सब बातें झूठी थीं। इसी तरह जब तक मोह लगा है तब तक भ्रमकी बातें बिल्कुल सच मालूम पड़ रही हैं। हमारा ही तो घर है, हमारा ही तो कुटुम्ब है, हमारे ही तो लोग हैं सब सत्य-सत्य मालूम होता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे ख्याल होता है कि अहो, वे सब बातें झूठी थीं। इतने परिभ्रमणमें

जो हम पड़े हैं वे सब मिथ्या हैं। मिथ्यामे दुष्कृतम्। तो कैसे पाप मिथ्या हो? वह मालम पड़ रहा है कि अरे जो पापोंका परिणमन था वह तो औपाधिक था। जब आत्मा के ज्ञानस्वभावका उपयोग है तो उस समय पहलेकी सारी बातें मिथ्या मालूम होती हैं। अरे वह सब झूठा था। तो जब ज्ञान जग जाता है तब पता पड़ता है कि वह भ्रान्ति थी।

भैया! भ्रमके समयमें भ्रम क्या भ्रम मालूम पड़ सकता है? रस्सीका साँप जान गये हैं और उसी समय यह जाननेमें आ जाये कि हमारा ज्ञान भ्रमरूप है तो रस्साको रस्सी हो जान गये। फिर उसे भ्रम कहाँ कहेंगे? यदि भ्रम हो जाये और यथार्थ ज्ञान न आवे तो यही निर्णय रहेगा कि यह साँप ही तो है। जहाँ भ्रम मालूम होता है वहाँ उसकी लगन नहीं रहती है। तो ज्ञान हो जानेपर ही यह पता पड़ता है कि मेरा वह समय मिथ्यात्वमें बीता। वे सारी बातें मेरी इन्द्रजालवत थीं। मैं तो ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ। मिच्छामे दुक्कडं। सबसे बड़ा प्रायश्चित है निज सहज ज्ञानस्वरूपका अवलोकन। यह भाव बना तो पाप नियमसे कटेंगे। यदि पाप किया है तो आचार्य महाराजाके पास जायें। वे जो कहेंगे उसका प्रायश्चित्त लें। ये बातें यद्यपि विधिवत् हैं, मगर इतने तक ही जो रह गया वह तो एक व्यापारवत् रह गया। जैसे लोग अपना व्यापार करते हैं तो सोचते हैं कि ऐसा कर लें, ऐसा करनेमें लाभ है। जैसे गृहस्थीने अपनी आजीविकाका व्यापार किया। इसी तरह ज्ञानहीन साधुने अपने धर्ममें धुनको चीज समझी तब मौज मानते हैं तो सबसे बड़ा प्रायश्चित यही है कि अपने आपमें यह बात दृढ़तासे जम जाये कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं यही जानन बना रहा करे। जाननवृत्तिसे ही चले, बस इतना ही मेरा काम है और इसके अतिरिक्त नानारूप मैं नहीं हूँ, ऐसी ईमानदारीका उपयोग बने तो पाप मिट जाते हैं, कर्म स्वयं मिट जाते हैं, आगेका रास्ता मिलता है।

भैया! ज्ञानामृत पान यदि नहीं हो सकता तो यह कषायोंका खेल है। किसीको जचा कि स्त्री पुत्र, विषयभोगोंमें लाभ है, उनमें लग गये, किसीको जचा कि इस तरहसे धर्म साधन व्यवहार करें तो उसमें लग गये। मगर कर्म जिस विधिसे कटते हैं वह विधि तो एक ही है। वह विधि है सहज ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि। इसके सिवाय धर्मका मार्ग कोई दूसरा नहीं है। यदि यह ज्ञान जग गया तो पापोंमें प्रवृत्ति न होगी। सो मुझे और क्या करना पड़ेगा? यही व्रतरूप परिणति ही तो करना पड़ेगा। ज्ञानी इस व्रतके प्रवर्तनको भी अपना स्वरूप नहीं मानते। उसे भी मन्द कषायोंका फल समझते हैं। पाप है, वह तीव्र कषायोंका फल है और व्रत है वह मंद कषायका फल है। और धर्म है वह रत्नत्रयका फल है। यदि हिम्मत हो तो तुम्हारी आत्माके पास सब कुछ है। कहाँ जाते हो कहीं भटकना

जरूरी नहीं। क्या करने योग्य काम है? इसमें अधूरापन तो कुछ है ही नहीं। क्यों व्यर्थ की तृष्णा करते हो। यह भगवान् आत्मा स्वयं ही परिपूर्ण है और यह तो इस तरह कमर कसे कह रहा है कि यह मैं भगवान् तो तेरे साथ अनादिसे बैठा हूं, पर तू ही मेरी ओर दृष्टि नहीं देता तो मैं क्या करूँ।

स्वभाव है भगवान् और उपयोग है भक्त। यह भगवान् भक्तसे कह रहा है कि ऐ भक्त मैं तो तेरे निकट सदासे रह रहा हूँ और इस शैलीसे रह रहा हूँ कि तेरा भला ही कर दूं, तुझे संतुष्ट कर दूं, आनन्दमय कर दूं। पर हे भक्त! तू मेरी ओर दृष्टि ही नहीं देता। दृष्टि तो तू फेर, फिर मैं अपनी कला दिखाऊँ। पर तू दृष्टि ही नहीं देता। तो इतनी गल्ती के कारण मैं तुझे अपना महत्त्व नहीं दिखा सकता। सब कुछ है पल्ले। कहीं कमी नहीं है, सिर्फ दृष्टिके उपयोगसे अपने आपको देखने भरकी आवश्यकता है और कुटुम्ब भी न हो तो न हो। वे भी एक स्वयं सत् हैं, उनका भी परिणमन उनके साथ है। हों तो हों और न हों तो न। उनका परिणति उनमें है। उनसे मेरेमें क्या फर्क आ गया? अज्ञानी घबड़ाता है। अरे घबड़ाते क्यों हो? यह तो बिल्कुल साफ निर्णय है कि हम आप जितने भी बैठे हुए हैं वे सब एक-एक करके हट जावेंगे। मिट जावेंगे, चले जावेंगे। यह तो साफ निर्णय है फिर क्यों घबड़ाते हो? हाय अमुक न मर जाये, अमुकका क्या हाल होगा? अरे यह तो निश्चिय है कि एक दिन वह अवश्य आयेगा कि सब अपना-अपना रास्ता नाप जावेंगे। कोई किसीका सहायक नहीं है।

भैया! जब भ्रम खत्म होता है और अपने ज्ञानप्रकाशकी स्थिति आती है तो उससे बढ़कर विभूति दुनियामें और कुछ नहीं हो सकती। यही सबसे बड़ा भारी वैभव है। देखो अपने स्वरूपको कि यह मैं आत्मा निष्क्रिय हूँ अर्थात् यह अमृतमय आत्मतत्त्व किसी विकारका करने वाला नहीं होता। मेरे ही सत्त्वके कारण मेरेमें विकार आता हो, इसमें मैं कभी शुद्ध नहीं हो सकता। आता है मुझ सत्में विकार, पर मेरे सत्त्वके कारण नहीं आता, कर्म उपाधिका निमित्त पाकर आता है। जैसे इस चौकी पर यह छाया पड़ी, यह छाया आयी तो चौकी पर है, पर चौकीके सत्के कारण नहीं आयी है। जैसे पुद्गलके सत् के कारण चौकीमें रूप है, इस तरहसे चौकीपर चौकीके कारण छाया नहीं है। चौकी पर जो यह छाया है यह छाया यदि चौकीके अस्तित्वके कारण है तो फिर सदा रहे। हाथ हटाया, छाया मिटी, यह ऐसा क्यों हो गया? इसीलिए हो गया कि चौकीका यह छायारूप परिणमन चौकीके अस्तित्वके कारण नहीं है। है चौकीमें, पर है एक बाह्य पदार्थका निमित्त पाकर। तो इसो कारण यह भ्रम क्या है? इस छायाकी ही तरह यह भ्रम है। छाया, माया,

काया, भाया, खाया, गाया सभी ऐसी ही बातें हैं। सो यह उपाधिका सान्निध्य पाकर प्रकट होता है। जब ज्ञानबल बढ़ता है तो ज्ञानबलके प्रसादसे भ्रम खत्म हो जाता है सो उपाधि भी खत्म होने लगती है। भ्रम समाप्त होनेपर मालूम होता है कि वे सब विडम्बनाएँ मिथ्या थीं। भामंडल सीताकी मूर्तिके रूपको देखकर मोहित हो गया।

भामंडल और सीता भाई बहिन थे। भामंडलको यह पता न था कि सीता हमारी बहिन है। उत्पन्न होते ही दोनोंका वियोग हो गया था। इतनी आशक्ति भामंडलको हुई कि जब तक यह न मिले तब तक अन्नका त्याग, खान-पानका त्याग। नहीं खायेंगे, मर जावेंगे। उनके हठ हो गयी और ऊधम किया। सीता देखनेके लिए जब वहाँ चले तो रास्ते में जब जङ्गलसे निकले, जिस स्थान पर कोई पूर्वजन्मकी घटना घटित हुई थी, झट ध्यान आ गया कि अरे सीता तो मेरी बहिन है उसी समय यह पछतावा हुआ कि अरे ये सब बातें मिथ्या हैं।

ये जो सब संकट हैं, ये संकट क्या हैं? ये तो वे कल्पनाओंके संकट हैं जहाँ अज्ञानज कल्पनाएँ मिटीं तहाँ संकट मिट गये। यदि संकट मिटना है तो बाह्य पदार्थोंमें कुछ नहीं कर सकता हूँ। वस्तुस्वातन्त्र्य है। भावना बनाकर अपने ज्ञानबलको दृढ़ बनावें तो वे सारे संकट खत्म हो जाते हैं। जैसे कोई मेढकोंके तौलनेकी व्यवस्था क्या कर सकता है? वे एक सेर मेढक बोलो तुल जावेंगे? धरोगे झट उचट जावेंगे, मेढकोंको तौल कैसे सकते हो? उनकी व्यवस्था नहीं बना सकते हैं? इसी तरह हम परपदार्थोंकी व्यवस्था क्या बनायेंगे? एकको बनाया दूसरा मिट गया और परमार्थसे तो जिसको बनाया कहते हैं, उसको भी नहीं बनाया। उसने विकल्प किया और ऐसा सहज योग था कि उसके अनुकूल परिणमन हो गया।

भैया! कर्तृत्वका भ्रम, स्वामित्वका भ्रम, यह आत्मीय भ्रम खत्म हो जाय तो यह जीव सुखी रह सकता है। जब तक भ्रम साथ है तब तक जीवको शांति नहीं मिल सकती। सो उस सर्वभ्रमको समाप्त कर निष्क्रियस्वभाव ज्ञानमात्र अपने आत्मतत्त्वको देखो और उसीमें उपयुक्त रहो। जैसे सावनमें मूसलाधार वर्षा होने पर यदि रहनेका घर बड़ा अच्छा मिल गया, जिसमें जरा भी चूता न हो तो फिर उस घरसे बाहर होनेकी क्या इच्छा होती है? नहीं। इसी तरह निर्विकल्प आनन्दघन आत्मस्वभावी निवास हो रहा तो संकटोंकी बरसातमें क्या आत्मगृहसे निकलनेकी भावना हो सकती है? नहीं। मैं ऐसे स्वरूपमें ही रहूं और अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

॥ समाप्त ॥

॥ ॐ ॥

सुख यहाँ चतुर्थ भाग

प्रवक्ता–अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

××××

सर्वेऽर्थाः सर्वथा भिन्नाः कृत्यं किं तत्र वर्तते ।
ते सर्वे तेषु तिष्ठन्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१॥

स्वयं सर्गसंहार स्थित्यात्मक अनादि अनन्त स्वसहाय अखंड एक सत् एक द्रव्य कहलाता है इस प्रकारसे अनन्त तो जीव द्रव्य हैं अनन्त पुद्गलपरमाणु द्रव्य हैं, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं ये सब अनंतानंत द्रव्य अपने-अपने भावमें परिणमते हैं, यही कारण है कि वे सब द्रव्य अपने पूरे स्वरूप को लेकर परस्पर सभी अन्य द्रव्योंसे अत्यन्त पृथक् है । कोई पदार्थ किसी पदार्थका कर्ता नहीं है फिर मेरे करनेके लिए क्या रह जाता है ? उन बाह्य पदार्थोंमें करने योग्य कार्य ही क्या है ? वे पदार्थ अपने-अपनेमें ही रहते हैं वे अपने-अपनेमें ही रहें, मेरे उनके प्रति कोई विकल्प नहीं, मैं तो वस्तुस्थितिके अनुकूल ही अपने आपमें अपने ही स्वाभाविक भावोंसे परिणमता हुआ एक समान समता परिणामरूप निज व्यक्तियों स्वमें ही ठहरूँ और स्वयं सुखी होऊँ।

चेष्टन्ते स्वकषायेन प्राणिनो मे न वाञ्छकाः ।
केषु मोदै च शोचै किं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२॥

यदि मैं यह सोचूँ कि ये प्राणी मेरे चाहने वाले हैं तो विचारो कि इन प्राणियोंका कोई भी पर्याय कार्य इनके आधारभूत पिण्डसे बाहर भी क्या हो सकता है ? नहीं हो सकता ? तब ये प्राणी मुझे चाहते हैं कि अपने कषायसे अपने भावोंकी परिणति करते हैं ? अपनी कषायसे अपनी चेष्टा करते हैं फिर मैं किन्हें अपना हित् मानकर मोद, मोह करूं और किन्हें अपना शत्रु मानकर खेद द्वेष करूँ । मैं भी जो कर पाता हूं अपनी योग्यतानुसार अपने ही भावों को

करता हूं। इसलिए इस स्वतन्त्रताका सत्य श्रद्धान करता हुआ परमें कुछ भी कर्तृत्वका दुरभिप्राय दूर करता हुआ अपने आपमें अपने आपकी निज व्यक्तियोंके सर्गसंहार होनेके हेतु निमित्ताधीन दृष्टिको छोड़कर स्वयं सहज सुखका अनुभव करूँ।

ये दृश्यास्ते न जानंतो निर्विकल्पकाः।
कं ब्रुवाणि क्व तुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३॥

आत्मद्रव्य है वह रूप रस गंध स्पर्श रहित है वह न तो दिखनेमें आता है, न सुननेमें आता है, न सूंघने छूनेमें आता है, और न स्वादमें आता है, फिर जो दृश्य है वह जानते नहीं हैं और जो जानते हैं अर्थात् अपने विशुद्ध ज्ञानपरिणतिसे परिणमते हैं वे निर्विकल्प हैं ऐसे ही स्वभाव वाले सब हैं ऐसा ही मैं हूँ। फिर कौन बोले ? किससे बोले ? कहाँ संतोष करूँ ? परमें संतोषसे असंतोष ही बढ़ता है, परमें बोलने सोचने के विकल्पोंसे स्वकी विशुद्धिकी हानि ही होती है। विषमताके सब कार्य निज चैतन्य भाव के प्रति बंधक हैं, और फिर जो दृश्य हैं वे जानते नहीं हैं और जानते हैं वे निर्विकल्प हैं अब मैं किसको बोलूं किसमें संतुष्ट होऊँ। मैं तो केवल ज्ञायकभावरस- निर्भर निजबाह्ममें ठहरा हुआ साम्यभाव पाकर स्वयं सुखी होऊँ।

स्तोतारः क्षणिकाः सर्वे स्तुत्यंमन्यः क्षणक्षयी।
तुष्यः कस्तोषकः कश्च स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४॥

जो विज्ञानघन आत्मा केवल निजरस निर्भर हैं वे तो समाधिस्थ है परन्तु जितने भी स्तुति प्रशंसा करने वाले लोग हैं वे पर लक्ष्यमें हैं उनका वह स्थूल पर्याय क्षणिक है अर्थात् स्तुति करने वाले लोग भी नष्ट होने वाले हैं (उनमें जो अविनाशी तत्त्व है वह प्रशंसाकी चेष्टा नहीं करता) तथा इसी प्रकार यह मानता है कि मेरी स्तुति हो रही है वह पर्याय भी क्षणिक है फिर कौन तो संतोषके योग्य है और कौन संतोष देनेका अधिकारी है ? सब विकल्प जाल है, व्यर्थकी उलझन है। इसलिए अपने आपको अनादि अनंत चैतन्यमय पहिचानकर उसही भावको व्यक्तिमें मेरे हितकी श्रद्धा है केवल ज्ञाता द्रष्टारूप स्थित रहो, पर का परिचय रंच भी न हो अपना ही पूरा परिचय करने अपने आपमें रत रहूं और अपनेमें अपने ही भावसे सरलतया सहज सुखी होऊँ।

स्तुत्यं वृत्तं क्षणस्थायि क्षणिक वाङ्मयी स्तुतिः।
न मे वृत्तं न मे वाणी स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५॥

लोक उत्तम घटनाको कहते हुए स्तुति करते हैं सो पहले तो उत्तम घटना तो चैतन्यमात्र परिणति हैं उसकी तो रेखासे भी प्रायः जगत् अनभिज्ञ है और फिर जो लोकमें श्लाघ्य घटना मानी जाती है या बनाई जाती है वह सब क्षणिक है उसका स्मरण किञ्चित् काल तक ही है फिर भी सम्बन्ध कुछ नहीं। इसी तरह स्तुति वचनमयी होती है

सो वचन भी क्षणिक है। अर्थात् लोक वचनोंके द्वारा, कोई घटना रखकर प्रशंसा करते हैं सो प्रथम तो घटना और वचन दोनों क्षणस्थायी हैं और फिर घटना न मेरी है, न वचन मेरे हैं, उनमें मूर्च्छा करके क्यों अपनेको बरबाद करूँ। स्वतन्त्र अविनाशी साम्यपुञ्ज निज चैतन्यभावके लक्ष्यसे अपनेको निराकुल करूँ और स्वयं सुखी होऊँ।

लोकोऽसंख्योऽमितः कालोऽनंता जीवाः कदा कदा।
स्तोष्यन्ते क्व क्व के के ऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥६-६॥

समयका कभी भी अंत नहीं आयेगा अर्थात् ऐसा कभी न होगा कि अब कोई समय ही नहीं रहा इसलिए काल अनंतानंत है। तथा यह लोक सारा ऽपरिमित है पुरुषकार ३४३ राजू प्रमाण है। एक राजूका प्रमाण–जम्बू द्वीप १ लाख योजनका है (यहाँ योजनसे मतलब दोहजार कोशसे है) उससे एक ही ओर दूना लवणसमुद्र है। इसी प्रकार एक दूसरेको घेरे हुए दूने-दूने प्रमाण वाले द्वीप फिर समुद्र, द्वीप फिर समुद्र हैं इस तरह असंख्याते द्वीप समुद्र एक राजूके भीतर आ जाते हैं ऐसे ३४३ राजू लोक हैं और जीव भी अनंतानंत हैं फिर कीर्ति प्रशंसाके चाहने वाले बतलावें कि कौन-कौन जीव, कहाँ-कहाँ पर कब-कब तक किसीकी स्तुति करेंगे। यदि सब जगह या सब समय या सभी जीवों द्वारा स्तुति हो लेती तब बाह्य संतोषभासको साध्य करनेका अवसर कहा जा सकता, परन्तु ऐसा न•कभी हुआ न कभी होगा, फिर व्यर्थके संतोषको स्वप्न देखकर क्यों जीवन खोते हैं ? बाह्य लक्ष्यमें तो संतोषका नाम भी नहीं। इसलिए सर्व बाह्य वचन विलास विकल्पोंको अलक्ष्य करके अपने चैतन्यानुभवनसे स्वयं स्वयंमें सुखी होऊँ।

स्वैकत्वेऽनुगताः स्वेभ्यः स्वस्य कुर्वन्ति ते क्रियाम्।
भ्रान्त्या विमुह्य किं स्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥६-७॥

सर्व पदार्थ अपने-अपने भावोंमें ही एक तन्मय होकर रहते हैं सर्व प्राणी भी इसी प्रकार अपने ज्ञानदर्शन सुख श्रद्धा आदि गुणोंके परिणमनमें रहते हैं सभी वे जो क्रिया कर पाते हैं अपने-अपने लिए अपनी क्रिया करते हैं। प्रशंसक भी अपनेमें उठे हुए विकल्पोंके अनुसार मन वचन काय द्वारा मन वचन कायकी चेष्टा करते हैं उन्हें जो विकल्प सुहाता है उसका विकास करते हैं उनकी क्रियाका ज्ञान करके मैं क्यों ऐसा मूढ़ बनूं जो यह कुश्रद्धा करूँ कि ये मेरे लिये चेष्टा करते हैं, मेरे विशेष हैं। इस व्यामोहीके तो मिथ्यात्व पापका अवलेप हो जाता है। जगतमें रहकर अपने आपको बहुत ही सावधान रखनेकी आवश्यकता है। मैं भ्रमसे मोही बनकर परकृत प्रशंसा निन्दाको अपनाकर क्यों बरबाद होऊँ ? मेरे तो यही भाव हैं कि यह चैतन्यभाव अपने स्वभावदशामें जयवत हो और मैं इसके ही लक्ष्य

से अपने आपमें अपने आपको पाकर निस्तरंग सहज सुखी होऊँ।

पुण्यं पापं सुखं दुःखं चेष्टा वाणी च कल्पना।
विडम्बनाः परात्सन्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-८॥

पराश्रय या पराश्रितदृष्टिके बिना पुण्यादि विडम्बनायें हो नहीं सकतीं। पुण्य– जिनके उदयकाल पर साताकारक सामग्रीके आश्रय सुखकी मान्यता हो अथवा देव शास्त्रगुरु सत्संग आदि निमित्तके विशुद्ध भाव। पाप—जिनके उदयकालपर असाताकारक सामग्रीके आश्रय दुःखकी मान्यता हो अथवा विषय निमित्तक हुआ आसक्ति, व्याकुलताका भाव। सुख– मन इन्द्रियोंके द्वारा सातारूप अनुभव। दुःख—मन इन्द्रियोंके द्वारा सातारूप अनुभव। चेष्टा– शरीर सम्बन्धी क्रियायें। वाणी—कण्ठ तालु आदि प्रयत्नसे होने वाले वचन विन्यास। कल्पनाद्रव्य मनके निमित्तसे ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमके कारण उठने वाले वितर्क। ये सब पराश्रित भाव हैं। अपने क्लेशके लिए विडम्बनायें हैं। इसलिए सर्व प्रकारसे पर-निमित्तसंयोगके लक्ष्यको छोड़कर स्वतन्त्र त्रैकालिक कारण चैतन्यक लक्ष्यसे अपनेमें अपने आप अनुपम आराम पाता हुआ स्वयं सुखी होऊँ।

सम्पदा विपदा भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-९॥

चाहे सम्पदा हो जाये, चाहे आपदा आये, ये सब बातें बाहरकी हैं मैं तो ज्ञानमय हूं। इस निज आत्माको तो देखो कि यह कितना है और यह ऐब करे, ऊधम करे तो यह कितना क्या कर सकता है? केवल अपने सत्त्वको देख करके यह अपनेमें जो चाहे परिणमन करे इतनी ही तो बात है। अब वह परिणमन पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिकूल है तो दुःखी होता है और पदार्थोंके स्वरूपके अनुकूल ज्ञानपरिणमन है तो सुख होता है।

मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, किसमें संतोष करूँ और किसमें रोष करूँ? सबसे बड़ी विपत्ति जीवपर अज्ञानकी है, मोहकी है, भ्रमकी है। वास्तवमें विपत्ति एक ही है। इस एक ही विपत्तिके विषयभूतसे अनेक रूप बन जाते हैं।

अगर किसी दुःखीके पास आप बैठ जायें और उसकी कहानी सुनने लगें तो सुनते जावें और परखते जावें तो उसको विदित होगा कि इस बेचारेने अपनी दृष्टि किसी परमें लगायी है। उसने मोह किस जगह किया है, यह सब निरखते जाओ, उसकी सारी दुःखकी कहानीमें परद्रव्यका मोह मिलेगा और निर्णय करते जावो कि इसने अमुक द्रव्योंसे मोह किया है, इसलिए दुःखी है। कोई क्या कहेगा? कोई लड़केकी बात सुनायेगा। लड़का ऐसा कपूत हो गया है, यों धन बरबाद करता है, संभालता भी नहीं है। कोई क्या कहेगा कि

स्त्री लड़ती है, घरमें बनती नहीं है, ऐसी ही और-और बात भी करेगा। व्यापारकी, लेनदेनकी। इन सब बातोंका जो क्लेश है उसे मैंने स्वयं निर्मित किया है। जिसे अमुक पदार्थों का व्यामोह है इसलिए उसे क्लेश ही क्लेश बाहरी पदार्थोंसे नहीं आते, किन्तु अपने आपके स्वयं विचारोंसे आते हैं।

एक राजा था। उसने एक दूसरे राजापर चढ़ाई कर दी, जीत गया और बचे हुए पुरुषोंमें से एक पुरुष जंगलमें चला गया और साधु हो गया और बाकी बचे हुए पुरुष भी सब मर गये। अब राजा सोचता है कि अब राज्यका क्या करना है? जीतना था सो जीत गये। अब ढूंढ़ते फिरते कि किसी परिवारका कोई पुरुष मिले, उसे राज्य दे देते। बहुत ढूंढ़ा, पर वे सब मर गये थे सो कैसे मिले? उनको खबर मिली कि एक पुरुष बच गया है। वह धर्मसाधना कर रहा था। सो राजा उसके पास पहुँचे। बोले इस धर्मसाधना को छोड़ दो और अब महलोंमें चलो। जो चाहोगे सो तुम्हें मिल जायेगा। उस साधुने कहा––हाँ, हाँ चलो, पर मुझे ऐसा सुख देना कि जिसके बाद फिर कभी दुःख न मिले। पहली चीज यह माँगी। राजाने सोचा कि हम तो यह नहीं दे सकते। कहाँ तक क्या दे सकते हैं?

एक जंगलमें एक साधु महाराज थे। वे कठिन धूपमें तपस्या कर रहे थे। सो राजा को उनको देखकर दया आ गई। राजा बोले––महाराज नीचेसे भी तपन और ऊपरसे भी तपन, कितनी परेशानियाँ आपको होंगी? आपको जूते बनवा दें। साधूने कहा कि अच्छा हमें जूते बनवा दोगे तो गर्मी तो मिट जायेगी। ठीक है, बनवा देना। राजा बोला––हाँ बनवा देंगे। साधुने कहा––पर एक बात तो बताओ कि नीचेकी तपनके लिए जूते हो गये, पर ऊपरकी धूप तो सताती है। राजाने कहा––छतरी ला देंगे। तो छतरी हो जायेगी, जूते हो जायेंगे पर सारा शरीर ढकनेको तो कुछ चाहिये। राजाने कहा––रेशमके कपड़े बनवा देंगे। कहा–ठीक है, ऐसी वेशभूषाके हो जानेसे खानेको कौन देगा, खायेंगे क्या? अत्र तिष्ठ अत्र तिष्ठ कौन कहेगा? कौन खाना देगा? खाना कौन बनायेगा? राजाने कहा–शादी कर देंगे। स्त्री खाना बनायेगी। ५ गाँव और लगवा देंगे। मगर चलनेमें तब तो आलस्य आ जायेगा। कहा–मोटर दे देंगे। फिर बच्चे होंगे उनका गुजारा चाहिये। कहा––१० गाँव और लगा देंगे। कहा–ठीक है, पर एक बातका ख्याल आया कि लड़के जब होंगे, लड़कियाँ जब होंगी तो उनकी मृत्यु होगी, दामादोंकी मृत्यु भी होगी तो रोना भी पड़ेगा। तो राजा बोले–महाराज, और सब कुछ तो हम कर सकते हैं, पर रो नहीं सकते हैं। रोना तो उसे ही पड़ेगा जो मोह करेगा। हम तो रो नहीं सकते। रोनेकी जिम्मेदारी तो उसी पर है जो मोह करेगा।

घरके लोग, मित्रजन, रिश्तेदार आदि बहुत हैं। सभी मन बहलाते हैं, मौज करते हैं, पर रोयेगा वही जिसके चोट लगी होगी, जिसके इष्टवियोग होगा ही तो उसे चोटको भोगना पड़ेगा जिसके चोट लगी है।

यह जीव बिल्कुल असहाय है। यह जैसा भाव करता है तैसा ही इसपर बीतता है। इसकी मदद दे सकने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है। सो चाहे सम्पदा हो और चाहे विपदा हो मैं तो केवल एक ज्ञानमात्र ही हूं। फिर मैं किन बातोंसे संतोष करूँ ? क्यों जो, कोई धन चाहने वाला हो और उसके आगे लाख, करोड़, अरब, खरब कितने ही रुपये पटक दें तो उसे संतोष हो जायेगा क्या ? संतोष चाहे न हो पाया, मगर घबड़ा जरूर जायेगा।

जगत्में कौनसी विभूति, कौनसा परमार्थ ऐसा है जो इसके आनन्द गुणके सीधे परिणमनको बना सके ? किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। सो बाह्य पदार्थोंसे संतोष और रोष न करके अपने आपमें ही अपने आपको सुखी करनेका यत्न करूँ।

अयशो वा यशो भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे।

कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१०॥

चाहे अपयश हो, चाहे यश हो, देखो भीतरकी एक बड़ी हिम्मतकी बात है। यदि ज्ञान मात्र निजस्वरूपकी प्रतीति हो गई है तो उस अपयश और यश पानेसे भला हुआ। तेल की तरह उसकी ऊपरी बातें मालूम होती हैं। भीतरमें उनको अङ्गीकार न करना और उनके ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना, यह है बड़ी हिम्मतकी बात और एक शुद्ध ज्ञान दर्शनके परिणामकी, यश, अपयशकी बात होकर भी यह अपने आपको अछूता तके। अपने आपको देखे कि मैं क्या हूं ? जगतके सब जीव भी किसी प्रकारका परिणमन कर दें ऐसा हो ही नहीं सकता है। यह ही बिगड़कर, खुदसे हटकर याने भ्रष्ट होकर जब बर्तता है तो दुःखी होता है। कहनेकी बातें बहुत हैं, साहित्य है, पुस्तकें हैं, सब कुछ है, मगर फल उसको ही मिलता है जो इस तरहकी वृत्ति अपनेमें कर सकता है। यह इज्जतका ध्यान, ख्याल एक विकट व्यामोह है। इज्जत कौन करता है और इज्जत किसकी होती है ? मेरा यश और अपयश करने वाला कोई नहीं है। यह जो परमार्थतत्त्व है वह तो सबसे निराला अपने स्वभावमात्र है। सो यह प्रसंग तो ऐसा है जैसा कि इस कहानीसे विदित है—

किसी ऊँटका विवाह हो रहा था। ऊँट तो टेढ़े-मेढ़े होते हैं। उनको यदि छू लिया जाये तो हाथ उलासने लगें। सो किसी ऊँटका विवाह था, विवाहमें गाने वाला कोई न कोई चाहिए ही तो ऊँटने गारी गानेके लिए गधोंको बुलवा लिया। गधोंने क्या गाया कि

दूल्हा और बरातियोंकी प्रशंसा की। बड़ा सुन्दर रूप है, जगत्में अनुपम आप लोगोंका शरीर है। ऊँट बोले––वाह, वाह कितनी सुन्दर ध्वनि है, कितना सुन्दर राग है, कितना बढ़िया गला है। ऊँटने कर दी गधोंकी प्रशंसा और गधोंने कर दी ऊँटोंकी प्रशंसा।

सो कड़वी बात हो तो तनिक कोमल बना लो। सो ऐसा हो रहा है कि यहाँ प्रशंसा यश, अपयश, इज्जत इत्यादि बातें चल रही हैं। ये जो सम्मान समझते हैं और जो सम्मान करते हैं उनकी यह बात है। यों तो व्यवहारमें प्रत्येक सत् पुरुषका यह कर्तव्य है कि दूसरों का सम्मान करे। मगर जहाँ द्रव्यदृष्टि नहीं, यथार्थदृष्टि नहीं, और उस ही इज्जतमें एक-मेक हो रहे हैं उनकी बात कही जा रही है। अरे भाई चाहे यश हो, चाहे अपयश हो, यह मैं तो ज्ञानमात्र ही हूं। तो किसमें संतोष करूँ और किसमें रोष करूँ?

हे भगवान्! ऐसा कब बल आये कि सरासर अपमान सामने हो, दुर्वचन सामने हों और यह मैं अपनेको यों तक सकूँ कि यह अपना स्वरूप पूर्ण स्वच्छन्द 'अमर' किसी परके द्वारा कुछ भी इसमें नहीं हो सकने वाला ऐसा यह मैं आनन्दमय ज्ञानतत्त्व हूँ, ऐसा निरख-कर अपनेको बलिष्ठ बना सकूँ ऐसा क्षण कब हो और ऐसी भावना जागृत हो कि मैं अपने ज्ञानको इतने दृढ़ उपयोगसे देख सकूँ कि इन बाहरकी घटनाओंसे अपने आपमें क्षोभका कारण न बन सकूँ। बात कठिन, मगर करने वाला जीव ही तो होता है और देखो––

अरि मित्र महल मसान कंचन काँच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारन असि प्रहारनमें सदा समता धरन॥

जिन्होंने ऐसा किया, वे जीव कुछ और नहीं थे, बिल्कुल हम आपकी ही तरहसे थे, कुछ भेद नहीं था। जो स्वरूप उनका था वही स्वरूप हमारा है। वे कर सके तो यह मैं भी कर सकता हूं।

कोई युद्धका मौका था, स्त्रीने अपने पतिसे कहा कि युद्ध हो रहा है, तुम भी अपने देशकी सेवाको चले जाओ तो बोले कि युद्धमें चले जायें तो यों ही प्राण चले जायेंगे। जो छोटी चक्की होती है उसमें स्त्रीने चने डाल दिए और दाल बनाई, पर कुछ चने समूचे रह गये। कहा–देखो ये चने तो फूटनेसे बच गये ना? यदि हम ऐसा सोचते हैं कि हम सिद्ध देव जैसे नहीं हैं हम तो लटोरे खचोरे जैसे विषयी पतित जीवोंमें से है––यदि ऐसा विचारें तो फिर अपना उत्थान कहाँसे हो? अपना ज्ञान बल बढ़े इसमें ही सार है, जिससे कि किसी परपरिणतिका अपने आप पर कोई असर नहीं हो सकता।

जीवनं मरणं भूयाज्ज्ञान मात्रोऽस्मि ते न मे।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥६-११॥

यह आत्मा एक स्वयं सत् है। जो सत् होता है वह अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहता है। जो कभी न था और अब हो जाये, ऐसा जगत्में कुछ नहीं है। जो है और वह बिल्कुल मिट जाये, ऐसा भी लोकमें कुछ नहीं है। हय मैं आत्मा स्वयं सत् हूँ, अनादिसे हूँ और अनन्तकाल तकके लिए हूं, किन्तु कर्म उपाधिके बन्धनके वशसे विधानपूर्वक यह जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, जीव पर्यायरूपमें उपस्थित हैं। जैसा जो मनुष्य आयुका उदय है निमित्त है। जिस क्षण मनुष्य न रहेगा अन्य कोई गतिका उदय आयेगा, उस क्षण यह स्थूल शरोर न रहेगा और दूसरे स्थूल शरीरके लिए यह चला जायेगा। बस इसी परिस्थितिका नाम जीवन और मरण है। वैसे आत्माका मरण नहीं होता, किन्तु होता क्या है? शरीरका बदलना। जिसे लोग कहते हैं चोला बदल गया। एक चोला समाप्त हुआ और दूसरे चोलेका ग्रहण किया।

सो यदि अपने आपकी निजी बातें सोचते हो तो जीव वही है, परिणमनशील है सो अपने परिणाम कर रहा है। ये बातें अब भी हैं और जिसे मरण कहते हैं उसके बाद भी यही बातें हैं। जीवन हो और मरण हो आत्माके लिए एक ज्ञेय परिस्थिति है। "तन उपजत अपनी उपज जान। तन नसत आपको नास मान॥" ऐसी उपयोगवृत्ति बनती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मरण समय इस जीवको बड़े संक्लेशके अवसर हो सकते हैं और कुछ तो परिस्थिति ऐसी है कि जब जीव शरीरसे निकलता है तो शारीरिक कष्ट होता है। जैसे कि देखते भी हैं लोगोंको कि दुःखमयी प्राण छातीके दिलमें है। छाती भ उत्तर देना बन्दकर देती है। कुछ अवसर भो इस प्रकार हैं और फिर अपने आपकी ममता इस दुःखको बीस गुना बना देती है। मरते समय जो क्लेश हैं, देखे जाते हैं ये दुःख मोहके कारण हैं। अब भैयाको छोड़कर जा रहे हैं। घर छोड़कर जा रहे हैं। दस साल रहकर इतनी बड़ी हवेलियाँ बनायी थीं, इतना बड़ा वैभव इकट्ठाकर लिया था अब आरामके दिन थे, बड़े मौजसे रहते, हाल क्या हो रहा है? नन्हें नातीको यह जायदाद लिख देना, फलांको तार दे देना कि जल्दी-जल्दी आ जायें। कितने-कितने विकल्प होते हैं जिनके क्लेश बना रहे हैं।

सच पूछो तो जन्म उत्सव मनाया करते हैं उससे तो अच्छा है कि मरणका उत्सव मनावें, क्योंकि जन्मते समय प्रत्येक मनुष्यकी मलिनताकी वृत्ति रहती है। वहाँ परिपक्व ज्ञान नहीं होता है। परन्तु मरते समय पुरुष ज्ञान, ध्यान, सावधानी रख सकता है और इसका भावी जीवन इसके होनहार उस मरणके समयके परिणामोंपर निर्भर है। बिना

जीवनके जन्यके समयके परिणामों पर जिन्दगी निर्भर नहीं। मरणके समय सावधानी रखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है तो भी जिसने अपने स्वरूपास्तित्वका निर्णय किया है, सबसे प्रकट भिन्न ज्ञानबलसे उसे आत्मा नजर आ रहा है, ऐसे ज्ञानी पुरुषका जीवन और मरण उसकी ज्ञेय परिस्थितियाँ हैं।

जीवन हो या मरण हो, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। जीवन और मरण मेरी ये दोनों चीजें नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं। फिर मैं कहाँ तो संतोष करूँ, कहाँ रोष करूँ ? इस जीवनसे मैं क्या संतोष करूँ ?

यदि बुरे परिणामों सहित जीवन चल रहा है तो वह ऐसे मरणसे भी भयंकर है और यही बड़ी सावधानीसे शुद्ध आत्मस्वभावकी दृष्टि प्रतीति सहित मरणके लिए रहता है तो वह सबसे बढ़कर चीज है। जन्मके बाद दुःख कहाँसे उठता है और मरणके बाद अरहंत भगवान्के दुःख मिट जाते हैं। खैर अरहंतके दुःख हैं तो अपने आपके ही ऊपर अपने आपसे मिटते हैं, पर यह बताना है कि आयुके क्षयका निर्माण होता है। आयु द्वारा बड़ा निर्माण नहीं होता है। निर्वाण गमन कहो या मरण कहो एक ही बात है। मरण शब्द जरा कठोर बात है और निर्वाण यह उत्तम शब्द है। तो जीवनसे संतोष न करो। कोई जिन्दा है, चल रहा है, क्या चल रहा है ? इस जीवनसे क्या लाभ निकला ? इस जीवनसे हित है नहीं, मरणसे हित है नहीं, अज्ञानसे हित है नहीं, पर ज्ञानसे हित है। इसलिए उस जन्ममें क्या संतोष करूँ और मरणमें क्या विषाद करूँ। ज्ञानमात्र वृत्ति रह सकती है तो संतोषके लायक बात है और ज्ञानमात्र वृत्ति नहीं रह सकती है तो उस जीवनसे फायदा क्या है ?

मायास्था मयि दृष्टाः स्युः रुष्टा मे ज्ञस्य का क्षतिः।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१२॥

पश्चिमसे आए हुये ये लोग, लौकिक भाषामें रहने वाले लोग चाहे मुझपर खुश हो जायें, चाहे मुझपर रुष्ट हो जायें, पर इस ज्ञानमात्र मुझ आत्माकी क्या क्षति है ? माया नाम है पर्यायका और परमार्थ नाम है द्रव्यका। जैसे अन्य जगहमें परमार्थ नाम है द्रव्यका और माया नाम है इन सब खटपटोंका। मायाके मायने मत, नहीं यह हैं। जो परमार्थ नहीं सो यह हैं, जो यह है सो म मायने परमार्थ नहीं है। स्वरूपदृष्टिका माहात्म्य महान् है। द्रव्य और पर्याय अस्तित्वमें होते हुए भी इसमें स्वयंभेदसे भेदते है। एक चीज होते हुए भी इसमें स्वयंभेदसे भेद ही अतद्भाव है, प्रदेश भेद नहीं है। यह मैं ज्ञानस्वरूप स्वभाव और ये क्रोध, मान आदिक कषाय ये भिन्न-भिन्न क्षेत्रमें नहीं हैं, जुदे सत्में नहीं हैं, लेकिन जो मेरे

ज्ञानस्वभावका स्वरूप है वह कषायोंका स्वरूप नहीं है और जो कषायोंका स्वरूप है वह मेरे स्वभावका स्वरूप नहीं। स्वरूपभेद करके ध्रुवस्वरूपमें आत्मीयताका अनुभव करना और अध्रुवस्वरूपमें आत्मीयता अनुभव न करना इस प्रज्ञाके प्रयोगसे अद्भुत फल प्राप्त होता है। इसलिए आत्मस्वभावकी दृष्टि करने वाले जन ऐसी भावना करते हैं, सोचते हैं कि मायामें ठहरे हुए ये लोग, विषय कषायोंमें लगे हुए ये लोग यदि मुझपर हर्षित हो जायें, मुझपर प्रसन्न हो जायें तो ये मेरा क्या लाभ करेंगे, और मुझपर कष्ट हो जाय तो मेरी हानि क्या करेंगे ? उनका परिणमन उनमें होता और समाप्त होता है, हमारा परिणमन हममें होता और समाप्त होता है। और यदि ये मायास्थ पुरुष खुश हो जायें तो खुश होनेके प्रसादसे भी आपदा मिलेगी और कष्ट होनेके प्रसादमें भी आपदा मिलेगी।

जैसे पिता अपने बेटोंपर कितना खुश रहता है ? इस खुश रहनेके परिणमनमें वह क्या करता है कि बच्चोंको चौथी कक्षामें यदि मास्टरने पीट दिया तो वह बोलता है कि हमें अपने बच्चेको नहीं पढ़ाना है या वह उनपर खुश हो गया और आगे चला तो जल्दी ब्याह कर देते हैं और और साधन जुटा देते हैं। दुकान कराते, अमुक काम कराते। ये साधन उसके मोह बढ़ानेके साधन हुए या ज्ञान बढ़ानेके साधन हुए ? कौनसा पिता ऐसा होता है जो यह सोचे कि मेरा बच्चा आनन्दकी दृष्टि पाले तो अच्छा है। ऐसा कोई बाप हो तो हमें पता नहीं। पर प्रायः जो हमें दिखते हैं वे यही कि पुत्रोंके आत्माके हितकी बात तो नहीं देखते, किन्तु अपने कषायोंकी बात देखते हैं। तो ये मायास्थ पुरुष खुश हों तो क्या, रुष्ट हों तो क्या ?

कभी किसीने स्वप्न देखा है या नहीं, पर हमने तो देखा है इसलिए कह रहे हैं कि जब बहुत बुखार है, रजाई ओढ़े हैं, जाड़ा लग रहा है, कुछ नींद आ गयी है, स्वप्न देखने लगे कि कहीं पड़ा हूं रेलकी पटरी पर या पटरीके बीचमें, ऊपरसे रेल निकल रही है, मैं अपनेको बहुत संभाल रहा हूँ, जमीनसे चिपककर अपनेको संभाले हूँ। देख रहे हैं कि गाड़ी निकल रही है और मैं सुरक्षित हूँ, थोड़ीसी और रह गयी, अब सब निकल गयी, अब मैं आनन्दमय हो गया। नींद खुल गयी, वहाँ कुछ नहीं था और बुखार मिट गया। ऐसा स्वप्न कभी-कभी जब बुखारसे निवृत्ति होती है तब आता है, इसी ढंगका आता है।

आपमें उन सब परिस्थितियोंमें कोई खुश हो रहा है, कोई रुष्ट हो रहा है, कोई किसी प्रकार चल रहा है, कोई किसी प्रकार चल रहा है। उन सब परिस्थितियों के बीच जिन्हें कल्पनाओंसे आपदा मान लेते हैं, उन परिस्थितियोंके मध्य भी अपने आपको इतना

दृढ़ बनाये रहें, अपने आपको केन्द्रसे सटा हुआ, चिपका हुआ, अपनेको ऐसा मजबूत सावधान बनाये रहें कि यह बात अमुक जगहसे यों आयी और यों निकल गयी। आपसकी बात उठ निकलेगी। अपना जीवन इस तरहसे गुजार दो कि अपने आपको भीतर अपने केन्द्रसे सिमटा हुआ मजबूत बनाकर इन सब आपदाओंको निकाल दो। आपदा क्या है ? ये मायास्थ जन कोई खुश हो गया है, कोई रुष्ट हो गया है। उनको यह परिणति है, उनका यह विकल्प है, आपदा कुछ नहीं है। आपदा तो मोहसे मान ली है।

सो ये कोई कहीं कैसा भी परिणाम नहीं, उससे मेरा सुधार बिगाड़ नहीं है। किस बातका संतोष करूँ, किस बातका रोष करूँ ? क्या करोड़ोंका धन हो जायगा तो संतोष की स्थिति हो जायगी ? केवल स्वप्न देख रहे हैं ऐसा मात्र लगता है। करोड़ोंकी सम्पदाके बीच क्या गुजरा है, सो उन सेठोंकी परिस्थितियोंको देख लो। प्रायः सब लोग जानते ही हैं, दूसरोंके द्वारा सुनकर, खबरोंके द्वारा सुनकर क्या उनपर गुजरा है ? संतोष नामक चीज क्या है ? आत्माके गुणोंकी पर्याय है आनन्द। मेरी गुणोंकी पर्याय किसी अन्य वस्तुसे प्रकट होती है। यह कितनी असम्भव बात है। वे प्रत्येक पदार्थका निमित्त पाकर यह करते हैं, पर जो शुद्ध आनन्दकी बात है वह तो परका आश्रय करके होती ही नहीं है तब कहाँ संतोष करूँ।

उस मृगकी तरह हालत है जो प्यासा है, रेतीले स्थानपर खड़ा है। कहीं आगेके रेत को देखता है तो पानीकी आशासे दौड़ता है, पास पहुँचता तो पानी नहीं मिलता। फिर सिर उठाया, बाहरका रेत पानो जंचने लगा, दौड़ा, पास पहुँचता है तो पानी नहीं पाता है। पानीकी आशासे दौड़ लगा-लगाकर दुःखी होकर वह हिरण प्राण गंवा देता है। इसी तरह नवीन-नवीन विषयोंकी आशामें अपने जीवनमें दौड़ लगाकर, भटककर, थककर अन्तमें यह भी प्राण गंवा देता है। देते कहीं कुछ हो, अपने आपको देखो, अपने आपकी सही व्यवस्था बना लो जिससे अपने आपका कल्याण हो।

ज्ञानी ज्ञानरतोऽज्ञानी मायास्थः परलोचकः।
मायास्थवाचिको रोषः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१३॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञानमें रत रहता है और अज्ञानी पुरुष मायामें स्थित रहता है। जो दूसरोंकी आलोचना करने वाले हैं वे मायास्थ हैं, ज्ञानरत तो नहीं हैं। जो दूसरोंकी निन्दा और भी विवाद आदि करने वाले हैं। इतना तो निश्चित है कि वे ज्ञानसे रत नहीं हैं, मायास्थ हैं। सो और भी अधिक देखो तो जिसकी निन्दाकी प्रकृति है और निन्दा करता है उस पुरुषको उन्मत्त मोही कहेंगे। जिस आत्मामें स्वाधीनता नहीं है, बाह्यमें ही दृष्टि फंसी

है और अपने आप पर चाहे यह कैसी ही निन्द्य परिणति वाला हो, पर मानते हैं उच्च, इसी कारण दूसरे मेरी नजरमें निम्न हैं। तब ऐसी वृत्ति वाले पुरुष मायास्थ कहलायेंगे या ज्ञानी ? उत्तर मिलेगा—मायास्थ उन्मत्त ।

जब आप सड़कसे उतरते हैं । कोई पागल मिलता है और वह गालियाँ देता है, बुरे वचन बोलता है और आपको यह मालूम पड़ जाय कि यह तो पागल है तो फिर उसके वचनोंसे आपको बुरा न लगेगा, क्योंकि आप यह जान गये कि यह पागल है, होशमें नहीं है, यह तो दयाका पात्र है। इतनी बात समझमें आने पर कि पागल है, दीन है, उसकी गालियोंको बुरा नहीं मानते । सोचते हैं कि बेचारा खुद पागल है ।

इसी तरह जो निन्दा करने वाले हैं, आलोचना करने वाले हैं वे पुरुष उन्मत्त हैं, ज्ञानी तो नहीं हैं, वे खुद अपनी सावधानी खो बैठे हैं, दयाके पात्र हैं, स्वयंपर अज्ञान अन्धेरा छाया है, ऐसा जब ज्ञानमें आये तो उसके वचनोंका बुरा तो नहीं मानता है । सो मायास्थ पुरुषोंके वचनमें यह रोष हो कि मैं तो अपनेमें अपने आपकी स्वाधीनता रखता हुआ अपनेमें तृप्त रहूं ।

ये स्तुवन्ति च निन्दति ते दृश्यं न तु मामिमम् ।
शंसा निन्दा न गुप्तस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१४॥

जो स्तवन करते हैं, प्रशंसा, निन्दा करते हैं, वे इस दिखने वाले पुतलेका ही लक्ष्य बनाकर प्रशंसा करते हैं और निन्दा करते हैं, पर जो परमार्थ सत् मैं हूं उसकी न तो प्रशंसा वे करते और न निन्दा करते । मुझे तो वे जानते ही नहीं हैं । तो उस ज्ञायकस्वभाव मुझ आत्मतत्त्वको वे जानते ही नहीं। तो उनके इस ज्ञानमें यह व्यक्ति नहीं ठहरता, किन्तु एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप वर्तता है । ऐसी स्थितिमें वे क्या प्रशंसा कर सकेंगे या निन्दा कर सकेंगे ? और जिसने मुझे देखा ही नहीं इस दृश्य पुतलेको ही निहारते हैं तो जिसको देखकर उसने गाली दी वह गाली उसको हुई, मेरेको नहीं हुई । जैसे कोई पुरुष गाली बकता है तो समझने वाले समझते भी जाते हैं कि मुझे कहा है लेकिन उसका नाम लेकर नहीं कहा तो कहते हैं कि न जाने किसको कह रहा है ? वह समझकर भी ऐसा बोलता है । वह दुनियामें यह बताना चाहता है कि उसने मुझे गाली नहीं दी और दी भी हो तो मैंने मानी नहीं ।

जब खुद मान लिया तो अपने-अपने लिए सोचते हैं कि मेरा प्रभाव है, मेरा असर है और जब खुद नहीं मानते तो उसका प्रभाव नहीं होता । हमें इतना जो दुःख है, जन्म-मरणके चक्कर काटते ही रहते हैं, इसका कारण क्या है कि मैं जैसा सहज नहीं हूँ वैसा मान

लिया है। मैं सुखी हूँ, दुःखी हूं, मेरे धन है, घर है, मेरा प्रभाव है आदि अपने आपको मान लिया तो भैया सारा खेल, सारा सुख दुःख सब एक माननेपर निर्भर है। कोई कितना ही कुछ कह रहा हो, पीठ पीछे आलोचना, निन्दा करे और जब तक ज्ञान आया हो तब तक बड़ा प्रसन्न भी है, और अगर यह कल्पना आने लगे कि हमें तो किसीने कुछ कहा तो दुःख हो गया।

इस जीवके अन्दर ही विकल्पोंकी चक्की चलती है, उस चक्कीमें यह प्रभु आत्मभगवान् पिसा जा रहा है। कोई दूसरा इसे दुःखी करने वाला नहीं है। सो चाहे प्रशंसा करें, चाहे निन्दा करें वे इस दृश्य पुतलेकी कर रहे हैं, मुझ आत्मतत्त्वकी नहीं। क्योंकि यह मैं गुप्त हूं। इस गुप्त ज्ञायकस्वभाव प्रभुकी न तो प्रशंसा हो रही है और न निन्दा हो रही है। प्रशंसा और निन्दा हो ही नहीं सकती सो अपनेसे उठकर बाहर ढूँढ़कर विकल्पोंको क्यों करूँ ? अपनेको ही निहारकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

प्रशंसया न मे लाभो निन्दया का च मे क्षतिः।
स्वे हिन्म्येव विकल्पेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१५॥

प्रशंसा मेरा लाभ नहीं है। संसारी प्राणियोंपर इतना विकट भ्रमका पहाड़ लदा है कि इसे चैन नहीं है। प्रशंसासे लाभ मानते हैं। प्रशंसा हो तो बेचैनी न हो तो बेचैनी। इस जगत्में किसीका कोई लगता नहीं है और न किसीकी प्रशंसा हो जानेपर मुझे कुछ लाभ मिलता है पर एक व्यर्थका कारोबार प्रशंसाकी धुन हुई। यह विकट अज्ञानका पहाड़ शांति समाधिका अन्त दूर हो जाता है। जगत्में यह एक प्रकारका रोना है। यह एक गोरख-धन्धा है और इन रोगोंको लगाने वाला है पुण्यकर्म। सम्पदा तो दुःखका साधन है। जो दुःखी है, पीड़ित है उसको प्रशंसाकी चाहका रोग नहीं लगता। जो धनी है, ऐश्वर्यवान् है उसके पास सुख सामग्री है, चार आदमियोंमें थोड़ीसी पूछताछ है, ऐसी स्थितिमें प्रशंसाका रोग लगता है।

भला खुदके जीवनका गुजारा करनेके लिए कितने द्रव्य आवश्यक हैं ? कितनेमें पेट भर जायगा और कितनेमें कपड़ोंकी व्यवस्था बन जायगी सो सोच लो। मामूलीसी बातें हैं, कोई लखपति हो या करोड़पति हो, वह भी अधिकाधिक धन चाहता है। इसलिए कि अभी पेट भरनेका, तन ढकनेका, कपड़ा मिलनेका जरा प्रबंध नहीं है। क्या इस कारणसे अब करोड़पति होनेकी धुनमें है ? नहीं करोड़पति हो जायें या अरबपति हो जायें, किन्तु धन सभी चाहते हैं। या कुछ जीवनका गुजारा होनेमें कमी ? कमी नहीं है, पर इन सब प्रयत्नोंका कारण है प्रशंसा लूटना। मैं जगत्में सर्वाधिक कहलाऊँ। अरे किसकी दृष्टिमें धनी कहलवाना चाहते हो ? मोही अज्ञानी जन्म मरणके चक्रमें फँसे हुए हैं, उनका हित कुछ भी नहीं होता। ऐसे समुदायमें धनी कहलानेकी चाह कितनी विकट है ? गुणी कहलावानेकी

चाह है, सज्जन कहलानेकी चाह है, यह कितना विकट रोग है ? पुण्योदय हुआ सो कुछ साधन अच्छे हुये, पर जो यह बहुत बड़ा विकट रोग है कि मेरी प्रशंसा हो, उस प्रशंसासे मेरा कुछ भी लाभ नहीं है और निन्दासे मेरी कुछ भी क्षति नहीं है निन्दा होना मेरा भाव है और कषाय है और उस कषायका निमित्त पाकर वचनवर्गणाओंका ऐसा फैलाव है, वह सब वहीं समाप्त है। किसी अन्यका इस मुझ आत्मामें प्रवेश नहीं है। तो फिर उस निंदामें मेरी क्षति क्या हुई ? मैं तो अपने ही विकल्पोंसे अपने आपकी क्षति कर रहा हूँ।

और भी देख लो—समझते हैं कि प्रशंसा करने वालोंसे हमारा हित है और निंदा करने वालोंसे हमारा अनिष्ट है। तो प्रशंसकके द्वारा हमको मिला क्या और निन्दकके द्वारा हमको मिला क्या ? कुछ मोही जीवोंने प्रशंसा कर दी, बड़े सज्जन हैं, बड़े ज्ञानी हैं, तो प्रशंसा करके वह अपने घर चला गया और उसको सुनकर यह हृदयमें उर्दाको चुनने लगा, बेचैनी हो गयी, क्षोभ मच गया। प्रशंसक मेरा बड़ा हितू है। वह तो कहकर चला गया है, पर यह तो प्रसन्न हो गया, और निंदा करने वालेने क्या किया ? एक वचन ही बोला, किन्तु उन वचनोंको सुनकर सावधानीका भाव आया, संयम चारित्र। सभी प्रकारके आचरणोंसे रहित भाव आया तो निंदकके निमित्तसे यहाँ कुछ सत्पथ मिला। तो प्रशंसासे क्या मिला और निंदासे क्या मिला ? वास्तवमें तो दोनों ही वृत्तियोंसे क्षोभ मिला। वहाँ विकल्प करके अपने आपको ही घात किया और भी देखो, निन्दक पुरुष कितना उपकारी है कि आपके दोष कहकर, बुराई कहकर आपको तो नरकसे बचा लेगा और खुद नरकमें जानेकी तैयारी कर लेगा।

दूसरोंको दुर्गतिसे बचाकर खुद दुर्गतिमें जानेका उपकृत करने वाला उपयोगकारी है या निन्दक ? अरे न कोई दूसरा उपकारी है न कोई दूसरा अपकारी है सब अपने-अपने परिणामोंकी बात है। सबसे बड़ा धन क्या है ? अपना परिणाम। अपना परिणाम यदि पवित्र है, शुद्ध है, स्वभावदृष्टिमें लगा हुआ है तो ठीक है और "पापनिरोधान्य सम्पदा किम् प्रयोजनम् ?" यदि मेरे पाप रुक गये हैं तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन।

सबसे बड़ी सम्पदा पापनिरोध ही है। यदि पापोंका आस्रव है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन ? पापोंका उदय आ गया तो हमें दूसरा कौन बचा लेगा ? क्या सम्पदा बचा लेगी नहीं। तो सबसे बड़ा वैभव है आत्मनिर्मलता। मोहमें बड़ी दौड़ लगाने वाले बंधुवोंको सोचना चाहिए कि क्यों ऐसी दौड़ लगा रहे हैं ? अपनेको तो देखो संभलो, अपने आपमें ही समस्त सुख, वैभव भरा हुआ है। जो यह है वह बाहर नहीं है और जो बाहर है वह बाहर वालेका है। वहाँ मेरा नहीं है। सब कुछ पूरा पड़ेगा अपने आपसे ही, सो स्तवन

निन्दाके विकल्पोंको तोड़कर इन फंसाने वाले मायाजालोंको तोड़कर अपने आपमें गुप्त रहते हुए अपने आपमें देखूँ और स्वयं सुखी होऊँ।

ज्ञानमात्रमहं तस्माज्ज्ञानादन्यत्करोमि किम्।
किं त्यजानीह ग्रह्णीयाम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१६॥

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। अपने आपके स्वरूपके बारेमें मैं परखना चाहूं कि मैं कैसा हूँ तो पहले अपनेमें पायेंगे क्या ? शुद्धदृष्टि करके अपने आपके स्वरूपको देखेंगे तो कुछ विवेक उसमें है, कुछ राग है, द्वेष है, मोह है, विकल्प है, अशांति है, मौज ,सुख है, दुःख है। जिस में ये सब पाये जाते हैं वही तो जीव है, नहीं तो अभी निशान ठीक ही जमा है। यह एक अशुद्ध दशाकी दृष्टिसे विचार हुआ है। इस तरह अभी पता नहीं पड़ा कि जिससे ज्ञान होनेपर अद्भुत अनुपम आनन्द होता है और सत्य परिचय मिलता है। मैं क्या हूँ ? अपने आपको ही निरखो, परमें तो मालूम होगा कि ये सब कुछ नहीं है। यहाँ कुछ अड़नेकी चीज नहीं, लेने देनेकी चीज नहीं, किन्तु और गहरे चिन्तनसे परखेंगे तो यही निर्णय होगा कि मैं ज्ञानमात्र हूं, जाननमात्र हूँ। यह हो गया ग्रहण। जानन सामान्य ऐसा है कि जिसमें स्वरूपके कारण अर्थ ग्रहण भी होता है, पर अर्थ ग्रहणका विकल्प प्रतीत नहीं होता। ऐसा शुद्ध जानन मात्र मैं आत्मा हूं। तब फिर ज्ञानसे अन्यमें मैं ही क्या हूं ? प्रत्येक जगह पर कहते हैं कि यह मैं आत्मा ज्ञान परिणमनके सिवाय करता ही क्या है ? आत्माका असाधारण लक्षण चैतन्य है, ज्ञान है, इसमें इस चैतन्यकी वृत्ति चलती है। उसके अतिरिक्त और मैं करता ही क्या हूं ? और उस ज्ञानमें भी मैं क्या करता ? केवल ज्ञानरूप परिणमन होता है। जैसे अचेतन पदार्थोंमें हम करनेका शब्द नहीं लगाते। लगाते भी हैं तो समझते रहते हैं कि क्या कुछ नहीं रहा जाता है ?

जैसे पूछा जाय कि इस वृक्षने क्या किया ? तो इससे अपनेमें हरियाली कर ली। और हरियाली करनेका अर्थ क्या हैं ? हरेपनका परिणमन हुआ, अचेतन पदार्थोंके करनेकी बात कम जंचती हैं, होनेकी बात स्पष्ट जंचती है तो यह सब पदार्थोंका ही तो नाता है। जितने पदार्थ हैं उन सबकी भी यही बात है कि वे हैं और परिणमते हैं। विभावरूप परिणमते हैं तो इसी अनुकूल निमित्त पाकर ही परिणमते हैं। परिणमन करनेका अर्थ क्या ? अरे कहते भी हैं—

यः परिणति स वर्ता, यः परिणामे स्वभावतः स कर्मः।

बस परिणमनका निमित्त करना है। मैं ज्ञानमात्र हूँ तो ज्ञानके अतिरिक्त मैं करता ही क्या हूँ ? जैसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रसंगमें ये तीनों चीजें ज्ञानवृत्ति

रूप परिणमती हैं। ज्ञानका जीवात्माका श्रद्धान् स्वभावसे है। सो सम्यग्दर्शन है।

ज्ञानका अर्थ है आत्मग्रहण। स्वभावका होना सम्यग्ज्ञान है और ज्ञानका रागादिकों के स्वभावसे बने रहना सो सम्यक्चारित्र है इसी प्रकारसे यह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भी इस ही ज्ञानसे संबन्धित बात है। ज्ञानका विपरीत श्रद्धा भावसे परिणमना सो मिथ्यादर्शन है। ज्ञानका विपरीत ज्ञानसे परिणमना मिथ्याज्ञान है और ज्ञान का रागादिकोंमें लगते हुए होना, परिणमना सो मिथ्याचारित्र है।

भेदभावका गुणभेद होता है, सो सर्वत्र यह देख लो कि उस ज्ञानके सिवायऔर करता क्या हूँ ? घरमें बैठे हुए झुँझला गये तो वहाँ पर भी उसने अपने ज्ञानका परिणमन किया। कभी-कभी सभाओंमें या देशसेवाके कामोंमें या अन्य कोई प्रकारके पारिश्रमिकताओंमें कुछ सफलता पायी और यहां कुछ गौरवके साथ अपनी वृत्ति दिखाई तो सब साधनोंमें भी इस आत्माने क्या किया है ? ज्ञानका काम किया है, विपरीत रूपसे अथवा सही रूपसे। ज्ञानसे अन्यत्र मैं करता ही क्या हूं ? किसीको ऐसा मान लेनेसे कि यह मेरा पुत्र है, तो क्या उसका पुत्र बन जाता है ? यह मेरा घर है, इतना सोच लेनेसे क्या घर उसका हो जाता है ? और यह सोच लेनेसे कि मैंने दरीको बनाया, घड़ीको बनाया, इस चौकीको बनाया, इस चौकीको जला दिया इतना सोच लेनेसे क्या सब कुछ हो गया ? नहीं। क्या उस चौकीको जलाने वाला आत्मा हो गया ? नहीं क्या उन चौकी कागजको तोड़ने फाड़ने वाला आत्मा हो गया ? नहीं। आत्मस्वरूपको देखो। आत्मा क्या है ? कितना मात्र है ? क्या वह किसीको छू भी सकता, पकड़ भी सकता है ? यह ज्ञानमात्र है, ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानके सिवाय और करता ही क्या हूँ ? फिर मैं किसको छोड़ूं और किसको ग्रहण करूँ ? यह बहुत अन्तरमर्मको पहचान कर आत्मस्वरूपका बोध करने वाला चिन्तन कर रहे हैं। छोड़ना क्या। सब बाहर ही तो हैं। ग्रहण करना क्या ? क्या किसी भी तरहसे परपदार्थ इसके ग्रहणमें आते हैं। यह जो विकल्प करता है, यही तो परपदार्थका ग्रहण है और उसे विकल्पोंको छोड़ना हो तो यही पदार्थका त्याग है। इसे आत्माके निज चतुष्टयको देखकर सोचना चाहिए।

कोई पदार्थ अपने स्वरूपचतुष्टयसे बाहर कुछ अपना अस्तित्व रखता है क्या ? नहीं। फिर मैं क्या छोड़ और क्या ग्रहण करूँ ? अरे उन विकल्पोंका त्याग करना, जिन पदार्थों से हमने परपदार्थका ग्रहण करना माना है। उन विकल्पोंके त्यागकी आवश्यकता है। यह बात कही जा रही है बहुत अंतरदृष्टि लगाकर योगये साथ चिंतन करनेकी बात है, तब फिर सबसे उपेक्षित होकर मैं अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

संसारवाहिमूढ़ेनासाम्यमभ्रान्तवेदिनः ।
अलिप्तो हि सदा शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।६-१७।।

एक मोही और एक ज्ञानी इनको समानता क्या की जा सकती है ? नहीं। मोही संसारमें रोने वाला आत्मा है और ज्ञानी, भ्रांतिरहित, सत्य स्वरूपका जानने वाला आत्मा है। इन दोनों आत्माओंकी क्या तुलनाकी जा सकती है ? कोई समानता क्या बतायी जा सकती है ? नहीं । बहुत अन्तर है, यह मोही जीव अपने उपर संसारका बोझ लादता और बढ़ाता चला जा रहा है। धन्य है वह सम्यग्ज्ञान जिसके प्रतापसे संकट दूर हो जाते हैं। वह संकट भी इन्द्रजाल है। है कुछ नहीं, कल्पना बसाया हुआ एक विभाव है। उसके मिटानेमें कुछ बाहरमें उद्यम नहीं किया जा सकता है। जैसे बाहरके कितने ही काम होते हैं ? हथोड़ी छेनी आदिसे खटपट काम किया जाता है।

एक भीतमें कपड़ा टाँगनेका यदि पटिया बनाना है तो काठ लायें, ठोकें, पीटें, छेद करें, पेंच कसें, टाँगने जैसा कसें, और बाहरकी चीजको मिटाना हुआ, तोड़ना, फोड़ना, सुधारना ही हुआ। हथौड़ा लाये फिर उसमें खटपट किया। क्या जीवको अपने संकट मिटानेके लिए कोई बाहरी औजारोंकी आवश्यकता है ? नहीं। संकट क्या है ? एक विचार, कल्पना, अशांति ही संकट है।

कुछ पुरुष सड़कपर जा रहे हैं, एक सेठ है, कुछ जानकार हैं। उन्हें दी-चार आदमी साधारणसे सामने मिले। उन्होंने राम-राम भी नहीं किया, वह सेठ भीतरसे आग बबूला हो गया। इन्होंने मुझे कैसा समझ लिया है ? ये मुझे कुछ भी नहीं समझते हैं, जमाना बड़ा खराब है। सब उद्दण्ड बन गये हैं, ये राम-राम भी नहीं करते, ये मुझसे बात भी नहीं करते, झुकते भी नहीं हैं। सेठ बड़े संकटोंमें पड़ गया है, बड़ा बेचैन हो रहा है उसके आ-कुलताएँ बन गयी हैं, संकट हो गये हैं, देखिये बात वहाँ कुछ नहीं है, पर सेठ पर संकट गुजर रहे हैं।

एक बात ही संभालना है। ये भी जीव हैं, स्वयं हैं, उनसे मुझे क्या होता है ? वे मेरे न स्वामी हैं, न अधिकारी हैं, क्या सम्बन्ध है,वे घटनाको ज्ञेय नहीं बना सकते। संकट विकट आ गये। और ये संकट मिटेगे कैसे ? क्या दौड़ धूप करके इन संकटोंके सामने लगना पड़ेगा ? इन संकटोंको मिटानेके लिए और कुछ नहीं करना पड़ेगा, केवल अज्ञानको हटाना होगा, ज्ञान जगाना होगा, लो संकट जो थे वे मिट गये। कहाँसे संकट होते हैं कुछ जरा सोचो तो ? केवल एक हो इस संकटसे इस जीवपर अनेक काँटे लगते चले जा रहे हैं अथवा किन्हीं व्यसनोंमें कुछ खर्च हो रहा है। इतना खर्च इसमें करना पड़ेगा, बस संकट हो गये। तो क्या संकट हो गये ?कल्पनाओंमें बात आ चुकी थी कि मैं एक इज्जत वाला हूं,

मैं इतने परिवार वाला हूँ, और इतने पैसे वाला हूं, और इस तरहसे टोटे पड़ते जायेंगे तो लोगोंके बीच मेरी क्या स्थिति ही जायगी ? बतना केवल भाव ही तो बनाया है, उसीका सारा संकट है कैसे मिटेंगे ये संकट ? इन संकटोंके मिटानेका उपाय एक ज्ञान है।

मैं तो यह एक पूर्ण नग्न अतरंगसे शुद्ध ज्ञायकमात्र हूं जिसमें किसी भी दूसरी चीज का मेल नहीं है, केवल अपने हो स्वरूपास्तित्वमें है। ऐसा यह मैं बिल्कुल एकाकी मात्र हूं। ऐसा ही था, ऐसा ही हूँ और ऐसा ही रहूँगा। जो भी देखते हैं ये सब चले जायेंगे। जो कुछ भी व्यवहारमें आता सब इन्द्रियजाल है, यह सब निमित्तनैमित्तिक भावोंका खेल है। इन्द्रियजाल ही निमित्तनैमित्तिक भावको कहते हैं, क्योंकि किसीके सत्की वह बात नहीं है। परके प्रसंगमें वह सब कुछ हो जाता है। किसी एक सत्में नहीं है और फिर भी होता है, वही इन्द्रजाल हैं। जिस जीवमें सदासे राग नहीं है, पौद्गलिक कर्मोंमें राग नहीं है, पर परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावके प्रसंगमें राग परिणति होती है। मान लेनेकी बात आस्रवभूत पदार्थोंके साथ है।

जैसे मान लिया कि यह घर मेराहै तो घर मेरा केवल मानने भरकी बात है। नहीं, पर घर मेरा है, इस प्रकार जो विभाव परिणमन है वह तो उसमें परिणमन है ही, पर अपना प्रयोजन यह है कि इन्द्रजाल कहो, निमित्तनैमित्तिक भावोंका विस्तार कहो, दोनों एक ही बातें हैं। तो यह संसारका बोझ लादने वाला मोही जीव और भ्रांतिरहित पदार्थों के परमार्थ स्वरूप ज्ञानी जीव इन दोनोंमें क्या समानता हो सकती ? नहीं इनमें तो महान् अन्तर है। एक ज्ञानी जीव अलिप्त रहता है और मोही जीव कल्पनाओंमें लिप्त रहता है। सो इस जीवमें तो चैन है नहीं और अलिप्त रहनेमें चैन है। अहो जो ज्ञानानुभूतिकी ओर ले जाय उससे बढ़कर दुनियामें कुछ वैभव नहीं है। वही मेरा सर्वस्व है, वही मेरी शरण है। सो मैं बाह्य पदार्थोंसे अलिप्त होता हुआ अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

रागद्वेषो हि संसारो भ्रमात्तत्रोपयोजनात्।
शुद्धं शान्तं विजानीयां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१८॥

राग और द्वेषका ही नाम संसार है। यह संसार कैसे बना ? तो भ्रम उपयोग करने से ये राग द्वेष बने। एक यह जीव ही तो भ्रम करके अपने आपके सत्य, शांतिस्वरूप स्वभावसे चिगकर क्षोभमें आता है। यह जीव जब तब अपने आपको ज्ञानघन और आनन्दमय समझ नहीं पाता, अपने स्वरूपका श्रद्धान नहीं कर पाता तब तक यह जीव अपने आप में नही टिक सकता और जो अपने आपमें न टिक सके उसके राग और द्वेषकी तरंगें होती है।

मेरा संसार मेरा विभाव है। लोकमें अनेक जगह हैं,अनेक चीजें हैं, संयोग हैं। वे

मेरी कैसे कही जा सकती हैं ? तो यह संसार मेरा नहीं है । मेरा संसार तो मेरा विभाव-परिणाम है । बाहरमें कहीं कुछ हो तब भीतरमें कल्पनाएँ हानि सोचनेकी बन जाती है तो दुःख होता है और भीतरमें हानि महसूस नहीं होती । संपत्तिका ही अनुभव करते और सुख मानते हैं । कोई इष्टवियोग हो तो उस समय वियोगी पुरुष कहने लगते हैं कि मेरी दुनिया लुट गयी । पर उसके तो दुनिया थी ही नहीं तब लुटी क्या ? बाह्यपदार्थ थे यों परिणमना था तब परिणमन हो गया, पर उन बाह्यपदार्थोंके सम्बन्धमें जो कल्पनाएँ बनी थीं, विचार बनाया था,वह कल्पना अब नहीं चल पाती है । उनका आश्रयभूत पदार्थ मिट गया, अलग हो गया । सो अपनी कल्पना वैसी बन पाती तो यही कहलाता है कि दुनिया मिट गयी ।

एक प्रसिद्ध चुटकुला या कहावत या कथानक है कि एक नाई बादशाहकी हजामत बनानेके लिए आया । बादशाहकी हजामत बनाता जाय तो नाई लोगोंकी बिना बात किए तो बात नहीं बनती । आदत उनकी ऐसी होती है कि चारों तरफके समाचार उनसे सुन लो । तो नाई बहुत-बहुत बातें करने लगा । बादशाहने नाईसे पूछा—क्यों खवास, आज-कल प्रजामें सुख है कि दुःख है ?नाई बोला—महाराज, जनतामें बड़ा आनन्द बरस रहा है। घी दूधकी नदियाँ बह रही हैं । बादशाहने पूछा—तेरे घर कितना गोधन है? बोला—१०-१२ भैंस हैं, १०-१५ गाय हैं । बादशाहकी सभामें आ गया कि इसके घरमें खूब घी दूध होता है तो इसे दिखता है कि प्रजा सुखी है । नाई तो चला गया । उधर राजाने मंत्रीसे कह दिया कि कुछ समयके लिए नाई पर इल्जाम लगाकर उसकी गाय, भैंस गिरफ्तार कर लो । ऐसा ही हो गया । अब फिर नाई हजामत बनाने आया सो बादशाह पूछता है कि खवास प्रजामें कैसा सुख दुःख है ? नाई बोला—महाराज, प्रजामें बड़ा दुःख है । घी दूध का तो किसीको दर्शन ही नहीं होता ।

तो जैसा अपना परिणाम है बस वही उसके लिए दुनिया है । अपना असर अपने ही उपयोगसे हो जाता है ।जब चिंतातुर हुए तो सभी लोगोंकी दशा सम्भवतः जितना देख सकते हैं, चिंतातुर ही दिखती है । यदि कोई बड़ी विकट चिंता लगी है, किसी प्रकारका दुःख है तो ऐसा लगता है कि वे लोग भी बड़ी चिंतामें पड़े हैं, सभी चिंतीत लगते हैं, सभी दुःखी दिखते हैं । और कोई बड़ी खुशी हो तो जो चिंतातुर हैं उन भी यही ख्याल होता है कि ये बड़े खुशी हैं, ये बड़े आनन्दमें हैं । कभी-कभी प्रभुमुद्राको देखकर ऐसा लगता है कि आज तो भगवान् हँस रहा है और कभी उसकी मूर्तिमें ऐसा लगता है कि आज भगवान् उदास है तो यह क्या है ?क्या वह चेहरा कल और था, आज और हो गया है ? अरे आप अगर खुश हैं तो आपका भगवान् भी प्रसन्न नजर आ रहा है और जब आप शोकातुर हों तो

आपको उस भगवान्‌की मुद्रा भी उदास नजर आती है। तो जो राग द्वेषका असर है वहाँ संसार है। और इस संसारकी जड़ है सो मैं भ्रम निज शुद्ध, सहज तत्त्वको जानूँ और अपनेमें आप स्वयं सुखी होऊँ।

अन्तर्बाह्यं जगत्सर्वं नश्वरं तत्र किं हितम् ।
कर्तव्यमितरद्धयर्थं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१९॥

अन्तरजगत् और बाह्यजगत्—ये सबके सब विनाशीक हैं। बाह्य जगत् तो अपने आत्मासे अतिरिक्त अन्य जितनी पर्यायें हैं वे सब बाह्यजगत् हैं और अपने आपमें जो परिणति, तरंगें होती हैं वह अन्तर जगत है सो ऐसा जगत् भी विनाशीक है और वह बाह्यजगत् भी विनाशीक हैं, इनमें मेरा क्या हित है? न तो इस अंतरजगत्में हित है और न बाह्य जगत्में हित है। जो लोग ऐसा विचार रखते हैं कि मेरी इस दुनियामें, लोगोंमें कीर्ति सदा काल रहे, अविनाशी रहे तो ऐसा सोचने वाले विनाशीक हैं या अविनाशी? द्रव्यकी यह बात नहीं है। यह पर्यायमें ही गुजर रहा है। तो जो ऐसा चाहता है वह विनाशीक है और जिनमें चाह है कि लोगोंमें सदा काल यश रहे, वे लोग भी विनाशीक हैं या अविनाशी? वे भी विनाशीक हैं और उनकी चाह की जा रही है कि सदा काल यश रहे, वह यश भी अविनाशी हैं कि विनाशी और इसकी जो चाह होती है यह इच्छा भी विनाशीक है कि अविनाशी? यह भी विनाशीक है। तो कितने मजेकी बात, गजबकी बात है कि अविनाशीक विनाशीककी चाह कर रहे हैं। अविनाशीक होनेकी चाह कर रहे हैं।

यह सारा जगत् विनश्वर है। कितनेही काल अब तक बीत गये, अनन्तकाल बीत गये। जिसकी अवधि नहीं उसके सामने इन १०० वर्षोंका भी कितना मूल्य है? एक स्वयंभू रमण समुद्रमें बहुत बड़े समुद्रमें जो करीब आधे राजूमें फैला हुआ है, कितने बड़े समुद्रमें एक बूँद तो गिनतीमें आ सकती है, पर इस अनन्तकालकी समझो कि १०० वर्ष तो क्या, करोड़ सागर भी गिनतीमें नहीं आते। एक कल्पकाल भी गिनतीमें नहीं आता। तो थोड़ेसे कालके लिए अपनेको कुछ भी जाहिर कर देनेकी इच्छामें यह अमूल्य नरजीव व्यर्थ गुजर रहा है। किसलिए आये थे? क्या करने आये थे और क्या कर रहे हैं? इसपर तो विचार करो। आये थे यों समझ लो आत्महितके लिए और कर क्या रहे हैं विषय और कषाय। बडेसे भी बड़े पुरुष, राजा महाराजा बड़े अच्छे लगते हैं सवारियोंमें बैठकर आते, चेहरा भी बड़ा साफ-सुथरा रहता है। शृङ्गार भी अलौकिक अनुपम रहता है। पर ये विषय कषायोंके घर क्या स्वतंत्र हैं? तो ऐसे विषयकषायोंके घर स्वयं संसारके लिए बने हुए हैं उन लौकिक बड़ोंको देखकर मनमें यह वाञ्छा होती कि मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ। तो इसका

अर्थ यह है कि ऐसे ही अशुद्ध, ऐसे ही विषयकषायोंका घर बनाये रहनेकी चाह कि है अपने हितकी बात कुछ की।

इस जगत् में करने योग्य कार्य कुछ भी नही है। है तो एक यही कि बस जो जैसा है तैसा जान जावो, केवल जान जावो। किसी पदार्थमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि न जाये सोई भाई तप है, आत्मकल्याणका उपाय है। बात मानो तो रहेंगे। न मानो तो रहेंगे। वे अपने हैं ही नहीं। आत्मीयताकी जो जबरदस्ती करते हैं यही दुःखका कारण बन गया है। नहीं तो क्या दुःख है ? कोई दुःख नहीं है ! रंच भी दुःख नहीं होता। दुःख तो केवल कल्पना बनानेका लगा है, पदार्थ तो सब जो है सो पूरे हैं और अपने आपमें परिणमते रहते हैं। जो आपकी स्थिति है वही उन सबकी स्थिति है। सो ये समस्त जगत् नश्वर है। इस जगत्में कोई हित नहीं है। अन्य कर्तव्य करना व्यर्थ है सो अन्य कर्तृत्वकी कल्पनाओंको छोड़कर मैं अपने आप सुखी होऊँ।

स्वतन्त्रोऽहं परास्तेषां तंत्रो, योगवियोगयोः।
कथं दृष्याणि खिन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–२०॥

मैं स्वतन्त्र हूँ, अपने तन्त्र हूँ, मेरा स्वरूपास्तित्व जो है वह मुझमें है। देखो जो अपने घरमें रह रहा है और घरकी सारी चीजें इधर-उधर पड़ी हैं तो भी अपनी गद्दी पर बैठे हैं, गद्दीके आस पास चीजें भी बिखरी हैं तो भी चूँकि अपना हीं सब कुछ है सो विश्राम से रहते है, परवाह नहीं करते है, विश्वास तो है। ये देहपर भी यथा तथा पड़े हुए हैं तिसपर भी गौरव है।

इसी प्रकार अपने आपके निजी आत्मगृहमें जो बैठे हैं, देखते हैं, वहाँ कितनी बातें गड़बड़ भी चलती हैं, रागद्वेष कषाय, इष्ट बुद्धि, आशा, इच्छा इत्यादि अनेक गड़बड़ियाँ भी इसमें चल रही हैं, पर अपनेको देखो न तो भी एक इस निश्चयदृष्टिसे अर्थात् अपने उपादान की दृष्टि रखने वाले पुरुषको अव्यवस्थित होते हुए भी आकुलताएँ नहीं हैं। घरमें ही तो हैं, ऐसा हो रहा है, ऐसा जान तो रहे हैं। यहाँ ऐसा हो रहा है। यहाँ कुछ पर-द्रव्योंमें परकी परिणति नहीं है। अपना सब कुछ बुरा ही सही, पर अपने आपको देख तो रहा है। व्यवस्थित ढंगसे क्रिया चलते हुए आखिर कन्ट्रोल तो कर लिया है। अपने आपमें तो तन्मय है, यह परिणति हो गई है। ऐसी दृष्टि वाले अपने आपमें इस ही एकत्वकी पद्धतिके प्रतापसे उन वाञ्छाओंसे दूर हो सकता है।

मैं स्वतन्त्र हूं, अपने आपके आधीन हूँ और परपदार्थ उनके ही आधीन हैं, उनका संयोग उनका वियोग हर स्थितिमें उनका उनमें होता है फिर किसी भी प्रसंगमें मैं हर्ष क्या

करूँ, किसीमें खेद क्या करूँ ? संयोगमें तो जीव हर्ष मानता है और वियोगमें जीव खेद मानता है । पर जैसे रात्रिको कोई भय या कल्पना या उपद्रव या कोई मानसिक क्लेश है तो यह दृष्टि है कि यह रोगी गुजर जायेगा, मिट जायेगा । प्रातः हो गया तो ऐसी प्रतीति वालेको यह धैर्य रहता है कि लो रात गई, प्रातः हुआ है । जैसे जिन्होंने रात्रिमें पानी छोड़ रखा है, प्यास लगी है, पर यह जानते हैं कि अभी ४–६ घण्टेमें सवेरा तो होगा ही। सवेरा होगा तब पानी पी लेंगे । सवेरा हो गया । ऐसी उपेक्षामें वह रात्रिका समय निकाल देता है । प्रातः होने वाला है । वह अपने दुःखकी वेदना नहीं करता है । इसी प्रकार कितना वियोग हो गया, कितना उपद्रव हो गया तो वह जानता है कि संसारमें दुःखके बाद सुख आता है और सुखके बाद दुःख आता है ।

ऐसा कौन इन्द्रिय सुख है जिसके बाद दुःख न आता हो ? सब बैठे हैं, शृङ्गारसे बैठे हैं, ढंगसे बैठे हैं, मुद्रा तो ऐसी बनी है कि इनको दुःखका कोई काम ही नहीं है। सजे सजाये बैठे हैं, पर सभी जानते हैं कि दिनका जितना अवसर है उसमें अधिक अवसर दुःख माननेका है और थोड़ा अवसर सुख माननेका है । पर सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख लगा है। इसी प्रकार इन सबमें ऐसा दुःख भी कोई नहीं है कि पूरे दिन लगातार दुःख ही दुःख रहता हो। दुःख निरन्तर दिनभर रह ही नहीं सकता है । दुःखके बाद सुख है और सुखके बाद दुःख लगा है । तो जिस समय यह जीव सुखमें है उस समय यह जानता है कि इसके बाद दुःख आयगा तो वह सुखमें मौज कैसे मान ले ? दुःख है तो यह बात मनमें है कि यह तो मिटने वाला है, इसके बाद सुख आयेगा, दिन अच्छे आयेंगे तो वह दुःख में धैर्य रखता है तब हर्ष करनेकी चीज कुछ नहीं रही और खेद करनेकी चीज कुछ नहीं रही।

विशिष्ट ज्ञानी तो वह है कि जो इसका ज्ञाता रहता है, इसमें हर्ष और क्लेश नहीं मानता मैं अपने तन्त्र हूं, बाकी परपदार्थ वे उनके ही आधीन हैं, फिर मैं किसमें हर्ष करूँ और किसमें खेद करूँ ? मैं तो अपनेमें अपने लिए अपने आप रहकर, समझकर स्वयं सुखी होऊँ ।

ज्ञानेन ज्ञानमात्रोऽहं भवाम्पन्यगुणानपि ।
साक्षात्कर्तुः कुतः क्षोभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।६–२१।।

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानके अतिरिक्त आत्मामें और कोई स्वरूप नहीं है। सो यह ज्ञानके द्वारा अपने सभी गुणोंको जाना करे तो उसमें कोई क्षोभ नहीं होता। आत्माका काम तो केवल जानना है, रागद्वेष करनानहीं है। जो रागद्वेष करते हैं वह इनकी भूल है। आनन्द तो इस जीवमें स्वयं मौजूद हैं, पर बाहरी पदार्थोंमें अपना एकत्व माननेके कारण

इन्हें क्षोभ होता है आत्माके बाहर सब कुछ पर है, किसीसे कुछ सम्बंध नहीं है। पर सम्बंध मानते हैं और दुःखी होते हैं। अपने घरके दो-चार बाल बच्चोंके लिए धन कमाना, परिश्रम करना, सारी परेशानियाँ इसे होती हैं और हैं वे सब परचीजें भिन्न चीजें। जैसे जगत्के और सब जीव हैं वैसे ही घरमें बसने वाले जीव हैं। कुछ भी फर्क नहीं है, मगर जीव उनको मानने लगता है कि ये मेरे हैं बस इस रोगसे सब दुःखी हैं। इनको ऐसा ज्ञान जगे कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं और जो कुछ भी हैं वे सब मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं और वे अपना साथ नहीं देते। मृत्यु हो जायगी तो लोग इसको जला देते हैं।

औरकी बातें जाने दो, जो बड़े-बड़े आचार्य थे उनकी भी तो मृत्यु हो गयी तो उनके शरीरको भी कोई रखता है क्या ? नहीं। पहले उनकी पूजा होती थी, पैर पुजते थे, पर मृत्यु हो जानेके बाद शरीरकी वही हालत कर दी गयी जो हम आप लोगोंकी की जाती है उन आचार्योंके शरीरको चंदनसे जला दिया। सो चंदनसे जलायें चाहे लकड़ीसे, कुछ अन्तर नहीं है। यह तो लोगोंकी भक्ति है कि बड़े पुरुषोंके शरीरको चंदनसे जलाते हैं।

जितना यह क्षोभ है वह बाहरी पदार्थोंमें ममता करनेका क्षोभ है, नहीं तो क्षोभका कुछ काम नहीं है। ऐसी भावना होनी चाहिए कि मैं तो सबका ज्ञाता मात्र रहूँ, किसी पदार्थमें मेरा राग न पहुंचे वही साधक है। गृहस्थीमें रहते हुए भी यदि वैरागी रह सके तो उसका जीवन सफल है और बैरागी न रह सका तो मोहांध हो जायगा तो इसका जीवन बेकार है। मनुष्य जीवन पाया और न पाया उससे कुछ हित नहीं निकलता, सो ममता का त्याग हो और अपने आपसे अपने हितके लिए अपनेको सुखी बनाओ दूसरोंसे सुखकी भीख न माँगो। कोई दूसरा जीव सुखी नहीं बना सकता। कल्पनाएँ करते हैं और मौज मनाते हैं। कोई भी तो किसीको सुख देनेमें समर्थ नहीं है। खुदकी आत्मा निर्मल हो तो सुख हो सकता है और सुखका कोई उपाय नहीं है।

ज्ञानस्य चेष्टयाऽचेष्टोऽचेष्टीभूतः कृती स्वयम्।
अचेष्टन द्वयोः सारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२२॥

हम चेष्टाएँ तो बहुत करते हैं, पर विकल्पोंकी चेष्टाएँ करते हैं। यदि ज्ञानकी चेष्टाएँ करें तो सब चेष्टाएँ समाप्त हो जावेंगी। मैं केवल जाननहार हूँ और जानन ही हमारा नाम है। इस प्रकार जाननरूपमें ही अपने उपयोगको रखकर ज्ञानकी चेष्टाके कारण बाकी सब कुछ चेष्टाएँ छूट जावेंगी। सो चाहे ज्ञानकी चेष्टाएँ कहो, चाहे कृत-कृत्यका भाव कहो, एक ही बात है। मैं केवल जाननहार रहूं।

ज्ञानीके मायने हैं कि उसे दुनियामें अब कोई काम नहीं करना है। जिस दुनियामें काम करनेकी धुन लगी होगी उसे शांति नहीं मिल सकती है। क्या करना है? करनेको कुछ भी है क्या? विचार करो, कुछ सामर्थ्य भी हो सो बात बन सकेगी। संसारके संयोग में, वियोगमें रंच भी अधिकार नहीं। होना है तो होता है और यदि नहीं होना है तो नहीं होता है। ऐसा अपने आपमें अनुभव करना चाहिये कि मेरा करनेका दुनियामें कोई काम नहीं पड़ा है, क्योंकि मैं दुनियाके पदार्थोंमें कुछ काम कर ही नहीं सकता। सबकी न्यारी सत्ता है। किसमें क्या करना है? अपने आपमें सदा ऐसा विश्वास रखो कि जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरी आत्माका स्वरूप है। प्रभुका स्वरूप तो व्यक्त हो गया है, ज्ञानानन्दमय है, ज्ञानमय है, और मेरा स्वरूप जो है वह तिरोहित है।

सो जैसा द्रव्य प्रभुका है वैसा ही द्रव्य अपना है। अपनेमें और प्रभुके स्वरुपमें कोई अन्तर नहीं है, सो ऐसे ज्ञानका भाव यदि बन सकता है तो जीवनकी सफलता है। नहीं तो देखो सभी जो रहे हैं, जीते जाओ, पर मरण तो होगा ही। क्या मरण न होगा? होगा। ५० वर्ष जी लो, ६० वर्ष जी लो, मरनेके बाद क्या साथ ले जाओगे सो बतला दो। तो फिर जब तक जिन्दा हैं तब तक अपने दिलसे हटाये रहो। ऐसी बात तो सोचते रहो कि मेरा दुनियामें कुछ नहीं है। जो भी जीव सुखी हो सकेंगे वे अपने भावोंसे सुखी हो सकेंगे। इस जगत्में मेरी कुछ चीज नहीं है। जो यह मान गये कि इस दुनियामें मेरा कुछ नहीं है तो उनके हाथ नहीं आ गया और जो समझा कि मेरा कुछनहीं है तो एकदम उसके भीतर ज्ञान और आनन्दका विकास हो आयेगा।

जगत्के जीव एक ही तरहके रोगी हैं ममता के। प्रत्येक जीवमें ममता पायी जाती है। पशुओंमें देखो तो भी अपनी ममता लगाये हैं। घोड़ीको देखो तो वह भी अपने बछड़े को देखकर हिनहिनाती है। यदि वह घोड़ी और पर्यायमें होती तो उसका उस बछड़ेके साथ क्या सम्बन्ध था? आज आप मनुष्यके पर्याय हैं, यदि आप और किसी पर्यायमें होते तो इस विभूतिसे क्या कुछ सम्बन्ध था? कुछ भी तो सम्बन्ध न था। यदि इस ममता डायनको दूर करोगे तो भगवान्की भक्ति हुई, नहीं तो भगवान्की भक्ति नहीं हुई।

इस तृष्णासे रात-दिन व्याकुल होते चले जा रहे हैं। सबके तृष्णाका ही परिणाम लगा है। इतना धन और हो जाये। अरे कितना धन और हो जाये? दुनियामें जितना वैभव है मान लो कि मेरा है। जितना धन-वैभव तुम्हारे घरमें है उसको तो माना कि मेरा है तो और भी संसारमें जितना धन-वैभव है उसे भी मान लो कि मेराहै। जितनी चीजें हैं सब भिन्न हैं। कल्पनाएँ ही करके मान लिया कि यह मेरा है। सबकी केवल कल्पनाओंकी

ही बातें चलतीं, और कुछ बातें हो ही नहीं सकती हैं। कल्पना करके सारी दुनियाके वैभव को मान लो कि मेरा है।

कंजूस आत्माका धन पत्थरके ही समान है। कंजूसने धनको गाड़ दिया और मान रहा है कि यह मेरा है, उसी तरहसे तुम संसारके वैभवको कल्पना करके मानलो कि मेरा है तो तुम और कंजूस बराबर हो गये। कंजूस खर्च नहीं करता और तुम उस काल्पनिक धन को खर्च करोगे ही क्या? तो तुम दोनों बराबर हो गये। सारी वस्तुएँ नाशवान हैं। जितना भी सदुपयोग दूसरोंके उपकारमें बने उतना कर लो और यदि सदुपयोग नहीं करते तो सारी चीजें मिटेंगी ही, सारी चीजें तो जावेंगी ही। व्यर्थमें पाप और बाँध लिया।

सो भगवान्‌की भक्तिका तो यही प्रयोजन है कि हम अपने ज्ञानानन्दमें लीन हो सकें जिससे फिर किसी भी प्रकारको आपत्ति न समाए। सो ज्ञानरूप रहना, किसी पदार्थमें भी न फंसना और न बोलना यही सबका सार है।

ध्याने स्तुतौ च यात्रायां मनोवाक्कायखेदनम्।
निर्विकल्पे कुतः खेदः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२३॥

देखो अपना जो स्वरूप है उस स्वरूपमें तो रंच भी खेद नहीं। अपने स्वरूपसे अलग होते हैं और बाहरी बातोंमें पड़ते हैं तो खेद है। अभी घरमें अगर देवरानी जेठानीका झगड़ा हो जाये तो चैन है क्या? नहीं। व्यर्थकी लड़ाई है। सब जुदा-जुदा अपना-अपना सत् लिए हैं। रंच भी सम्बंध नहीं है। यह बना लिया कि यह मेरा है। इसने ज्यादा पहिचान लिया। अरे जिसने ज्यादा पहिचान लिया वह मरनेपर क्या साथमें चला जायेगा? वह साथमें नहीं जा सकता है। आखिरकार छोड़ने ही पड़ेंगे।

सो जितना भी खेद है सब बाह्यपदार्थोंसे खेद है औरकी बात ही क्या, अगर ध्यान करने बैठे हैं तो उस समय भी मनको खिन्न करना पड़ता है। उससे भी ध्यान हटाओ। अपने आपके ध्यानमें लगो तो ध्यान करनेमें भी खेद नहीं होता है। अपना धर्म है ज्ञायक-स्वरूप निजतत्त्व देखना, विकल्पोंसे छूटना, निर्विकल्प रहना। यही असली चीज है, सारे जगत का काम करनेमें आपत्ति है, मगर अपना काम करनेमें अपनेको कोई आपत्ति नही है। अपना काम है ज्ञातादृष्टा रहना। ज्ञाता दृष्टा रहनेमें रागद्वेष नहीं होंगे, मगर इस जीवमें तो ऐसे कुटेब लगे हैं कि उसे अपना बच्चा चाहे नाक बहती हो सबसे प्यारा लगता है और दूसरेका कितना ही सुन्दर बच्चा हो, प्यारा नहीं लगता है।

एक नौकरानीने किसी सेठके यहाँ नौकरी की। सेठानीने नौकरानीसे कहा कि स्कूल जाओ, स्कूलमें जो मेरा बच्चा पढ़ता है उसे खानेको दे आओ। नौकरानीने कहा कि मैं तो

तुम्हारे बच्चेको पहिचानती नहीं। बोली–अरे मेरे बच्चोंको क्या पहिचानना ? स्कूलमें जो सबसे अच्छा मिल जावे वही मेरा बच्चा है। सेठानीं अपने बच्चोंको ही सबसे अच्छा बच्चा समझती थी। सेठानीको यह गर्व था कि मेरा जैसा सुन्दर बच्चा और दूसरा नहीं है। नौकरानीका बच्चा भी उसी स्कूलमें पढ़ता था। उसे अपना बच्चा ही सबसे ज्यादा सुहाता था। नौकरानीने भोजनके डिब्बेसे भोजन निकालकर अपने ही बच्चेको दे दिया। भोजन उस बच्चेको देकर वह नौकरानी चली आई। जब छुट्टी पानेके बाद सेठानीका बच्चा आया तो बोला–माँ जी आज आपने मुझे खानेको कुछ नहीं भेजा था ? माँने कहा कि भेजा तो था। उसने कहा–नहीं भेजा। अब उस सेठानीने नौकरानीको बुलाया उस सेठानीने कहा कि तूने मेरे बच्चेको आज भोजन नहीं दिया था क्या ? उस नौकरानीने कहा––कि मैंने दे तो दिया था। तुमने ही तो कहा था कि स्कूलमें जो सबसे अच्छा बच्चा तुझे दिखे वही मेरा बच्चा है उसे ही तू भोजन दे देना। यही मेरा बच्चा मुझे अधिक सुहा गया, इसलिए मैंने उसे ही भोजन दे दिया।

सो सबको अपना बच्चा प्यारा होता है। चाहे सूअर का हो कि गधेका। सो यह व्यर्थका ऊधम है। ध्यानमें, स्तुतिमें, भजनमें निर्विकल्प अपना ध्यान लगे तो वहाँ खेद नहीं होता। सो अपने आत्माके स्वरूपको सोचकर, उसमें ही तृप्त रहकर मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्ति विषयस्पृहः।
साक्षी रक्तो विरक्तो न स्यां स्वस्मै स्वं सुखी स्वयम् ॥६-२४॥

अब विरक्त कौन है ? जो विषयोंसे हरा हो, रागद्वेष युक्त हो। कभी-कभी कह देते है ना कि स्त्री, पुत्र ये सभी नरककी खान हैं। तो स्त्री, पुत्र नरककी खान हैं कैसे ? अरे खुदका परिणाम बिगड़ा हुआ हो तो वही नरककी खान है। जिसने विषय कषायों द्वेषसे अपनेको रहित किया वह तो विरक्त कहलाया। मगर जो साक्षी पुरुष है, ज्ञाता पुरुष है वह रागी होता है और न वैरागी होता है, वह तो जानन देखनहार रहता है। सो बातों का सार यही है कि अगर ममता नहीं रहती है तो आनन्द पावोगे और अगर ममता रखो गई तो आनन्दकी स्थापना नहीं है। ज्ञाता दृष्टा रहूँ और अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

किन्हीं बाह्य पदार्थोंमें सुख होगा क्या ? जैसे इस घड़ीमें सुख गुण है क्या ? इस घड़ी में सुख हो अथवा यह घड़ी सुख पैदा कर सके तो एसा नहीं है। ये जो घरके लोग हैं उनसे सुख है क्या ? उनसे सुख है, मगर उनका सुख उनके लिए ही है। सुख उनसे निकल-

कर दूसरेमें आवे ऐसा नहीं हो सकता है। किसी परद्रव्यमें कोई लाभ या हानिको बात नहीं आ सकती। कुछ ही कल्पनाएँ करो और दुःखी हो लो। सुख, दुःख तो अपने ही ऊपर निर्भर हैं, किसी अन्यपर निर्भर नहीं हैं। जो विषयोंसे दूर रहना चाहता है वही विरक्त कहलाता है। उसे विषयोंसे द्वेषबुद्धि होती है। जिसे विषयोंसे हटना है और जो विषयोंसे रहित रहना चाहते हैं उनकी रागरहित बुद्धि है, वे रागमें नहीं लगते हैं।

ये सब ज्ञानी पुरुष जानता है कि जो विषय से, द्वेषसे रहित है वह विरक्त है। जो विषयोंसे, लोभोंसे रहित है वह ज्ञाता कहलाता है, वह जाननहार है। रागी हो तो, विरागी हो तो वह जाननहार नहीं रहता है। लाखोंका धन भी खर्च हो जाये फिर भी यह समझो कि मेरी कुछ हानि नहीं हुई अथवा यदि लाखोंका धन मिल जाए फिर भी यह विश्वास रहे कि मैंने कुछ नहीं पा लिया। केवल एक आत्माकी बात न मिली, बाहर ही बाहर भटकता रहे तो इसे कुछ लाभ न मिलेगा, इसलिये हर उपायसे आत्मज्ञान बनाऊँ और ममताको दूर करके तो शांति मिल सकती है अन्यथा सुखके स्वप्न देखना केवल कल्पना है।

सुखं दुःखं स्तुतिं निन्दां कस्य कर्तुं हि कः क्षमः।
किं श्रमं स्वच्युतेः कुर्याम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२५॥

किसीको सुखी कोई दूसरा नहीं कर सकता है, न दुःखी कोई दूसरा कर सकता है। स्तुति भी कोई किसीकी नहीं करता, प्रशंसा कोई किसीकी नहीं करता। खुदका जैसा भाव होना है वैसी ही वह अपनी चेष्टाएँ करता है। कोई किसीकी निन्दा भी नहीं किया करता, जिसका जैसा कषाय परिणाम है उसके अनुसार ही अपनी चेष्टाएँ करता है। फिर जब यह देख रहे हैं कि इसमें कोई प्राणी किसी दूसरेका कुछ नहीं करता, सब अपने-अपने कमाये हुए कर्मोंके अनुसार इस लोकमें सुख और दुःख भोगते हैं। इस लोकमें प्रत्येक जीव अकेला ही है और जो कुछ भी इन जीवोंपर बीतता है सुख हो या दुःख, वह अकेले पर ही बीतता है। इस कारण अपने आप पर दया करना, अपना धर्म करना, यह सबसे आवश्यक चीज है। आजीविका और लौकिक बातोंकी अपेक्षा भी आत्मधर्मको सबसे अधिक महत्त्व है, क्योंकि यहाँ दिखने वाली सम्पदा और कीर्ति, सन्मान ये सब मायारूप चीजें हैं। इनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। न आत्माके साथ ये सब आते हैं और न आत्माके साथ ये सब जायेंगे। ये सब तो यों ही मिले हैं और यों ही छूट जायेंगे।

आत्माको शांति केवल ज्ञानसे प्राप्त होती है। सुख ज्ञानपर ही निर्भर है, सुख कायकी चेष्टापर निर्भर नहीं है। सुख धनसे प्राप्त नहीं होता है। कोई करोड़पति भी है, धनिकों में सन्मानके योग्य भी है तो भी अशांत पाया जाता है, क्योकि वह अपने ज्ञानका अनुभव

अपनेमें नहीं कर पाता कि मैं सबसे न्यारा हूँ, केवल ज्ञानमात्र हूँ, जाननके स्वरूपके अतिरिक्त मेरा और स्वरूप नहीं है। जब तक यह विश्वास न हो तब तक जीव शांति नहीं पा सकता। बाहरी बातोंमें लगकर, पदार्थोंसे सुख मानकर कभी अकुशलताएँ मिट नहीं सकतीं।

सभी जीव इस मोहके रोगी हैं, और मोहमें जो कष्ट होता है उस कष्टको दूर करने का उपाय भी यहीं हैं कि उस मोहको अपनेसे अलग करना है। जैसे कीचड़से पड़ा हुआ कपड़ा कीचड़से साफ नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोहसे होने वाले दुःख मोहसे कभी दूर नहीं हो सकते। यह जीवन कितना है ? कुछ वर्षोंका। कुछ वर्षोंका जीवन मिल गया और मोह किया जा रहा है, तब आखिर इसका फल क्या हाथ लगेगा ?इसपर कुछ भी गंभीरता से प्रत्येक मनुष्य विचार नहीं करता है और वर्तमानमें जो मौज है, विषयका आनन्द है, इसको ही सब कुछ समझते हैं। मगर विषयोंके भोगोंके कालमें भी और मोहकी मौज माननेके कालमें भी यह जीव सुखी नहीं रहता है। आकुलतायें तब भी मची हुई हैं, आकुलतायें मिटानेका सम्बन्ध तो ज्ञानसे है, मोहके साधन मिलनेसे नहीं।

मनमें यह निर्णय करना चाहिए कि शांतिका सम्बन्ध ज्ञानसे है भोगके साधनोंसे नहीं है। दो मकान बन जायेंगे तब शांति आ जायगी, दुकान हो जायगी तब मौज हो जायगी, यह सोचना केवल स्वप्न जैसी बात है, शेखचिल्ली जैसी बात है। दो मकान नहीं, इस मकान हो जायें तो भी चैन नहीं आ सकती है। जिनके ५० मकान हैं उनको भी देख लो चैन नहीं आती है। आनन्दका सम्बन्ध ज्ञानसे है, परिग्रहसे नहीं है। ऐसे आनन्दकी जिनको चाह है, मुक्तिकी जिनको चाह है, कर्मोंके छूटनेके जिनके भाव हैं, ज्ञान उपयोगमें जिनको लगना है उन्हें परिग्रहको तो बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। उदय अनुकूल होगा तो स्वयं ही वैसा भाव सामने आयगा। उदय अनुकूल नहीं है तो करोड़ों यत्न करो तो भी वैभव प्राप्त नहीं होता, उसमें हमारे विचारोंकी गति नहीं। विचारोंका असर तो सबको छोड़नेसे ही चल सकता है, संसारके कार्योंसे नहीं। इसलिए इन बाह्य विभूतियोंका चित्त में आदर न करो।

बड़ी कठिनतासे यह नरजन्म पाया है, उत्कृष्ट कुल पाया है, धर्म पाया है, इस उत्कृष्ट रत्नोंको केवल परिग्रहकी तृष्णाओंमें गंवा दें तो यह बुद्धिमानी नहीं है। तृष्णाओं से दूर रहना है चाहिए। इस परिग्रहको कहते हैं--पिशाच। जो कुछ थोड़ा बहुत संतोष भी परिग्रहकी बुद्धिमें नहीं रह पता।

एक छोटासा कथानक है कि एक संयासीको रास्तेमें पड़ा हुआ एक पैसा मिला गया। उसने सोचा कि यह पैसा किसको दिया जाय। सोचा कि जो महागरीब हा उसको ही चाहिए। वह साधु गरीबकी तलाशमें निकला तो महागरीब न मिला। एक बार नगरका

बादशाह दूसरे राजापर चढ़ाई करने जा रहा था। बादशाह हाथीपर बैठा था। संयासीने वह पैसा उसकी जेबमें फेंक दिया। राजा कहता है कि यह पैसा क्यों फेंका ? साधु बोला कि यह पैसा मुझे मिला था, सो सोचा था कि मैं महागरीबको यह पैसा दूंगा। मुझे तो आपसे गरीब कोई नजर नहीं आया, सो आपको यह पैसा दे दिया। बादशाहने कहा कि मैं गरीब कैसे ? मेरे पास नगर है, बहुतसा वैभव है, मैं गरीब कैसे ? साधु बोला—महाराज आप यदि गरीब न हो तो एक छोटेसे राजा पर चढ़ाई करने क्यों जाते हो ? आपके पास कुछ नहीं है, इसलिए दूसरेका धन हड़प करने जा रहे हो। आपसे बढ़कर कोई गरीब नहीं है। अब तो उस राजाको ज्ञान हुआ। उस साधुने राजाको अमीर बना दिया। राजा उसी जगहसे अपनी सेना लेकर वापिस लौट गया।

अरे भैया ! जितना वैभव है उसका यदि पौना वैभव होता तो क्या गुजारा अच्छी तरहसे नहीं चलता ? अरे जो है वह बहुत है और नहीं है तो क्या करोगे ? जबरदस्ती संपदाको आकाशसे खींचा नहीं जा सकता। इस जीवनमें यदि परिग्रह ही परिग्रह किया तो क्या किया ? इस जीवनका ध्येय तो धर्मका पालन है। सात्त्विक वृत्तिके अनुसार गुजारा चलता रहे। करनेका काम तो धर्मका पालन है। वस्तुस्वरूपका ज्ञान करो, मोह ममताको अपनेसे हटाओ, अपने आपकी पवित्रता बढ़ाओ और अपना जीवन सफल करो तब तो इस नरजीवनसे लाभ है, नहीं तो यह नरजीवन पानेसे कोई लाभ न होगा।

सम्पदाका कमाना यह नरजीवनका उद्देश्य नहीं है। स्तवनमें तो पढ़ते हो, 'आतमके अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाये।' और भावनामें परपदार्थोंकी ध्वति बनी रहे तो इसे दर्शन करना कहेंगे क्या ? अपनी दयाका भाव जब तक न आये, अपने में बसे हुए प्रभुस्वरूपके जब तक दर्शन न हों तब तक क्या एक क्षणको भी यह मनुष्यभव पाना सफल कहा जा सकता है ? नहीं। सो बहुत गम्भीरतासे विचार करो और परिग्रहकी ममताको छोड़कर उसमें ममत्वबुद्धि न रखकर अपने कर्तव्यको निभाये बिना मुक्तिका मार्ग नहीं प्राप्त हो सकता है।

सुखे दुःखे च को भेदो द्वयोराकुल्यवेदनम्।
शान्ते ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२६॥

सुख और दुःखमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही स्थितियोंमें आकुलताओंका अनुभव होता है सुख कहते हैं इन्द्रियोंको जो विषय सुहावना लगे। सुहावना लगनेकी स्थितिमें आकुलताएँ होती ही हैं। यदि आकुलताएँ न हों तो इन्द्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति ही क्यों करें ? इन्द्रियोंके विषयमें कोई तभी प्रवृत्ति करता है जब उसे कोई दुःख हो। जिसे फोड़ा फुंसी

नहीं है वह मलहम पट्टी क्यों लगायेगा ? इसी तरह किसी प्रकारकी अशांति नहीं है तो वह इन्द्रियके विषयमें क्यों लगेगा ? जो जीव विषयोंमें हैं उनको आकुलतायें ही हैं अथवा विषयोंसे उनका आदर नहीं होता। तो उस सुखमें आकुलतायें ही पायी जाती हैं और दुःख में भी आकुलताएँ पायी जाती हैं। इस कारण सुख और दुःख दोनोंकी कल्पनाओंको छोड़ूं। न तो सुख करनेका मुझे सुख हो और न दुःखसे भयभीत होऊँ। दुनियामें दुःख कहीं नहीं है, दुःख मात्र अपनी कल्पनाओंमें है। सब कुछ सम्पन्न होते हुए भी यदि एक कल्पना बना ली कि मेरी कुछ शान नहीं है मेरी कुछ इज्जत नहीं है, लोग मेरा कुछ कहना नहीं मानते तो इससे क्लेश ही प्राप्त होंगे।

इस संसारमें प्रीति करने लायक कोई चीज नहीं है। इसमें सर्वत्र आधीनता ही आधीनता भरी हुई है। बाहरसे पदार्थोंका संयोग जुटाया तब सुख प्राप्त होता है। तो यह सुख स्वाधीनता नहीं है। जिस सुखमें पराधीनता हो, जो सुख होकर दूसरे समयमें नष्ट हो जाता हो, ऐसे संसारके सुखका क्या आदर करना ? यह सुख आदरके योग्य नहीं है। तो मैं अपने शांत स्वभावपर ही दृष्टि दूँ और उसमें ही लीन होकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

इस जीवने अपने जीनेमें कुछ पानेका यत्न नहीं किया, पर जितना ही ये जीव यत्न करते रहे उतना ही फंसते रहे। इस लोकमें सुख कहीं नहीं है। और जिसने लौकिक सुख को सुख माना है तो वह सुख तो राईके बराबर है और दुःख है पर्वतके बराबर। और राई के बराबर भी सुख सही, किन्तु इस सुख में भी तो विह्वलता कितनी है और वह सुख भी नष्ट हो जाने वाला है। ऐसे सुखका आदर करना व्यर्थ है। यह चीज मेरी नहीं है। मेरा स्वरूप तो शांत है, शुद्ध ज्ञानमय है, आत्माका लक्षण एक ही तो है। यदि आत्माका हम परिचय पा सकते हैं तो इस रूपसे जाना करें कि यह मैं आत्मा केवल जाननमात्र हूँ। जाननस्वरूपके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं हूं और जाननस्वरूपके अलावा कुछ मेरा है नहीं ऐसी दृढ़ भावना बने तो इस जीवको अपने स्वरूप परिचय मिलेगा।

यह जितना विवाद जीवनमें होता है। भाई-भाईमें भी परस्पर विवाद हो जाता है, ये सब विवाद विषय सुखकी दृष्टिसे होते हैं। विषयोंमें सुख माना तो उस सुखकी पूर्ति परिग्रहसे हुआ करती है। जब परिग्रहमें दृष्टि फंसी तो परिग्रह तो अपने आधीन है नहीं। परवस्तु है उस परवस्तुके पीछे अनेक प्रकारके विवाद हो जाते हैं। प्रीति, वात्सल्य, दया सब कुछ हृदयसे विदा हो जाते हैं। एक परिग्रहकी तृष्णामें फँसे तो इस आत्माको क्लेश ही हैं। मैं आत्मा तो केवल ज्ञानस्वरूप हूं मेरा तो मेरे ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि इसे ऐसा बोध हो तो आकुलताएँ नहीं होतीं।

कितना अज्ञान इन जीवोंके छाया है कि इनको अपने मार्गका पता ही नहीं पड़ता। मैं कुछ परमार्थभूत सत् हूं इसका उसे अन्दाज ही नहीं होता। जो शरीर मिला है उस शरीरको यह आत्मा सर्वस्व समझता है। जब इस शरीरको ही मान लिया कि यह मैं आत्मा हूं तो दूसरोंके शरीरको मान लिया कि यह दूसरी आत्मा है। फिर शरीरके पोषण में विषयोंकी पुष्टि हुई। उनमें यह अपनी रिस्तेदारी मानता है। और इस प्रकार इस जगत्में अपना सम्बन्ध बनाता है और अपना जीवन समाप्त कर देता है। इसके साथ रहता कुछ नहीं।

भाई इस सुख और दुःखसे संसारमें बंधन होकर इन दोनोंमें ही प्रीति न करो और सबसे निराले अपने आत्माकी उपासना यही है कि अपनेको सबसे न्यारा मानते रहो। मैं सबसे पृथक् हूं, ज्ञानमात्र हूँ यह भावना जितनी दृढ़ बन गयी उतना ज्ञान बढ़ेगा, कर्मोंका क्षय होगा, आनन्द और सत्य शांतिका मार्ग मिलेगा।

धर्म करनेके लिए प्रधान बात यह है कि अपनेको सबसे निराला समझो, किसीमें मेरा सम्बन्ध नहीं है। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा अकेला ही जन्मता हूँ, अकेला ही मरता हूँ, अकेला ही सुख दुःख भोगता हूं, इसके साथ किसी भी रंच सम्बन्ध नहीं है। यदि अपने आपको विरक्त देख लो तो गृहस्थीमें रहकर भी आप धर्मका पालन करते हैं। यदि परिवार, पुत्र आदिमें यह मेरा है, ऐसी ममता बनी हुई है तो आप धर्मके नामपर चाहे कितना ही श्रम कर डालें बड़े-बड़े विधान, पूजन, यज्ञ आदि कितने ही कर डालें, पर ममता तो जब तक हृदयसे न उतरेगी तब तक धर्म न मिलेगा। धर्म तो आत्माका निर्मल परिणाम है। जहाँ राग न हो, द्वेष न हो, क्षोभ न हो, जहाँ शांत ज्ञानानन्दमय आत्माका जो परिणाम है उसको कहते हैं धर्म। जिसके ममताका रंग चढ़ा हुआ है ऐसे हृदयमें धर्मका निवास हो जाये यह बात त्रिकाल असम्भव है। धर्म करनेका तो सबसे बड़ा काम है कि ममताको छोड़ो। घर छोड़नेकी बात नहीं कही जा रही है, किन्तु ममता छोड़ो। ममता छोड़नेका उपाय शुद्ध ज्ञान है। यदि सम्यग्ज्ञान है तो ममता छूट सकती है। इसलिए धर्मपालनके लिए पहिला काम है कि ज्ञानका अर्जन करो।

नृस्त्र्योः रूपे कुरूपेवा को भेदोऽशुचिता समा।
आकुल्यकारणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२७॥

इस जीवको सबसे अधिक मोह शरीरका है। कितनी ही धर्मचर्चा हो जाय, तपस्या हो जाय, अनेक भेदविज्ञानोंकी बातें कर डाली जायें, जब भी बुखार होता है, सिर दर्द होता है तो सब भूलकर अपने शरीरकी ओर ही दृष्टि देते हैं।

कोई भी बुढ़िया हो, बहुत बूढ़ी हो और रोज-रोज भगवानसे यह प्रार्थना करे कि हे भगवान् ! मुझे उठा ले। मेरा मरण हो जाय, ऐसी सुबह शाम भगवानसे विनती करने वाली डुकरिया भी जब पासमें उसके साँप दिख जाता है तो वह चिल्ला करके अपने पोतों को पुकारती है कि बेटा दौड़ो, मुझे साँप खानेके लिए आया है और यदि वे पोते कह दें कि दादी तू तो रोज-रोज सुबह शाम भगवानसे प्रार्थना करती थी कि मुझे उठा ले तो तेरी बातोंको भगवानने सुन लिया है, वह तुझे उठाने आया है। वह बुढ़िया शरीरके मोह से अपनी जान बचाना चाहती है। इतना विकट मोह होता है।

इस शरीरकी जरा कथा भी तो देखो। चाहे मनुष्यका शरीर सो, स्त्रीका शरीर हो, सुन्दर रंगका शरीर हो, कुरूप शरीर हो सब शरीर आखिर हड्डी है, माँस, मज्जा, खून, मल मूत्र आदिसे भरा हुआ है। इस शरीरमें भीतरसे बाहर तक सर्वत्र देख तो लो कि इसके अन्दर सारी चीज क्या है ? यह शरीर हड्डी, माँसका पिंजरा है, चामकी चादरसे मढ़ा है। यदि यह चामकी चादर इस पर न हो तो कौवे, चील इसको अब तक बचने देते क्या ? न बचने देते। ऐसा यह अपवित्र शरीर है। इसमें सर्वत्र अपवित्रता ही समायी हुई है।

इस जीवको सबसे अधिक पराधीनताका अवसर आता है तो वह इस मनुष्यदेहके रूपमें रहनेमें आता है। पर इस रूपको अपवित्रता तो देखो। सर्वत्र वही अपवित्रता है। एक बार राजकुमारने घूमते हुए एक सेठकी लड़कीको देखा और उसके पास संदेश भेजा, लड़की थी चतुर, सोचा राजकुमार है अधिक हठी बातोंमें पार न पड़ेगा। १५ दिनका अवसर दे दिया कि १५ दिनके बाद आना। १५ दिनमें क्या किया कि खूब जुलाब और दस्त होते हैं ना ? दवा खूब की। १५ दिन तक दस्त करके उसने एक घड़ेमें दस्त बन्द कर दिया। घड़ा भर गया। उस घड़ेको अच्छी तरहसे ढक दिया। अब १५ दिनके दस्तोंके बाद रूप तो बिल्कुल फीका हो ही गया। सो उसका रूप ही बदल गया, हड्डियाँ निकल आयी, भूत जैसा शरीर लगने लगा। राजकुमार आया और हालत देखी तो आश्चर्यमें आ गया कि यह क्या ? १५ दिन पहले तो क्या देखा था ? अब तो यहाँ कुछ भी सुन्दर नहीं और डरावना शरीर भी हो गया। कुछ भी मत सोचो लड़की कहती है कि कि आश्चर्य मत करो, सुन्दरता तो अब भी रखी हुई है। तुम्हें सुन्दरतासे प्रेम था ना ? आवो हम तुम्हें सुन्दरता दिखावें। घड़ेके पास ले गयी। घड़ेका मुख खोला। उसने कहा— सूँघो इसको। यह है हमारी सुन्दरता। अपवित्रता जो धातुवें भरी हुई हैं उनका ही दिखावा है, वही सुन्दरता है। अरे शरीर तो शरीर है, मिट जाने वाली चीज है। हमारा इसमें तत्त्व

नहीं है। इसको तो जितना ही काममें लगाओ उतना ही अच्छा है। यदि इस शरीरको ही माना कि मैं हूं और उसमें ही मोह बसाये रहे तो धर्म कैसे कहा जायेगा, बतलाओ? फिर भगवान्के दर्शन करके लाभ ही क्या पाया? रात दिन यह किया कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह लड़का मेरा है, यह सब कुछ मेरा है ऐसा संस्कार ही समाया रहा तो प्रभुके दर्शन क्या किये और धर्मका क्या काम किया?

गृहस्थीकी तो शोभा हैं कि वह सही जानता रहे और इन आरम्भ परिग्रहकी बातों में रहनेका पछतावा बना रहे। गृहस्थी तो वह है कि सच्चा ज्ञान भी जग रहा हो और और परिग्रहके संगममें आनेका पछतावा भी हो रहा हो। इन दो बातोंका अपने-अपने हृदयमें परिचय तो करो कि इसमें ये दो बातें कितनी हैं? ज्ञान कितना जग गया है और घरमें रहनेसे पछतावा कितना आ रहा है? इतना बड़ा गाँव है। दस पाँच ही ऐसे निकलेंगे कि जिनको घरमें रहनेका पछतावा हो रहा होगा। गृहस्थ है वही कि जहाँ ज्ञान और वैराग्यका सम्बन्ध होता है।

ज्ञानी सब जीवोंके यथार्थस्वरूपका भान कर रहा है। उसकी दृष्टिमें पाप तो घृणाके योग्य हो सकता है, पर आत्मा या जीवद्रव्य उसके घृणाके योग्य नहीं हैं, क्योंकि वह ज्ञानी सर्वत्र निरख रहा है कि जीवस्वरूप तो सर्वत्र समान है। उसमें किसीका किसीसे कुछ भी अन्तर नहीं है। ऐसी विशद निर्मल स्वभावदृष्टि जिन ज्ञानी पुरुषोंमें होती है, ऐसे वे गृहस्थ हों तो भी उन गृहस्थोंका बहुत आदर्श आचरण होता है। विजय है पुरुषोंकी तो आचरणसे है। ये लोग आदर के पात्र हो सकते हैं तो अपने आपसे हो सकते हैं। धन वैभव कितना ही हो यदि आचरण मलीन है तो प्रजाजनोंके द्वारा वह सन्मान योग्य नहीं हो सकता है। सेवासे और आचरणसे आजके समयमें बहुत बड़ा स्थान प्राप्त किया जा सकता है।

भैया! प्रभुकी भक्ति करते हुए अथवा जब-जब प्रभुकी याद आये या किसी धार्मिक कार्यमें लगें तो अन्तरमें यह ध्वनि उत्पन्न होनी चाहिए कि हे प्रभो! मोह ही एक महान संकट है और मेरा वह अपूर्व अवसर आये जिससे क्षण मोह न रहे, यही प्रार्थना है। यही धुनि प्रभुभक्तिमें और धर्मकृत्योंमें हमारी होनी चाहिये और अन्तरकी आवाजसे होनी चाहिए। सब कुछ संगम होकर भी इस संगममें यदि आसक्ति नहीं होगी तो अनाकुलता पाई जा सकेगी। संगममें आसक्ति हो तो इसका फल सीधा आकुलता है। यह नहीं होगा कि भाई हम उत्तम कुलमें पैदा हुए हैं तो हमारे ऊपर विपत्ति नहीं आनी चाहिए।

भैया! अपने आपकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी समझो और अपनेमें गुप्त रहकर अपनेमें

बसे हुए शुद्ध परमात्माके दर्शन करके, अनुभव करके कर्मोंका क्षय करो, मोक्षमार्गमें आगे बढ़ो। यह काम यदि अपने अन्तरमें कर सके तो वह अपने लिए बड़ी लाभकी बात होगी।

प्रभुकी भक्तिमें अपनी और प्रभुकी समानता देखी जाती है और वर्तमानका अन्तर देखा जाता है और जिस उपायसे प्रभु हम जैसी निम्न अवस्थाओंमें उठकर प्रभु बन गये हैं, उस मार्गका अनुसरण किया जाता है। यही एक अपनेसे सम्बन्धित मार्ग है, बाकी तो यहाँ जो कुछ होता है सब जिस-जिसके उपयोगसे लगे उस उसके भाग्यसे वह उपार्जित होता है। जो होता है होने दो, किन्तु आप तो आत्महितका संकल्प करो, एक महान उद्देश्य बनाओ। ऐसा उद्देश्य बनाओ कि इन विकल्पोंकी तरंगें शांत हो जाएँ और जाननमात्र वृत्तिका रसपान किया करें। एक ऐसी अन्तरमें धुनि होनी चाहिये बाकी तो सब बातें जानते हैं, अधर्मसे बचनेका यत्न करते हैं और बचाये बचाये भी फंसते रहते हैं। उन्होंने क्या मार्ग नहीं सोचा, उन्होंने क्या उपदेश नहीं ढूंढ़ा, मार्ग तो उन्होंने सोचा, किन्तु अन्तर धुनके बिना अब तक नहीं पाया।

यथार्थ अहिंसाका मूल है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपका श्रद्धान हो, अपने आत्माके ज्ञानका अनुभव हो और रागरहित वृत्तिमें रहकर ज्ञानानन्दका स्वाद लिए रहना, यही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रमें रहना है। इसका मुख्य ध्येय बनालो और अपने जीवनमें ऐसी क्राँति लावो। ये सबकुछ संसारके कार्य विकल्पोंके लिए होते हैं। मेरा करनेका काम तो एक आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मआचरण ही है। जो स्वाध्यायके द्वारा, पढ़नेके द्वारा जिस तरहसे ज्ञानका विकास हो वही एक करने योग्य काम है, तो इसकी ही धुनि बनाओ और तो सब बातें होती हैं पर फल करनेसे मिलता है। जाननेको सब जानते हैं, पर जो उस मार्गपर चलेगा विजय वही पायेगा। सब जानते हैं कि कषाय करना ठीक नहीं, पर कषाय उत्पन्न न हो इसका साधन अनन्तज्ञान है। दूसरा साधन नहीं है। ऐसे उपायसे अपने आत्मज्ञानकी वृद्धि करो और बड़ा शांत वातावरण रखो। वचन व्यवहार अपना ऐसा प्रेमयुक्त रखो कि चाहे कोई कितना ही कड़ुवा बोलता हो। बोलता है तो उसकी परिणति है। तुम कड़ुवा बोलने वालेपर विजय प्राप्त कर सकते हो। ऐसा अपने आपेमें गौरव होना चाहिये। कड़ुवा बोलने वाले पर अपनी विजय प्राप्त हो सकती है मधुकर और हितकर वचन बोलनेके द्वारा। घरमें लड़ाइयाँ क्यों बढ़ जाती हैं? इसने ऐसा कहा, इसने चार कहा। यह नहीं होता कि यह जगत् तो असार है, यहाँ दूसरों पर क्या बगरना है? ये तो रीते हैं। कैसा भी व्यवहार किसीका हो, पर अपना व्यवहार मधुर होना चाहिये। देखो अभी कोई आपत्ति नहीं आ सकती है। ऐसे शांत वाता-

वरणकी बनाकर अपने आपमें अपने आत्मधर्मकी साधना बनाये रहे तो धर्म होगा और नरजीवन अवश्य सफल होगा ।

संपद्विपत्सु को भेदः क्षोभजाडयकरीषु वै ।
शान्ते ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२८॥

क्षोभ और जड़ता (किंकर्तव्यविमूढ़ता) को उत्पन्न करने वाली होनेसे संपत्ति और विपत्तियोंमें अन्तर क्या है ? इसलिए मैं तो शांत ज्ञानमय (संपत्ति विपत्तिके केवल ज्ञाता रूप) अपनेमें आत्मार्थ अपने आप सुखी होऊँ ।

संपदा पाकर क्षोभ होता है और विपदा पाकर जड़ता होती है अथवा दोनों बातें दोनोंमें होती हैं । संपदाके आश्रय होने वाली तरंग तथा विपदाके आश्रय होने वालों तरगे दोनों ही समान हैं अहित है, अज्ञानमय भाव हैं । आत्माके अनादि अनंत अभिन्न अखण्ड विशुद्ध चैतन्यभावको देखो तब सहज ही प्रतीत हो जाता है कि विपदा संपदा दोनों अहित परभाव हैं । उनमें संपदाको इष्ट समझने वाला घोर अज्ञानी दयापात्र है । विपदाको अनिष्ट समझने वाला भी अधोर अज्ञानी है ज्ञानीकी दृष्टिमें अन्तरंग संपदा विपदा अज्ञानमय होनेके कारण व बाह्य संपदा विपदा पौद्गलिक होनेके कारण दोनों समान हैं उन पर ज्ञानीका लक्ष्य नहीं । मैं भी स्वतः सिद्ध स्वयं सम्पन्न अत्यन्त निरापन्न चैतन्य ब्रह्म हूँ यही मेरी अनादि निधन अभिन्न पवित्र सहज संपदा है अतः निज निधनमें विश्राम कर सहज ही निराकुल होऊँ ।

सेवासेवे समे चेष्टे कषायस्याघपुण्ययोः ।
फले ज्ञप्तिस्तु तत्त्वं मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२९॥

उपकार और अनुपकार ये दोनों कषायकी चेष्टायें और पापपुण्यके फल समान ही तो हैं मेरा तत्त्व ज्ञप्तिरूप अवस्था ही हैं इसलिए ज्ञानक्रियामय अपनेमें आत्मार्थ स्वयं सुखी होऊँ ।

एक निज चैतन्यभावका उपयोग ही मंगल सार शरण तत्त्व है उसके अवलोकन बिना कितने ही जीवोंकी परके कार्य करनेकी बुद्धि होती है वह लौकिक जनोंकी दृष्टिमें महत्त्वपूर्ण कार्य है तथापि परोपकारकर्ताके उपयोगमें पर विषयता भ्रांति (स्वच्युति) होनेसे वह बंधनरूप ही है इसी तरह परका अपकार भी परविषयता भ्रांति होनेके बंधनरूप ही है। दोनों भाव कषायकी ही चेष्टायें हैं । ज्ञानी जीवके जो निज परमात्मातत्वका लक्ष्य रहता है फिर भी जब तक व्यवहारमें है उसके निमित्तसे परका उपकार स्वयं होता रहता है परका उपकार करता हूँ आदिकी उसे श्रद्धा नहीं । मात्र निजचैतन्यतत्त्वकी व उसके साधनफलोंकी श्रद्धा है । इसी तरह पाप व पुण्यकर्म दोनोंके फल भी कषायकी चेष्टा ही

तो हैं सो वे भी समान हैं। मैं तो सेवा असेवा पापपुण्य पापफल पुण्यफल शुभविकार अशुभविकार सभी परभावोंसे रहित ज्ञप्तिमात्र तत्त्व हूँ जो कि समतापूर्ण है बस उसीमें रत होकर अपनेमें अपने आप सहज सुखी होऊँ।

सर्वेऽनंतगुणोपेता न स्तुतौ पूर्णवर्णनम् ।
किं कं कथं स्तुयां तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३०॥

सब जीव अनंतगुण सहित हैं स्तुतिमें किसीका पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता है फिर किसीकी क्या कैसे स्तुति करूँ ? इसलिए मैं ही तो अब उस परिश्रमको छोड़कर अपनेमें अपने अर्थ अपने आप सुखी होऊँ।

जीव एक चेतन द्रव्य है अतः वह अनाद्यनंत अखण्ड सत् है, अखण्ड होने पर भी बहुप्रदेशी है प्रत्येक प्रदेशमें वही अनंतगुण हैं, एक एक गुणके व्यापी होनेसे प्रत्येक ही अनंतगुण पर्याय होते हैं उन गुणोंके अनंत गुणांश अविभागप्रतिच्छेद (विकारियों) हैं सब का स्वकीय अनंतविषय है। इस प्रकारके अनेक विलासों सहित निज प्रदेश गुण पर्यायों में एकत्वरूपसे रहने वाले अनंते जीव अनंत गुणों सहित हैं कोई स्तुति ही क्या कर सकेगा स्तुतिमें पूरा तो क्या कुछ भाग भी वर्णनमें आ नहीं सकता। फिर मैं किसीकी स्तुति ही क्या कर सकता हूं ? हाँ उस सारतत्त्वको मैं लक्ष्य ध्यानमें ला सकता हूं, तब प्रशंसावोंके लिए व्यर्थ परिश्रम बनानेसे कुछ लाभ नहीं निकलता, अतः मैं तो उस सामान्य पारिणामिक कारण परमात्मतत्व जो कि सबमें मुझमें समान विराजमान है उसके लक्ष्य रूप भाव स्तुति करके अपनेमें अपने आप सहजानन्दमय होऊँ।

प्रयोजनं मे मत्तोऽन्यत्तत्सिद्धिर्न चान्यतः ।
किं कं कथं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३१॥

मेरा प्रयोजन मुझसे अन्य और कुछ नहीं है और उस प्रयोजनकी सिद्धि भी अन्य से नहीं है फिर किसकी क्या कैसे स्तुति करूँ ? इसलिए मैं तो अब उस परिश्रमको छोड़कर अपनेमें ही रहकर अपने अर्थ स्वयं सुखी होऊँ।

मेरा परिणाम ही मेरा प्रयोजन है कि अन्य पदार्थ की परिणतिमें मेरी प्रयोजकता हो ही नहीं सकती उसमें भी हितरूप प्रयोजन निरुपाधि स्वाभाविक परिणमन है क्योंकि वहाँ न कोई विकल्प है न क्लेश है। उस प्रयोजनकी सिद्धि मेरेमें मेरेसे ही है अन्यसे नहीं है क्योंकि वह प्रयोजन परिणाम केवल मुझरूप है। उसकी सिद्धि अन्यसे नहीं फिर किसकी कैसे स्तुति करूँ ? लौकमें स्तुति किसी लौकिक प्रयोजनके लिए की जाती सो एक तो उसकी भी सिद्धि अन्यसे निश्चयसे नहीं है और फिर दूसरे वह प्रयोजन भी तो मेरे विचार

में नहीं है। फिर यहाँ आशंका होती है कि गुरुस्तुति आदि तो ज्ञानी भी करते हैं उसका समाधान यह है कि वह स्तुति निजगुणके प्रसादसे व्यक्त हुए ज्ञायकभावके अनुरागमय भाव हैं। सो ऐसी स्तुति तो प्रायः लोकमें होती नहीं हैं और हो तो वह निज स्तुति ही है उत्तम है उसका सविकल्पावस्थामें निषेध नहीं है। अतः मैं सर्व बाह्य विकल्परूप परिश्रमको छोड़कर अपनेमें अपने आप अपने अर्थ सुखी होऊँ।

तेषामौपाधिका भावा आसन्ये सन्ति निमलाः।
किं कं कथं च निन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३२॥

वर्तमानमें यद्यपि सिद्ध आत्मा शुद्ध हैं परन्तु उन सिद्ध आत्मावोंके भी औपाधिक विकारभाव पहिले था फिर मैं किसकी क्या और कैसे निन्दा करूँ इसलिए निन्दाके खेद को दूर करनेमें अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

लोक पर्यायको ही जब सर्वतत्वभूत समझता है तब उसके निंदाकी प्रवृत्ति होने लगती है। परन्तु विचारो तो सही जो आज शुद्ध सिद्ध हैं उन आत्मावोंके भी तो मुक्ति व रत्नत्रय विशुद्धिसे पहिले विषयकषायके विकार तो थे ही यदि किसी पर्यायको लेकर निंदा निर्णीत करली जावे तो सभी सदाको निन्द्य हो जावेंगे। अतः द्रव्यदृष्टिकर पर्याय तो क्षणिक औपाधिक है आत्मतत्त्वको देख मैं किसकी कैसे निंदा करूँ ? पर्याय तो बाह्य स्वरूप है द्रव्य अनिन्द्य है अतः निंदा करनेके व्यर्थके विकल्पको छोड़कर निंदा करनेके परिणाम के मालिन्य व परिश्रमसे मुक्त होकर अनिंद्य कालिक चैतन्यभावके लक्ष्यसे अपनेमें अपने अर्थ अपने आप सहज सुखी होऊँ।

नैर्मल्यं नान्यनिन्दातो मालिन्यं शल्यमेव च।
किं कं कथं च निन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३३॥

अन्य पुरुषोंकी निंदा करके निर्मलता नहीं आती है। प्रत्युत मलीनता ही होती है, शल्य ही होता है। फिर मैं किसकी निंदा करूँ ? निंदा करने वाला मोहवश समझता है कि मैं कुछ अपनो बड़ाईका काम करता हूँ, पर निंदासे उसको कितनी हानि हो रही है और लोकमें भी कितनी हानि है, इसका वह ख्याल नहीं करता। कोई पुरुष दूसरेकी निंदा करता है तो अभिमानके कारण करता। अपनेमें अभिमान उत्पन्न होता है तो दूसरों की निंदाकी चेष्टा बन जाती है। मैं बड़ा हूँ, अमुक छोटे हैं इस प्रकारके भाव आये बिना निन्दा नहीं कर सकता है। जो लोग छोटी गृहस्थावस्थामें रहकर भी बड़े-बड़े साधुजनों की निंदा करते हैं तो उनके चित्तमें यह ध्यान है, यद्यपि वे जानते हैं कि मैं गृहस्थ हूं, मेरा साधारण पद है, लेकिन वे यह भी समझ रहे हैं कि मैं अपने साधारण पदमें रहकर

भी उत्कृष्ट काम कर रहा हूँ और साधु जन खोटे हैं। बड़ोंकी निन्दा जब तक नहीं हो पाती है जब तक अपनेमें अभिमानका उदय न हो। उस निंदासे तत्त्व कुछ नहीं निकलता। एक तो अपना उपयोग भ्रष्ट किया और निंदा करनेके फलमें पड़ौसियोंने अपनी निगाहसे उतार दिया। सो निंदासे केवल मलिनता बढ़ती है, शल्य ही होता है। दूसरोंकी निंदा करनेके बाद एक मलिनता बढ़ती है, शल्य ही होता है। दूसरोंकी निंदा करनेके बाद एक पछतावा आता है कि मैंने व्यर्थ ऐसे वचन निकाले। लोगोंके बीच हमने तुच्छता ही जाहिर की····ऐसा विचार कर उनको एक पछतावा भी होता है, शल्य भी हो जाता है।

जो निन्दा नहीं करता तो आप उसे बड़े प्रेमसे देखते हैं, वह सभीके आदरके लायक है। जितने भी संकट हैं वे सब संकट अपने वचनोंकी पद्धतिके कारण हैं। जीव तो कोई किसीका शत्रु नहीं है। जीव सब एकस्वरूप है, पर यह जो ऐसा अनुभव होता है कि यह मेरे विरूद्ध है या इसकी नजर हमपर ठीक नहीं है तो उसके कारण खुदका ही अपराध ढूंढ़ना चाहिए। अपने अपराध बिना अपनेको क्लेश नहीं होता। ये बातें सब जानते हैं। यह वचनोंका उपक्रम ही हमारी शांति और अशांतिका कारण बनता है। विवेकी पुरुष जो होते हैं वे अपने आपमें ऐसा निर्णय रखते हैं कि भाई बोलनेकी ही तो बात है। जरा भला बोल लिया तो उस भला बोलनेसे सब समयके लिए आराम मिल गया, शांति प्राप्त हो गयी, किन्तु जब अभिमानका उदय होता है, अपनेको बड़ा माननेका भूत सवार हो जाता है तो वचन सुन्दर नहीं निकल सकते। अभिमानी पुरुष कड़ुवाही बोलेगा। अभिमान कहो या कठोरता कहो एक ही बात है। जब अभिमान नहीं रहता है तो वहाँ मार्दव प्रेम हो जाता है। मार्दव कहो या कोमलता कहो, एक ही बात है। जब तक उपयोग विनयपूर्ण रहता है तब तक इसको बड़ा आराम मिलता है, शांति और निराकुलता प्राप्त होती है। जिसके हृदयमें अन्याय और मुखसे जब दुर्वचन निकलने लगे तो वहाँ बेचैनी अपने आप आ जायेगी। किसी मनुष्यके बुरा बोलनेका परिणाम या निंदा करनेका परिणाम भयंकर ही है। उस दुर्व्यवहारसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती है। इसलिए मैं परकी निन्दा त्यागकर, परसे दुर्वचन बोलना त्यागकर अपनेमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपको निरखूँ और उसमें ही लीन होकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

प्रशंसकेन दत्तं किं क्षोभं कृत्वा पलायितः।
किं हितं तेन किं रोचै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३४॥

जैसे किसीकी निंदा करनेसे हमें लाभ नहीं है और दूसरोंके द्वारा निंदा भरी बातें सुनकर अपनेमें अज्ञान विकार उत्पन्न कर लेनेमें लाभ नहीं है, इसी प्रकार प्रशंसा केसम्बन्धमें

भी कह रहे हैं कि प्रशंसासे अपनेको लाभ क्या मिलता है ? प्रशंसकने यदि प्रशंसा कर दिया उस की एवजमें उसे प्राप्त हुआ क्या ? वह अपनेमें क्षोभ मचा करके भाग गया। प्रशंसा की दो चार बातें सुनीं तो आपको एक क्षोभ उत्पन्न हो [illegible] और प्रशंसा करने वालेने किसी प्रकारसे सुखी कर दिया। किसी प्रकार उसको उत्थान दे ऐसा उसके चित्त में श्रम करनेका भाव आ जाता है। प्रशंसा करने वालेसे इसको लाभ नहीं मिला, बल्कि क्षोभ ही इसको प्राप्त हुआ। क्षोभ करके यह अपने स्थानपर आ गया और प्रशंसा सुनने वाला जीव अपने आपमें अनेक प्रकारके विकल्प मचाकर दुःखी होने लगा। मोही प्राणी ही अपनी प्रशंसा सुनकर अपनेमें सुखका अनुभव करता है। तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो प्रशंसकसे अपनी हानि होती है। यदि प्रशंसक न होते तो इसकी बहिर्मुखता करनेका अवसर न मिलता। अपने आपमें बसे हुए आत्मदेवके ध्यानमें इसका उसका उपयोग जमता। वह तो क्षोभका निमित्त बनाकर भाग गया, उससे लाभ कुछ नहीं होता। मेरा लाभ तो मेरे स्वाभाविक निरुपाधि चैतन्यस्वभावके उपयोगमें है। इन सब पर्यायोंमें जो कि विपरीत भी हो रही है, जिनका निषेध किया जाने योग्य है उन पर्यायोंमें भी यह अनन्तानन्त नित्यप्रकाशमान मेरा चैतन्यप्रभु विराजमान है, उसकी दृष्टि करूँ और सर्वविडम्बनाओंसे दूर होकर मैं अपनेमें अपने समता रसका स्वाद लूँ। जगत-व्यवहारमें जो संकट हैं वे प्रशंसाके संकट हैं। प्रायः प्रत्येक मानव प्रशंसा सुनने का लोभी है और प्रशंसा सुननेका भिखारी बन रहा है। परसे आशाकी जा रही है। इनका राग मिटाना यद्यपि बहुत कठिन चीज है, लेकिन शांति यदि पानेकी अभिलाषा है तो इस रागको समूल नष्ट करना होगा। किसी भी प्रकारकी प्रशंसाकी रुचि न करनी होगी। सबसे दूर अपनेमें विराजमान परमात्मदेवकी उपासना करनी चाहिये। जिस प्रशंसकने मुझे कुछ देना नहीं तो उससे प्रीति करना व्यर्थ है इस प्रकार निन्दकने मेरा कुछ छीना नहीं, इसलिए निन्दकसे ग्लानि करना, निन्दकको संगमें लेकर अपने आपमें शौक करना भी व्यर्थकी बात है इसी बातको अब कहते हैं।

निन्दकेन हृतं किं मे दोषमुक्त्वा स्थिरीकृतः।
का क्षतिस्तेन किं शोचै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३५॥

निन्दा करने वालेने हर क्या लिया ? वह तो मेरे दोष कहकर मुझे स्थिर और सावधान कर गया है। अपना व्यवहार अयोग्य है तो दूसरे भी हमसे विमुख हो जाते हैं। अपना व्यवहार योग्य है तो दूसरे अपनी ओर आकृष्ट होते हैं। इस कारण विरुद्ध परिस्थितिमें अपने ही अपराधकी खोज करना चाहिये। यद्यपि जैसे अपना अपराध अपनेसे होता है दूसरे पुरुषोंमें भी अपराध हो जाता है। दूसरे अपराध मेरे लिए पीछे करते हैं,

किन्तु अपराध मैं पहिले करता हूं। मौलिक आपदा वही है। हम यदि अशांतिका अनुभव करते हैं, जिसकी वजहसे जगतके दूसरोंका भी उपयोग मेरे विरुद्ध हो गया है। निन्दकने हरा क्या ? निंदा करने वाला यही तो कहेगा कि यह ऐसा बुरा है। तो यदि बुरा है तो बुराई हटाना चाहिए, निंदा करने वालेसे यह अर्थ निकालना चाहिए कि हमको यह सावधानीका उपदेश दे रहा है, हमारे भविष्यमें कोई बुराई न आ जाये। हर प्रकारसे निंदक के द्वारा अपना भला ही हो सकता है, बल्कि प्रशंसकके द्वारा अपनी बुराई हो सकती है, क्योंकि प्रशंसकके संगमें सावधानी बर्तनेका उपयोग नहीं रहता, किन्तु निंदकके संगमें अपनी सावधानी बर्तनेका प्रयत्न रहता है, इसलिए निंदकने हरा कुछ नहीं। वह निंदक तो मुझे स्थिर कर गया है। मैं क्यों शोक करूँ ? मेरा हित तो मेरे स्वाभाविक इस चैतन्यस्वभाव के बर्तनेसे है जो सब क्लेशोंमें भी सर्व अवस्थाओंमें भी अन्वय रूपसे रह रहा है, कभी मुझे दिखता नहीं है, ऐसा अपने आपमें गुप्त विराजमान ज्ञानस्वभावकी दृष्टि वाले और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होवें।

ज्ञप्तिक्रियस्य मे वृत्तौ निवृत्तौ चाग्रहः कुतः।
यत्कर्तुमपि चायातु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३६॥

कहते हैं जानना ही एक क्रिया है। ऐसे मुझ आत्मामें किसी कार्यकी प्रवृत्तिसे क्यों आग्रह हो और किसी बातकी निवृत्तिका क्यों आग्रह हो ? जो करनेमें आ रहा हो आवे मैं तो अपने शुद्ध ज्ञानकी वर्तनाको ही संभालूं। मैं ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य करनेमें समर्थ नहीं हूँ। क्योंकि मैं ज्ञानस्वरूप हूं और ज्ञानकी वृत्तिमें ही रहा करूँ, ऐसा मेरा कार्य है। सो मैं ज्ञान वर्तनाके द्वारा ही अपनेको पवित्र बनाये रहूँ। किन्हीं बाह्य भावोंमें प्रवृत्ति करनेका मेरा स्वभाव नहीं है और किसी बाह्यपदार्थसे निवृत्ति करनेका मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अपने स्वरूपास्तित्वमें हूं। सो स्वयं ही बाह्यपदार्थोंसे निवृत्ति हो। अब और निवृत्ति क्या होना चाहिये ? मेरा किसी पदार्थमें प्रवेश ही नहीं, किसीमें लगा हुआ नहीं हूँ। लगकर हटना है। केवल विकल्प किसी पदार्थमें लगानेका बनाया था सो उन विकल्पोंको ही हटाना है। वे विकल्प ज्ञानभावके द्वारा ही हटाना है। इसलिए मेरी किसी भी प्रवृत्तिमें या निवृत्तिमें कुछ हठ न हो, मैं तो स्वभावसे ज्ञानमात्र हूं, निस्तरंग हूं, सो अपने ही इस शुद्ध ज्ञानस्वभावको ही निरखकर सर्वविकल्पोंका मैं परित्याग करूँ। बड़ा कष्ट है इस जीव पर कि यह अपने स्वभावका आश्रय छोड़कर बाह्य पदार्थोंकी ओर संलग्न रहता है सो इन करनेकी विषमताओं को त्यागकर मैं अपने ज्ञानरूप से ही रहूं।

यह ज्ञान कैसा है ? केवल जाननमात्र है। केवल जाननमात्र मेरी वृत्ति रहे, इस प्रकारके जाननका ही जो यत्न है बस यह यत्न हमारे हितका साधन है। सो हम यह मानें कि मैं अज्ञानसे दूर होऊँ, ज्ञानवृत्तिमें रहूँ और सब संकटोंसे मुक्त होऊँ।

मानापमानता मोहे पर्यायस्य न चान्यथा।
तद्विविक्तस्य न क्षोभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३७॥

इस मनुष्यको सबसे बड़ा दुःख है तो मान अपमानका दुःख है। जितने विवाद और झगड़े चलते हैं उनका कारण मान और अपमान है। मान और अपमान तो जानते होंगे ? किसीने गाली दे दी या बुरी तरहसे बोल दिया हो यह समझने लगे कि हमारा अपमान कर रहा है। सो इस जीवको यह राग बहुत लगा है जिसके मारे यह परेशान है। घरके बच्चोंने व बहूने बात न मानी न मानने का उतना दुःख नहीं है जितना कि यह दुःख है कि मेरा अपमान कर दिया। हमारी बात नहीं रही। सो घर-घरमें, देश-देशमें इस जीव को बड़े संकट हैं। पर यह तो बताओ कि दुनिया अगर तुम्हारा बुरा करती है, अपमान करती है तो तुम्हारी आत्माका क्या करता है ? या इस ढाँचेका क्या अपमान करती है ? पहिले यह बतलाओ। तुम्हारा जो जीव है, इस शरीरके अन्दरमें उस जीवको कौन जानता है ? उसके शक्ल नहीं, सूरत नहीं तो दूसरोंकी दृष्टि नहीं। आपके जीवको तो कोई जानते नहीं। जो शरीर लगा है यही हाथ, पैर, नाक, कानका इसको ही दुनिया समझती है कि यह फलां है। जीवको नहीं जानते। यदि कोई गाली देगा तो शरीरको गाली देगा। जीवको तो जानता ही नहीं, क्योंकि तुम्हारे जीव तक दूसरोंकी पहुंच नहीं और जिसकी पहुँच उस जीव तक हो जाये वह ज्ञानी हो जाये। मान अपमानकी जो बुद्धि है शरीरसे होती है। शरीरको माना है कि मैं हूं। इसने मुझे यों किया, ऐसा सोचकर दुःखी होने लगता है। सो मान और अपमान मोहसे ही होता है। मान अपमान पर्यायसे होते हैं। इतना मान अपमान ही दुःखी करता है मेरा मान अपमान कोई नहीं करता। मान अपमान इस ढांचेका होता है। मान अपमान मेरे जीवका नहीं किया जा सकता। सो शरीरमें यह जीव है। शरीरमें ममता है तो शरीर मानता है कि मेरा अपमान है। इस जीवका कोई कुछ नहीं करता पर शरीर सोचता है कि हाय मेरा यह कर दिया। शरीर बहुत संकटोंमें आ जाता है। अभी तुम्हारे घरमें कोई बच्चा बीमार हो जाये तो तुम्हारे भी बुखार चढ़ आता है। बच्चेको बुखार चढ़ता किन्तु मोहवश आप भी दुःखी हो गये। सो ज्ञानका यही फल है कि भीतर बसे हुए अपने भगवान्‌को समझ लो। मान और अपमान लौकिक दुनिया करती है।

उसका सब ख्याल छोड़ दो तो सुखी हो जावोगे। सो जब तक शरीरमें यह बुद्धि है कि यह मैं हूं तब तक समझोगे कि दूसरोंने मान किया और दूसरोंने अपमान किया और जब ज्ञान जगाया कि शरीर अलग चीज है और मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, शरीरसे न्यारा हूं, तो जैसी दूसरोंपर बीतती है उसका क्षोभ मनमें न करो। इस शरीर पर जो कुछ बीते उसका ख्याल न हो, इस शरीरसे अपनेको न्यारा समझो तो बहुतसी बातें अपने आप दूर हो जाती हैं। अभी देखो शरीरमें कितना मोह लगा है तो १० जगह खावो फिर भी भूख लगती है। शरीरकी स्थिति बार-बारके भोजनसे रहती है। शरीरमें मोह लगा है तो पेट भरा है, फिर भी कोई चीज दिख जाये तो जो करता जाता है कि खावें। यह जीव कुछ नहीं कराता। ये सब नटखट शरीर ही कराता है। खाने-पीने व गप्पों सप्पोंमें समय गुजार देते हैं। भगवान्का ख्याल करना, अपना ध्यान करना इसके लिए बुद्धि ही नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि शरीरसे मोह लगा है। सो शरीरसे मोह त्यागो और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

परान् शिक्षैः परैः शिष्ये मोहचेष्टैव नान्यतः।
गुणो ह्यन्येऽविकल्पोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३८॥

जितने जीव हैं उन सबके साथ कर्म लगे हैं और जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल पाता है। करे और, भोगे और ऐसा अन्याय इस दुनियामें नहीं है। जो करेगा सोई भरेगा। पापका काम करोगे तो पापका फल भोगोगे और पुण्यका काम करोगे तो पुण्य का फल भोगोगे। जैसा अपना आचरण करे, विश्वास करे वैसा फल भोगता है। कोई ऐसा नहीं है कि दूसरा मदद कर दे। तुम्हारा अगर पुण्य है तो दूसरे भी तुम्हारी मदद कर देंगे और अगर पुण्य नहीं है तो दूसरा मदद न करेगा। अपना व्यवहार अच्छा बनाओ, दूसरे जीवोंको अपने ही समान समझकर उनमें प्रेमयुक्त वचनोंका व्यवहार करो। किसीको परेशानी न उत्पन्न हो ऐसा अपना व्यवहार रखना यही लौकिक सुखोंका उपाय है और इसीसे परमार्थ सुखका रास्ता मिलता है। कोई जीव किसी दूसरेको न सुखी करता, न दुःखी करता, और न कोई किसी प्रकारकी दुःखकी परिस्थिति बनाता। यहाँ तक कि जैसे हम बोल रहे हैं तो हम तुम्हें नहीं समझा सकते आप लोग तो स्वयं ज्ञानमय हो, समझना होगा तो आप लोग स्वयं ज्ञानसे समझ लेंगे। हम नहीं समझा सकते। हमारा भाव है हम कह रहे हैं, बोल रहे हैं, पर आप लोग समझोगे तो अपने ज्ञानसे स्वयं समझ लोगे। मैं तुम्हें कैसे समझा सकता हूँ ? कोई किसीको समझाता नहीं है। सब अपनेसे समझते हैं। अगर कोई किसीको ज्ञान देने लगे तो मास्टर लोग १०-२०-२५ बच्चोंको

ज्ञान देनेके बाद मास्टर तो ज्ञानसे खाली हो जायेगा, मास्टर खुद ज्ञानसे लुट जायेगा। बच्चे स्वयंअपने आप ज्ञान पैदाकर लेते हैं मास्टर तो निमित्त रहता है। कोई जीव किसी का कुछ नहीं करता, सब अपने ही कर्मोंसे सुख भोगते और अपने ही कर्मोंसे दुःख भोगते हैं। जैसा ज्ञान है तैसा ज्ञान इस आत्माका बर्ताव चलता है। सो इस दुनियाको असार समझो, अशरण जानो और यहाँ यह विश्वास न बनाओ कि हमारे घरके लोग अच्छे हैं, घरके लोग प्रेमी हैं, वे हमारी मदद करते हैं–ऐसा भाव न रखो। आपका उदय अच्छा है तो आपसे बोलने वाले मिलेंगे। और यदि आपका उदय खोटा है तो आप से बोलने वाला भी कोई न मिलेगा। आपको अपनी बहुत बड़ी सावधानी रखना चाहिये। किसीको दुःख पहुँचने का परिणाम न होना चाहिए। एक जीवका दूसरे जीवके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है कि वे समझते हों, दूसरे समझते हों। हम आपको न ज्ञान देते हैं और न आप मुझसे ज्ञान लेते हैं। इतनाभी सम्बन्ध नहीं है। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं सभी जीव आनंदके निधान है। आप अपने आपसे अपने विचार बनाते हो और अपने ज्ञान बनाते रहते हो। इसी तरह आनन्दकी बात है। किसीको कोई आनन्द नहीं देता, कोई किसीको सुख दुःख नहीं देता। खुद कल्पनाएँ करते हैं और सुखी दुःखी होते हैं। कोई किसीका कुछ कर सकने वाला इस लोकमें नहीं है। सो अपनी जिम्मेदारी है कि न्याय नीतिका व्यवहार करो। अगर अन्याय करके, अनीति करके धनसंचय कर लिया तो किस कामका ? अरे न्याय बना रहे, नीति बनी रहे, सच्चाईका व्यवहार बना रहे तो अपने कर्मोंका फल मिलता है। अपनी करतूत पर निर्भर है कि हम सुखी हों, हम अपने भाव बिगाड़ते हैं, अपनी करतूत बिगाड़ते हैं और दूसरे पर दोष देते हैं तो उसका फल अशांति रहेगा, शांति नहीं हो सकती है।

स्वद्रव्यक्षेत्रभावानामाप्तौ भवति शुद्धता।
नान्यभावविकल्पोऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३६॥

देखो जगत्में रुलते-रुलते चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते आज आपने यह मनुष्यभव पाया है। बहुत बार कीड़े-मकोड़े, पेड़, पक्षी आदि बने। आज भी देखो उन नारकी जीवोंकी गतियाँ सुधरी नहीं हैं। पेड़ खड़े हैं, उनके जीभ नहीं है, नाक, कान, आँख आदि नहीं हैं। केवल ढाँचा खड़ा है उनके जिह्वा तक नहीं है और वे कीड़े मकोड़े सुरसरे निकलते हैं इनके जीभ है, नाक कान नहीं। उनका विकास अब रुका है। वे इतनी छोटी पर्यायमें हैं कि उनके नाक, कान, आँख भी नहीं। चींटी चींटा आदिके तो नाक है, पर आँख कान नहीं। मच्छर जो हैं उनके नाक हो गई, पर कान नहीं और कान भी हो

गए, आखें भी हो गयी। भैंस, गाय, मुर्गा, मुर्गी, सुकर आदि हैं तो भी उनसे क्या लाभ? हम आप आखिर मनुष्य हैं, हम आपको ज्ञान मिला है, और इस जगत्के जीवोंको निगाह करके समझ लेते हैं। हम आपको मनुष्य भव मिला है हम आपको मन मिला है, दिमाग मिला है। चाहो तो अच्छा काम कर लो तो संसारसे तिर जायें और चाहो तो विषयोंमें लीन होकर संसारमें घूमते रहें। यह मनुष्य मुक्तिको भी प्राप्त कर सकता है और नरक में भी जा सकता है। तो इतनी बड़ी पदवी पायी है, इतना बड़ा उत्कृष्ट साधन पाया है तो विवेक करना जरूरी है। ऐसा विवेक बने कि अपने द्वारा किसी जीवको किसी प्रकार का संकट न पहुँचे। अहिंसा अपनाकर सब जीवोंको सुखी बनानेकी भावना बनाओ। कोई जीव मेरे द्वारा दुःखी न हो, ऐसी अन्तरमें भावना बनाओ। यही है अहिंसा। सत्यव्यवहार रखो, किसीसे झूठ न बोलो, सच्चाईसे रहोगे तो लोग तुम्हें देवताकी तरह मानेंगे। सब लोग तुम्हें देवता तुल्य मानेंगे। चाहे हजारोंकी चीज पड़ी हो, लाखोंकी चीज पड़ी हो उसे न छुवो, चोरी न करो। यदि उठा लेनेसे वह धन आपके पास आ भी गया तो प्रथम तो धन घरमें रहता नहीं। वह किसी न किसी बहानेसे निकल जायगा। उस धन का आप उपयोग नहीं कर सकते। तो वह चीज भी आपके पास न रही और पापी भी बन गए। यदि वह चीज रहे भी तो इस जीवको लाभ क्या मिला? इसके साथ तो अपना ज्ञान और आनन्द है। बाहरी चीजोंसे मनुष्यको सुख नहीं मिलता। किन्तु सच्चा ज्ञान बने तो सुख मिलता है। धन-वैभव कितना ही हो तो सुख नहीं मिलता। सुख प्राप्त करनेका साधन तो केवल अपनी सद्बुद्धि है।

किसीकी चीजपर निगाह न डालो, चोरी न करो। चौथी बात है कि सब स्त्रियोंपर माँ, बहु, बेटियोंपर बराबर निगाह डालो। सब बराबर हैं। यह शरीर तो एक पिंड है। मनुष्य हुए हैं प्रभुभक्तिके लिए और आत्मध्यानके लिए हुए हैं। सो बुरी दृष्टि न हो। सबको माँ बहिनके तुल्य जानो ५वीं बात है कि परिग्रहकी बात न रखो। संसारकी कोई भी चीज आप अपनी न समझें, क्योंकि किसी दिन हम मर जायेंगे। साथमें क्या ले जायेंगे? अपना तो यह विश्वास हो कि मेरा कुछ नहीं है। द्रव्यके बिना गृहस्थी नहीं चलती है सो रखते हैं, ढंगसे खर्च करते हैं। सब कुछ बातें हैं। पर भीतरमें यह श्रद्धा बनी रहे कि मेरा कुछ नहीं है परमाणु मात्र भी मेरी चीज नहीं है, ऐसी सद्भावना जीवके बने तो आत्माका पोषण होगा। सबसे बड़ी चीज यह है कि अपनी शुद्ध भावना बनानेके लिए कुछ बातें रोज करनी आवश्यक हैं। कोई न कोई धार्मिक ग्रंथ रोज पढ़ो, क्योंकि उन धार्मिक पुस्तकोंसे अपनेको एक प्रेरणा मिलती है। प्रभुकी भक्तिमें कुछ समय बितावो। तीसरी

बात है गि अच्छी संगतिमें बैठो, खोटे पुरुषोंके संगमें न बैठो। हमेशा उत्तम कुलमें बैठो। चौथी बात है कि जो गुणी पुरुष मिलें उनका गुणगान करते रहो। किसीकी निन्दा न करो। यदि अपना जीवन उठाना है, अपनेको सुखी करना है और आत्माका उपकार करना है तो अपनी ऐसी उत्तम तैयारी बनाओ कि हमेशा यह सोचो कि किसीकी निन्दा मुझसे न बने। किसीके प्रति दुर्वचन न निकलें। यह चीज है ५वीं। छटवीं बात है कि सबके प्रिय बने। किसी भी प्रकारका क्षोभ न करके प्रिय वचन बोलो। वचन ही तो है, इस में कौनसी दरिद्रताकी बात है। प्रिय वचन बोलो और सुखी होओ। कथानकमें कहते है कि एक बार दाँत और जीभमें विवाद हो गया। दाँत बोले कि ऐ जीभ ! हम तुझे किसी दिन मरोड़ देंगे। जीभ बोली कि ऐ दाँतों ! भूल जावो, हममें वह कला है कि सब तुड़वा दे। अप्रिय वचन बोलकर लाठी डंडेसे दाँत तुड़वा दें। सातवीं बात है कि अपनी आत्माका ध्यान करो। इस शरीरके भीतर कौनसी चीज ऐसी है जो सुखकी आशा कराती है और दुःखसे दूर कराती है। ऐसा तो अपनी आत्मा है उस आत्माका भी तो थोड़े समय ध्यान करो। और आत्माके ध्यानकी तरकीब है कि (१) इस संसारमें सबको समान जानो, (२) किसी चीजका ख्याल न रखो कि घर कैसा है ? मकान कैसा है ? लोग कैसे हैं ? कुटुम्ब कैसा है ? कुछ ख्याल न रखो। शरीर तक पर ध्यान न दो। केवल अपने इस ज्ञानस्वरूप पर ध्यान दो। मेरा कुछ नहीं है, ऐसा सोचकर विश्रामसे बैठ जावो और उस प्रभुकी ऐसी प्रेरणा होगी कि आत्माके दर्शन होंगे। यदि अपने परमात्माके दर्शन हो जायें तो जिन्दगी सफल है ।

कर्म कर्महिताय स्याच्चेदहं स्वहिताय हि ।
हितं नैर्मल्यभावोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४०॥

इस जीवके साथ जो कर्म लगे हैं उन कर्मोंकी ऐसी प्रकृति है कि वे कर्मोंसे दबते जाते हैं। ये कर्म अपना कुटुम्ब बढ़ाया करते हैं। तभी तो देखो जिनमें कषाय जगती है उनके कषाय बढ़ती रहती है। सो ये कर्म कितने लगे हैं ? कर्मोंका काम है कि कर्मोंकीवृद्धि हो। कर्म अपने हितमें लगे हैं, उन्नतिमें लगे हैं। तो हमें भी चाहिए कि अपनी-अपनी उन्नतिमें लगें जब कर्म अपनी आदत नहीं छोड़ते और ये अपनी वृद्धि करनेमें ही संलग्न हैं तो मैं भी अपने हितके लिए हूँ। मेरा हित है अपनेमें निर्मल परिणाम बनाना। निर्मल परिणाम वे कहलाते हैं कि जिनमें विषय और कषायकी बड़ाई न हो। इन्द्रियोंने जो विषय कहा, जिन्होंने जो स्वाद चाहा उनमें ही बह गये तो यह मलिनता है इन्द्रियाँ चाहती हैं कि बहुत सुन्दर भोजन मिले। मगर आत्माकी ओरसे ऐसा भाव होना चाहिए कि ए जिह्वे ! अरे

स्वादके लिए अब तक क्या-क्या किया ? कैसे-कैसे आरम्भ परिग्रह नाज तेरे स्वादके लिए किये, पर तू अब तक तृप्त नहीं हुई । बल्कि ज्यों-ज्यों स्वाद लिया त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ी और स्वास्थ्य भी गया । इसी तरह और इन्द्रियोंको देखो । चक्षुओंसे रूप देखना । कोई रूप ऐसा देख लिया बहुत देर तक, इससे आत्मबुद्धि क्या हुई ? कुछ भी तो कल्याणकी बात नहीं है । इन्द्रियोंके विषय में न बहना और अपनेमें कषाय उत्पन्न न होने देना, यह ही साधुता है, यही निर्मलता है । सो अपना हित निर्मल परिणाममें है । सर्व प्रकारके यत्न करके अपने परिणामोंको निर्मल बनाओ । इस जीवकी इच्छा होती है कि मैं बड़ाईकी बातें सुना करूँ । प्रशंसाकी बातें सुना करूँ, निन्दाकी बातें नहीं सुनना चाहता । पाप और निंदाकी बातें भर पेट सुनेगा, क्योंकि दूसरा कोई बात न बोलेगा । उसका मुख है, उसकी जीभ है, उसका कषाय है । जो उसे बोलना था बोल दिया, चेष्टा कर लिया । मैं कल्पना बनाऊँ और उन बातोंको अपने चित्तमें जमाऊँ तो मुझे क्लेश है । मैं नहीं जमाना चाहता । हो गया, वहाँकी चीज वहाँ रहेगी । ऐसा यत्न करो कि जिससे विषय और कषायकी बातें अन्तरमें न जमें । यही आत्माका हित है । इससे हितकी वृद्धि है । और यह निर्मलता जब आती है तब अपने स्वरूपकी पकड़ हो कि मैं दुनियासे न्यारा केवल ज्ञानान्दस्वरूप एक सारभूत चीज हूं ऐसा उपवोग आ जाय तो इसमें निर्मलता बढ़ सकती है । तो कुछ क्षण अपने इस धर्मको पालना चाहिए और अपने आत्माको अपने ध्यानमें जमाना चाहिए । कर्म अगर अपनी बड़ाईमें लगते हैं तो लगा करें, हमें अपनी बड़ाईमें लगना चाहिए और अपनी बड़ाई निर्मलताके न्यायके विरुद्ध भाव न रखो । उन्माद करके अगर दो पैसे ज्यादा आते हैं तो उन पैसोंकी लानत है । इन सब असार चीजोंका संचय करना चाहें तो यह अज्ञानता है । विश्वासघात बहुत भयंकर पाप है । किसीको कोई विश्वास देकर विश्वासका घात कर दिया, इससे कितने क्लेश होते हैं ? उसको आत्मा ही जानता है । इसलिए अपना आचरण बड़ी सावधानीका होना चहिए । कम बोलो, व्यर्थ न बोलो, प्रयोजन हो तो बोलो । जिण्दगीमें दो ही प्रयोजन हैं—एक तो आजीविकाका और दूसरा व्यवहारका । और बाकी अगर संग बढ़े, अपना प्रचार बनाए, दोस्ती बनाए तो वे सब फालतूकी बातें हैं । सो मैं अपनी निर्मलताको मानता हूं, अपनेसे बढ़कर रागद्वेषको बाहर कर विश्राम पाऊँ और अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ ।

स्वज्ञः शत्रुः कुतो मित्रमज्ञः कस्य सुहृद्रिपुः ।
स्वपरस्थः सहृच्छत्रुः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४१॥

एक मलीनता और विकट हुआ करती है कि अपने मनमें यह धारणा बना लो कि

अमुक मेरा शत्रु है। अरे जगत्के इन जीवोंमें जो कि सभी मेरे स्वरूपके समान हैं और मेरी ही तरह मेरेमें सुधार बिगाड़ नहीं कर सकता। एक जीवका दूसरे जीवमें अत्यन्ताभाव है, कोई वास्ता नहीं है। उनमें यह छंटनी करना कि अमुक मेरा मित्र है और अमुक मेरा शत्रु है, यह बहुत बड़ी मलिनता है। कौन मेरा शत्रु है? कौन मेरा मित्र है? यह विचार करो कि कौन मेरी आत्माको जानता है? यदि आत्माको यथार्थसे कोई जानता है तो वह मेरा शत्रु रह नहीं सकता, क्योंकि यह अज्ञानी बन गया। ज्ञानी जीव किसीका शत्रु नहीं हो सकता। मेरी आत्माको जिसने न जाना तो वह मेरा शत्रु कैसे? मुझे तो जानता ही नहीं है, शरीरको जानता है। और दुश्मनी कोई करता है तो शरीरसे दुश्मनी होगी। अव्वल तो कोई शरीरका दुश्मन नहीं होता। यदि कोई दुश्मनी करता है तो वह अपनेमें दुश्मनीके भाव करता है। खुद दुश्मन बना है, दूसरोंका दुश्मन कोई नहीं बनता है। दुनिया में कोई मेरा मित्र नहीं है। हो ही नहीं सकता। और कोई जीव मेरी परिणतिको बना देगा या बिगाड़ देगा ऐसी किसीमें ताकत है क्या? हम ही अपने भाव खोटे करके बिगड़ गये और अपने भाव ठीक रखें तो सुधर गये। मुझे सुधारने और बिगाड़ने वाला दुनिया में कोई नहीं है। तो फिर मेरा कोई शत्रु मित्र कैसे? जिस विषयका जिसको आप चाहते हैं उसे मित्र मान लेते हैं। जैसे कोई बच्चा सिनेका देखने जाता है और किसी दूसरे बच्चे को भी सिनेमा देखनेकी आदत हो जाय तो वे दोनों एक दूसरेके मित्र हो जाते हैं। कोई किसीका न मित्र है और न शत्रु। यदि मैं अपने आपको आत्माका ज्ञाता होऊँ और अपने आत्माके स्वरूपमें विश्राम पाऊँ तो मैं अपना मित्र बन गया। और मैं अपनेसे चिगकर किसी बाह्यपदार्थमें उपयोग दूँ तो मैं अपना ही शत्रु बन गया। हममें ऐसी कला है कि अपनेमें अपना मित्र बन जाऊँ और अपना ही शत्रु बन जाऊँ। पर दूसरे जीवोंमें ऐसा नहीं है कि मेरा शत्रु हो और कोई मेरा मित्र हो। सो इन कल्पनाको त्यागो कि मेरा कोई शत्रु है और मेरा कोई मित्र है। मैं तो ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ। मेरे ज्ञानमात्र भावको कोई पहिचानेगा तो वह खुद ज्ञानी बन जायगा। अब वह रागद्वेष मोह कैसे कर सकेगा? इस कारण एक निर्णय मनमें रखो कि कोई न मेरा शत्रु है और न मेरा मित्र है। किसीसे मोह मत बढ़ाओ और किसीसे क्रोध मत करो। राग द्वेषको तजकर अपने आपकी ओर झुककर अपनेमें विश्राम लेनेका प्रयत्न करो।

स्वैकत्वस्याप्युपायो मे साम्यं नान्यत्कदापि हि।
साम्यघातः परे बुद्धेः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४२॥

मेरा जो निजी स्वरूप है वह मेरा एकत्व कहलाता है। मेरा निजी स्वरूप है चैतन्य

भाव, ज्ञानानन्द । उस ज्ञानानन्दकी प्राप्तिका उपाय है समताका परिणाम । रागद्वेष करके अपने आत्माके दर्शन कोई नहीं कर सकता है । प्रभुके दर्शन भी कोई नहीं कर सकता है। जब समताका परिणाम आयेगा, किसी पदार्थमें रागद्वेषकी वृत्ति न जायेगी तो समता परिणामके समयमें ही इस प्रभुके दर्शन हो सकते हैं और गृहस्थीका तो मुख्य काम है कि गृहस्थावस्थामें ही पड़े हैं तो कीचड़ जैसी अवस्था है । गृहस्थीमें उपद्रव है तो कितनी कठिनाइयाँ आती हैं ? यह केवल एक गृहस्थी हो जान सकता है । घरमें ५, ६ आदमियोंसे संग है तो कभी न कभी अनबन हो जाती है । कोई किसीसे मेल नहीं खाता है । अपनी-अपनी आदतें जुदा होती हैं । उनको अनेक आपदाएँ होती हैं । वे आपदाएँ ज्ञानसे ही दूर हो सकती हैं । जहाँ यह जाना कि किसका कौन है ? सबकी स्वरूपसत्ता जुदा है, सब अपने आपमें अपना परिणमन करते हैं । जो करते हैं करने दो । उससे मेरेमें कोई हानि लाभ नहीं है । हाँ, मेरे हितके वास्ते शिक्षाकी बात जरूरी है । यदि तुममें थोड़ासा ज्ञान है तो मान जावोगे और यदि कुटेब है तो ज्ञानकी बातोंसे उपेक्षा कर जावोगे । अपने ज्ञान ध्यान और वृत्तिके कामोंको करते जाओ । ज्ञानी गृहस्थीको कभी क्लेश नहीं होता । क्लेश गृहस्थीमें नहीं होते, क्लेश तो अज्ञानसे होते हैं । गृहस्थी में रहते हुए जब अज्ञान बनता है तो कष्ट होगा और अज्ञान नहीं है तो गृहस्थीमें भी सुख है । उसको कोई क्लेश नहीं है, क्लेशकी जड़ तो अज्ञान है । सो वह अज्ञान दूर करो। समता अपनेमें लावो । समताका जो विनाश है वह तो परपदार्थमें रागबुद्धि करनेसे होता है । परको चाह रहे हैं, संचय चाह रहे हैं, अपने विषयकी वांछा कर रहे हैं तो उसमें समता परिणाम नहीं टिक सकता । यह मेरा है, यह इनका है, घरके दो भाई हैं, उन भाइयोंके अपने लड़कोंमें जब यह बुद्धि आ जाती है कि ये मेरे हैं, इनकी खूब संभाल करनी चाहिए और दूसरे भाईके लड़कोंमें यह बुद्धि आये कि ये मेरे नहीं हैं तो यह समताका परिणाम नहीं रहा । वे सब न्यारे हैं । घरमें रहने वाले सभी व्यक्तियोंपर समान बुद्धि रखो । उनमें यह न मानो कि ये मेरे हैं. ये गैर हैं । गृहस्थावस्थामें भी यदि ज्ञान जागृत है तो क्लेश नहीं हो सकते हैं । क्लेश तो अज्ञान से होते हैं और अज्ञान क्या है ? मूलमें तो यही अज्ञान है कि यही चोला मैं हूँ, यह शरीर ही मैं हूँ । सो इसकी खुशामद में रहना अज्ञान है । दूसरोंकी सेवा करनेमें आलस्य करना, स्वयं जाराम करते रहना यह अज्ञान है यही तो मिथ्यात्वकी बात है । इससे बड़ा मिथ्यात्व है कुटुम्ब परिवारका मोह, सो कुटुम्ब परिवार भी अपने क्लेशोंका कारण है और अपनी समतासे, धैर्यसे कुटुम्बके साथ सद्व्यवहार कर लो । अगर मोह अधिक बनाकर अपनेमें विकल्प बनाय तो यह अज्ञान है ।

सबसे अपना समताका परिणाम रखो, अपने ज्ञानसे अपने परिणामोंको सावधान बनाओ और क्लेशोंसे दूर होवो, यही क्लेशोंके दूर करनेका एक उपाय है। इसी बात पर विशेष ध्यान दो।

साम्यं विशुद्धविज्ञानं साम्यं रागविवर्जितम्।
साम्यं स्वास्थ्यं सुखागारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४३॥

समता ही जीवकी सम्पत्ति है। जिस मनुष्यके हृदयमें समता नहीं है बाहरमें चाहे कितने ही आडम्बर हों, वैभव हों फिर भी शांति नहीं हो सकती है। समताकी बड़ी महिमा है। बड़े-बड़े ऋषिगण जिसके सामने झुकते, राजा महाराजा भी झुकते, जिसको देवता भो बड़ी पूज्यताकी दृष्टिसे निरखते थे वह क्या था? समताका पुञ्ज। जो क्रोध करता हो, अभिमानमें ऐंठा रहता हो, मायाचार जिसके वर्त रहा हो, लोभकी कितनी ही प्रबलता हो ऐसा पुरुष क्या किसीके द्वारा आदरके योग्य हो सकता है? समतामें ही पूज्यता और शांति है। वह समता क्या चीज है? तो उसे कई विशेषणोंसे कह सकते हैं। विशुद्ध ज्ञानका नाम समता है, निर्मल ज्ञान इस आत्माका ही ज्ञान है। सो वह जानता रहता है। उस जाननेके साथ रागद्वेष नहीं। केवल जानन बना रहे इसे कहते हैं समता। जिसके राग न उत्पन्न हो उसका नाम है समता अथवा अपने आत्मामें अपने आपको स्थिति हो जाये उसको कहते हैं समता। अभी अपने व्यवहार ही में देख लो, जो जरासी बातोंमें भड़क जाते हैं, रागद्वेष करने लगते हैं, गाली-गलौज देने लगते हैं उनको कितनी मशांति रहती है? समता सबका काम है। गृहस्थ भी जहाँ तक बने वहाँ तक अपनी समता बनावें। धैर्य न खोवे तो जितने गुण आते हैं वे समताके माध्यमसे आते हैं ज्ञान सही रहे तो आनन्द स्वतः प्रकट हो।

ये सब बातें समता पर निर्भर हैं। इसलिए समताका अभ्यास करना बहुत आवश्यक चीज है। सो उस समता परिणामको रखते हुए अपनेमें सुखी होऊँ। समता क्या चीज है? शत्रु और मित्रमें समान प्रेम रखो। शत्रु और मित्रमें समान प्रेम हो इसका नाम समता है शत्रु जिसे समझा है वह भी एक चेतन जीव है और जिसको मित्र समझा है वह भी एक चेतन है। आत्मा अवनेसे बिल्कुल जुदा है। वे अपने परिणामोंसे अपनेमें अपनी चेष्टा करते हैं। उनमें से कोई भी न मेरा शत्रु है और न कोई मित्र है। ऐसा विवेक करके अपनेमें समता परिणाम बनाये रहना यही सबसे बड़ी सम्पदा है। महल मकानों की सम्पदा, बड़ी ऊँची अटारी वाले घर मिल गये तो क्या? एक छोटा घर मिल गया तो क्या? ये सब बाहरी बातें हैं। उन स्थितियोंको पाकर मनमें किसी प्रकारका विकार

न करो, खेद न करो, जो मिल गया सो ठीक है। जैसे मुसाफिर लोग रास्ता चलते जाते है, रास्तेमें कैसा भी वृक्ष मिल गया ठीक है, कैसी भी सड़क मिल गई ठीक है। वह समझता है कि मुझे गुजरकर जाना हो है, इसलिए उसे दुःख नहीं होता है। इसी तरह धन वैभवकी बात है। थोड़ा धन वैभव हो गया तो क्या ? अधिक वैभव मिल गया तो क्या ? काम तो इस जिन्दगी में धैर्यका है। प्रभुके दर्शनकी भक्ति बनी रहे और अपने आत्माके स्वरूपका ध्यान बना रहे जिससे कर्म कटते हैं तो इससे लाभ है। धन वैभवसे क्या लाभ है ? धन वैभव थोड़ा हो तो क्या, बहुत हो तो क्या ? धन वैभव बहुत होने पर लोग इतना ही तो कह देंगे कि यह बड़ा धनी है। वह तो इतना कहकर अलग हो गया और यहाँ तृष्णा लग गई। सो धन कमाने की फिक्रमें रात दिन मर गये और जो लोग कुछ प्रशंसाकी बात कह देते हैं वे भी तो मलिन जीव हैं। वे भी तो संसारमें जन्ममरणके चक्कर लगाने वाले जीव हैं। कोई महंत नहीं है। कोई प्रभु नहीं हैं। वे भी तो इस संसारमें रुलने वाले प्राणी हैं। उनकी बातोंका क्या ख्याल करें ? वे हमारे सहाय तो नहीं हैं। मरने पर हमारी मदद कर देंगे या इस जीवनमें वे मेरे सुख दुःखके साथी हो सकेंगे, ऐसा कोई नहीं है। खुदने जैसे कर्म उपार्जित किये हैं, उनके अनुसार मुझे सुख-दुःख मिलेगा। हम ही हमारे सुख-दुःखके जिम्मेदार हैं। जितना समतासे हटते हैं उतना ही तो कर्म बाँधते हैं और जितनी अपनेमें समता बनाये रहते है उतना ही कर्म कटते हैं। यह समता जब पैदा हो तब अन्तरमें किसी वस्तुके प्रति मोह न जगे। घरमें रहते रहें, पर सच्ची बात जान लेनेमें कौनसी आफत है ? मैं सबसे न्यारा हूं कि नहीं ? सब जुदे हैं कि नहीं ? सबके कर्म न्यारे हैं कि नहीं। उनसे कुछ सम्बन्ध तो नहीं है। सच-सच बातें जानते रहो बस यही धर्मका पालन है। आप स्तवन करें, मजीरा बजायें, बड़े ऊँचे स्वरसे गावें तो यह धर्म नहीं हुआ। धर्म तो मोह न हो तो होगा और चीजोंसे धर्म न होगा। इसलिए ऐसा ध्यान बनाओ और अपने प्रभुसे यह माँगो कि मेरेमें मोह न जगे। सत्य ज्ञान बना रहे। सम्यग्ज्ञानसे ही इस जीवकी सफलता है।

मुनीन्द्रैरपि पूज्य तत्साम्यं सर्वोत्तमं पदम्।
साम्यं स्वस्य स्वयं स्यां स्वस्मै स्वे सुखं स्वयम् ॥६-४४॥

यह समता बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा पूज्य है। पूजा किसकी होती है ? किसीकी शक्ल सूरतको पूजा नहीं है। पूजा तो गुणोंकी होती है। जो अपनेमें गुण रुच गये इससे पूजा होती है। तो अपने ही गुणोंकी पूजा है। इसलिए भगवानकी पूजा करते हो तो वह भगवानकी पूजा नहीं है। वह आपके अपने गुणोंकी पूजा है। सो जो कोई पूजता है वह अपने

ही गुणोंको पूजता है। समताका ही एक महान् गुण है। यह समता बड़े-बड़े मुनिराजोंके द्वारा पूज्य है। सबसे उत्कृष्ट यह है। यह समता क्या चीज है ? अपना ही स्वरूप है। यह जीव शांतिका समुद्र है। इसमें दुःख और अशांति स्वभावसे नहीं है। पर अपने स्वरूपको भूलकर बाहरसे सुखकी आशा लगाये हैं, इसलिए सब आनन्द खत्म हो गया है और भिखारी बनकर जगह-जगह भागता फिरता है। अपना स्वरूप संभाल लो तो सब कुछ चीजें न्यारी हैं।

प्रभुकी मुद्रा निरखकर यही अपना भाव आता है कि हे प्रभु ! तुमने संसारको असार जाना था और सबसे वैराग्य लेकर अपने आपमें अपनेको पूजा था। जिसके फलमें आप सर्वज्ञाता हैं, अनन्तानन्दनिधान हैं। ऐसी ही शक्ति प्रभु मुझमें है, क्योंकि द्रव्यसे आत्मा वही एक है। मैं भी वैसा हो सकूं, ऐसी भावना प्रभुके दर्शन करके मानी जानी चाहिये, समताका आदर करना चाहिए, तिलमिला नहीं उठना चाहिये। जरासी विपदा आती है या किसीको कोई दुर्वचन बोला जाता है तो तिलमिला नहीं उठना चाहिए, क्षमा करना चाहिए। आपका बड़प्पन इसीमें है कि दूसरा कोई अपराधकी चेष्टा बनाये तो उसे क्षमा करदो। इससे बहुत उत्थान होता है। तो यह समता बड़े-बड़े मुनिराजोंके द्वारा पूज्य है। वह समता अपना ही स्वरूप है। सो यह मैं अपनेमें ही वर्तता हुआ सुखी होऊँ।

मानापमानयो साम्यं कीर्त्यकीर्त्योः सुखासुखे।
व्यग्रता पश्यतो न स्यात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४५॥

मान हो, चाहे अपमान हो, उसमें व्यग्रता न होनी चाहिये। ज्ञानानन्द निधानस्वरूप को देखकर अपने ही अनुपम स्वरूपमें संतोषको पाकर मान और अपमानकी व्यग्रता न करनी चाहिये। किसीने सन्मान दिया तो उससे तिर तो नहीं जावोगे, तिरना अपने ज्ञान से होगा। किसीने दुर्वचन बोल दिया तो तुम बिगड़ तो नहीं गये और दूसरोंकी दृष्टिमें तुम खोटे हो तो उसकी ही तो दृष्टि खोटी है, तुम तो ज्योंके त्यों ज्ञानानन्दस्वरूप हो। सो अपमानका भी क्षोभ न करो। कोई प्रशंसा करे, कोई निन्दा करे उसमें भी क्षोभ न हो। सुख और दुःख आएँ उसमें भी व्यग्रता न होनी चाहिए। धन्य है वह गृहस्थी, वह पुरुष जो विपदाओंका भी स्वागत करता है। दुःख आते हैं तो आएँ, दुःखमें मेरा ज्ञान न बिगड़े तो कुछ परवाह नहीं। जितने संकट आ सकते हों आएँ। ज्ञान अगर बिगड़ता है तो वह सम्पदासे बिगड़ता है वह सम्पदा अपने कामकी नहीं है, वह सम्पदा बेकार है। अपने आपकी पवित्रता बनी रहे ऐसा अपना ज्ञान जमाना चाहिये। सो सुख और दुःखमें व्यग्रता न हो ऐसा उपाय करो। वह उपाय यह है कि सबसे न्यारा केवल एक ज्ञानानन्दमय

अपने आपको देखो, इसमें हीं संतोष रहे । मैंने अपना स्वरूप पाया तो सब कुछ पा लिया। ये बातें आत्मज्ञानकी हैं जब तक अपने आत्माके स्वरूपका भान नहीं होता है तब तक अपने धर्मका कुछ भी पालन नहीं हो सकता और आत्माका ज्ञान होना बहुत सरल है, जो चाहो सो कर सकते हो । केवल इतना ही तो करना है कि जगत्के सब पदार्थोंको भिन्न और अहित जानकर उनका विकल्प छोड़ना है और स्वयं शांत होकर निर्विकल्प बैठना है । अपने आपसे अपना ज्ञान प्रकट हो जायेगा । सो आत्माका ज्ञान करो और साथ ही साथ सद्व्यवहार करो । अपना ऐसा व्यवहार हो कि किसी जीवको क्लेश न उत्पन्न हो । कितनी ही विपदा आए पर झूठ न बोलो । किसीकी गवाही न दो । किसीको फँसानेका जाल न बनाओ । परिग्रहके संचयमें अपनी बुद्धि न फंसावो । परिग्रह तो गुजारेके लिए आवश्यक है ऐसा नहीं है । गुजारा तो होता है । परिग्रहकी धुन न बनाओ । अपनी धुन तो सदाचारकी बनाओ । मेरा आचरण अच्छा रहे, पवित्र रहे, ऐसा यत्न करो तो उसमें शांति मिलेगी, परिग्रह से शांति कहाँ मिलती है ? वे तो जड़ पदार्थ हैं, लौकिक वैभव हैं, उनसे आत्मामें निराकुलता नहीं होती । अपने ज्ञान का आदर करो । अपनेको पवित्र रखो और दूसरे जीवोंका सम्मान करो । अपनेको चाहे दुःख हो जाये, पर दूसरोंको दुःखी न होने दो । ऐसा यत्न करो तो यह व्यवहार सुखका कारण हो सकता है ।

शंसा निंदा विपत्संपत्स्वाकुलतैव केवलम् ।
नैर्द्वन्द्वच ज्ञानमात्रेऽस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४६॥

इस जगतमें जहाँ देखो वहाँ आकुलताएँ हीं आकुलताएँ नजर आ रही हैं । घरमें रहने वाले लोग हैं वे समझते हैं कि मुझे बड़ी परेशानी है, जो कुटुम्बसे भरपूर हैं वे समझते हैं कि हमें बड़ी परेशानी है, जो गरीब हैं वे अपनेमें बेचैनी मानते हैं, जो धनी हैं वे अपनेको बेचैन मानते हैं । तो फिर यह बतलाओ कि इस जगत्में सुखी कौन है ? किसी आदमीका नाम तो बतलावो कि अमुक सुखी है । आप मिनिस्टर देखें चाहे राजा देखें ये सब दुःखी हैं, क्योंकि वे सब जीव हैं उनके साथ कर्म लगे हैं । कर्मोका उदय है । सब दुःखी हो रहे हैं । कौनसी बातसे सुखी हैं तो बताओ । धन से भी तो सुख नहीं है । प्रशंसा निंदासे भी सुख नहीं, सुख तो अपने भीतर बसे हुए शुद्ध ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि देनेसे ही हो सकता है । बाहर देखो तो सुख नही मिलेगा । बाहरसे आँखें मींचो और अपने अन्दर ही कुछ पता पड़े तो सुख मिलेगा । बाहरमें सुख नहीं है । यह सारी दुनिया बाहर-बाहर ही में है । इसलिए सुख नही नजर आ रहा है । अपने निज अन्तर ज्ञान का पता पड़े तो मैं सुखी बना बनाया हूं । कोई

सुख हमको बनाना नहीं है। सुख मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मालूम हो तो मोह हटे तो इस जीवको सुख हो सकता है।

अभी चाहे आरामसे भी हों, पर परस्परमें कलह चलता है, विवाद चलता है। उस का कारण क्या है कि कषाय अन्दर है और कषायके वश है सो जैसा कषाय आ गया तैसा कर लिया। जहाँ प्रशंसा है तो वहाँ आकुलता है जहाँ निंदा है तो वहाँ आकुलता है। गरीब हो तो वहाँ आकुलता है और सम्पत्ति आ जाय तो वहाँ आकुलता बाहरी पदार्थोंमें अपनी दृष्टि देनेसे सुख नहीं हो सकता है। सुख मिलेगा तो अपने अन्तरसे ही मिलेगा। मेरा स्वरूप तो निर्द्वन्द्वता है। इसमें कोई दूसरी खटपट नहीं लगी है। शरीरके भीतर जो आत्मतत्त्व है, जिसके निकल जानेसे लोग कहते हैं कि यह मर गया। और लोग मृत शरीरको जला देते हैं। ऐसी जो चीज है वही तो मैं हूँ, मैं शरीर नहीं और बाहरी चीज नहीं। इस शरीरके अन्दर जो चेतना है जिसके निकल जानेसे लोग शरीर को मृत कहने लगते हैं, वह चेतना मैं हूं। वह मैं चेतना सुखी हूँ, निर्द्वन्द्व हूँ, ज्ञानमात्र हूं, जो भीतर में एक उजेला है, बसवही मैं हूं। इससे आगे अपनेको और कुछ माना तो दुःख ही है। मैंने शरीरको माना कि यह मैं तो फिर दूसरोंको माना कि ये मेरे शत्रु हैं और ये मेरे मित्र हैं, ये मेरे भाई हैं। इससे ही दुःख है, नहीं तो दुःखका कोई काम नहीं है। यह यह ब्रह्म सुखस्वरूप है "आनन्दम् ब्रह्मरूपम्" यह खुद सुखस्वरूप है, इसका किसीमें रंच भी सम्बन्ध नहीं। बाहरको अपना मानते हैं, इसलिए क्लेश होते हैं। बाहरसे दृष्टि हटाओ और अपनी ओर आओ तो इसमें सुख प्राप्त हो सकता है।

अन्नयवृन्ते र्न मे बाधा स्वस्य विकल्पतः।
प्रज्ञायाऽनाश्रयीकृत्य स्यां स्यस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४७॥

एक तो यह निर्णय कर लो कि हमें जो दुःख पैदा होता है वह क्यों होता है और किस तरह होता है? लोग यह समझते हैं कि अमुकने इस तरहका कार्य किया, इसलिए दुःख हुआ। अनेक प्रकारकी बातें मानते हैं। पर दुःख किसी दूसरेसे कुछ करनेसे नहीं होता दुःख होता है अपने विकल्पोंसे। बड़े-बड़े महाराजा अपना राज-पाट छोड़ कर बनमें चले जाते हैं और बड़े सुखसे वहाँ रहते हैं। जहाँ खाने पीनेका ठिकाना नहीं, अन्नकी सुविधाएँ नहीं, फिर भी वे अपने आनन्दसे मस्त रहते हैं, क्योंकि आनन्द किसी चीजसे नहीं मिलता है। आनन्द तो अपनेमें मिलता है। दुःख तो बाह्यपदार्थोंको प्रवृत्तिसे होता है। अपना आचरण खराब रखनेमें दुःख होता है। दुःख देने वाला दुनियामें कोई दूसरा नहीं है। अभी किसीके प्रति बुरा ख्याल हो जाये तो उसकी जितनी चेष्टाएँ हैं उसे बुरी लगती

हैं। जिससे लड़ाई हो वह अगर दूर खड़ा हो तो उसका खड़ा होना भी बुरा लगता है। उसका कोई मानो काम हो, उसे लगेगा कि यह मेरा बुरा करनेके लिए कर रहा है। दूसरा बुरा नहीं करता है। अपना ख्याल बुरा बना लिया इसलिए बुराई आ गयी। अपना हृदय स्वच्छ हो तो भगवान् प्रसन्न होगा और यदि हृदय मलिन है तो भगवान् दर्शन नहीं दे सकता है। यह मनुष्यजीवन बहुत दुर्लभ जीवन है। ऐसे दुर्लभ नरजीवको पाकर यदि अपना जीवन तक न बनाया तो भला बताओ कि कौनसी ऐसी गति मिलेगी जिससे अपना सुधार कर लोगे ? इस मनुष्यभवको पाकर अपने कल्याणके अतिरिक्त और बातें न सोचो। ऐसी बातें तो पशु पक्षियोंमें भी मिलती हैं। स्त्री पशु पक्षियोंमें भी होती हैं, बच्चे होते हैं। मनुष्य खाते हैं तो पशु पक्षी भी खाते हैं। अगर खानेपीनेके लिए जिंदगी समझो तो मनुष्य-जीवनमें और पशु पक्षियोंके जीवनमें क्या अन्तर रहा ? अंतर तो ज्ञान और धर्मका ही है। यदि ज्ञान और धर्म न किया तो मनुष्यजीवन बेकार है। कोई तत्व नहीं निकला। सो ऐसा निर्णय रखो कि चाहे तुम्हारा कोई बिगाड़ कर दे, पर तुम उसको बाधा न पहुंचाओ। बाधा तो तब आयेगी जब ख्याल बुरा बनेगा। हमारा ज्ञान सही है, हमारा ज्ञान ढंगका है तो कोई कुछ करे उससे बाधा नहीं आ सकती है। भला बताओ कोई ऋषि संत जंगलके अन्दर बैठा है और कोई शेर आदि खा ले या कोई शत्रु आकर उसपर उपसर्ग करे तो उस साधुका ख्याल जरा भी खराब नहीं है। प्रभुमें लो लगाये है, आत्मस्वरूपमें ही दृष्टि गडाये है तो उसको रंच भी बाधा नहीं है। देखने वाले जरूर जानेंगे कि उस साधुको बड़ा कष्ट हो रहा है, पर वहाँ उसे रंच भी कष्ट नहीं है। क्योंकि अपना उपयोग, अपना ज्ञान अपने प्रभु में लगा रहा है। ज्ञानरसका पान कर रहा है। इससे यही निर्णय रखो कि हमको दूसरोंसे तकलीफ नहीं होती है। यह विचार रहेगा तो जिंदगीमें आराम मिलेगा। नहीं तो दसों बहाने ऐसे मिलेंगे जिससे क्लेश होते रहेंगे। हमको दूसरे यों सुनाते हैं, कोई मेरी परवाह नहीं करता है, दसों ख्याल करने लगते हैं और अगर यह ख्याल बनाते हैं कि मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है मैं तो प्रभुकी तरह शुद्धज्ञान और आनन्दका पुञ्ज हूँ। मैं बिगड़ता हूँ तो अपने आपसे ही कल्पनाएँ करके दुःखी हो जाता हूं। मुझे दुःखी करने वाला दूसरा कोई नहीं है। मैं यहाँ बैठा हूं और शहरमें कोई दुकान है उसमें चाहे हजारोंका फायदा हो गया हो और वातावरण ऐसा सुननेमें आया कि दुकानदारोंमें हजारोंका नुक्सान हो गया, चाहे वहाँ लाभ ही हुआ हो, पर ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते हैं। सो मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं हैं मैं ही अपना ख्याल बनाता और दुःखी होता हूं। और चाहे दुकानमें टोटा ही पड़ गया हो, पर यह सुन लिया कि दुकानमें लाभ हुआ, लो सारा दुःख मिट गया। और